वेणीमाधव सदाशिवशास्त्री

हाकवि भारवि कृत-

किरातार्जुनीय

भार्गव

म० प्र०

'सुबोधिनी'

संस्कृत भाषा

छात्रों के लिये जो

द्वितीय:

—दामोदर प्रसाद शर्मा

क—म० प्र० विधान-सभा

कुछ सम्मतियाँ

' " महाकाव्यमिद नारिकेलापम नाति सुगम न वा सुव
मपि कृते, ए[illegible] कृते तु किमुवक्तव्य नाम । व्याख्या पद्या [illegible]
न्ती छा कृते नितान्तमुपयोगिनी च विद्यते ।
ये च नितान्त मननीयति प्रमाणी

—बलदेव उपा[illegible]

 [illegible] पू० निदेशक, वाराणसेय मस्कृत विश्वविद्यालय

□

'लगा[illegible] ल व्याख्या की यह वि
[illegible] पष्ट है । छात्र एव अध्या[illegible]
पसन्द करेंगे ।'

—(डॉ०) शिवशरण शर्मा
संस्कृत विभागाध्यक्ष
शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, ग्वालियर म० प्र०

□ □

"इस टीका के माध्यम से छात्रवर्ग अध्ययन कर व्युत्पन्न होगा
मुझे दृढ विश्वास है । सस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर
आकृष्ट करने हेतु इसी प्रकार सस्कृत काव्यों की वैदूष्यपूर्ण
अधिकाधिक प्रकाशित होना राष्ट्र हित म है । सस्कृत और
टीकाएँ सुबोध सरल एव विशद हैं । काव्य मर्म प्रकाशन
है । यह टीका देखकर मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ । इसके
शुभ कामना करता हूँ ।

—राजाराम शास्त्री गाडगील
(महामहोपाध्याय)
गा० म० महाविद्यालय ग्वालियर ।

'.........यह व्याख्या अत्यन्त विशद एवं अति सरल सुबोध एवं सुस्पष्ट भाषा में लिखी गई है। काव्य मर्म प्रकाशनार्थ लिखी गई टिप्पणियाँ महत्वपूर्ण हैं। इससे टीका की श्रीवृद्धि हुई है।

जन साधारण को भी महाकवि भारवि के इस महाकाव्य का रसास्वादन कर सकने हेतु इससे निःसंशय मार्ग प्रशस्त हुआ है। ....आशा करता हूँ कि लोक हित के लिये श्री शास्त्री जी इसी तरह लिखते रहेंगे।'

—राजाराम आचार्य

प्राचार्य, शा० सं० महाविद्यालय, ग्वालियर।

□ □ □

'.........सुबोधिनी टीका यथार्थ नामा है। काव्यानन्द जिज्ञासु एवं काव्याध्ययनार्थी तथा परीक्षार्थी सभी के लिये यह टीका उपादेय है। अध्यापकों के लिये भी इसे 'रेडी रिफ्रेन्स' है। ....टीकाकार ने अर्थानुसन्धानार्थ छात्रों को प्रेरित करने हेतु ससन्दर्भ प्रचुर उद्धरण संकलित किये हैं। टीकाकार का यह मौलिक एवं अभिनव प्रयास स्तुत्य है।'

के० डी० भार्गव

संस्कृत निरीक्षक, ग्वा० सम्भाग, म० प्र०

□ □ □

'.........किरातार्जुनीयम् की अन्यान्य टीकाएँ देखीं किन्तु 'सुबोधिनी' टीका जैसी सुबोधता एवं विशदता अन्यत्र नहीं है। संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व प्राप्त करने की कामना से काव्याध्ययनार्थी के लिये जो जो चाहिये वह सब इस टीका में उपलब्ध है।'

—दामोदर प्रसाद शर्मा

विधायक—म० प्र० विधान-सभा

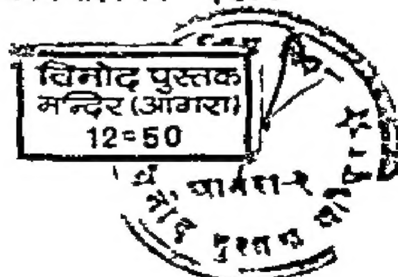
प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२

विक्री केन्द्र हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम संस्करण १९७७



समर्पणम्



लोकमाता, श्रीमन्त विजयाराजे सिंधिया

के

कर कमलों

में

सादर समर्पित

वेणीमाधव सदाशिवशास्त्री मुसलगांवकर

प्रस्तावना

महाकवि भारवि की राजनीति परिप्लुत एवं अर्थ-गाम्भीर्य समन्वित वाणी के माध्यम से बी० ए० के छात्रों की व्युत्पन्नता में वृद्धि की अपेक्षा से उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा अन्यान्य प्रादेशिक विश्वविद्यालयों ने पाठ्यक्रम में किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के अंश (सर्ग) को स्थान दिया है।

हमारी प्रथम सर्ग की सुबोधिनी संस्कृत हिन्दी व्याख्या सन् १९६९ में विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ने प्रकाशित की थी जिसकी विद्वान् अध्यापकों एवं छात्रों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर द्वितीय सर्ग की वैसी ही सुबोधिनी व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए हमें प्रेरित किया है।

उक्त प्रथम सर्ग की व्याख्या इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि अल्पकाल में ही उसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

उसी प्रकार इस द्वितीय सर्ग की टीका छात्र हितार्थ हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

बाजार में प्रथम एवं द्वितीय सर्ग के अनेक सस्ते संस्करण उपलब्ध हैं किन्तु उनसे जिज्ञासु छात्र वर्ग सन्तुष्ट नहीं है, संस्कृत साहित्य सरिता में स्वच्छन्द अवगाहन करने की क्षमता, तथा काव्यानन्द प्राप्त करने हेतु दृढ़ व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए सुबोधिनी टीका हम प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें—हिन्दी तथा संस्कृत में—पद्य—सन्दर्भ, मूल महाकाव्य का संहिता पाठ (यत्र-तत्र पाठ भेद सहित) दण्डान्वय, शब्दार्थ (हिन्दी) अविकल हिन्दी अनुवाद, महामहोपाध्याय ।ल्लिनाथ सूरि विरचित घण्टापथ नामक संस्कृत टीका, संस्कृत में सरल विस्तृत ।र्थ, समास-विग्रह, वाच्यपरिवर्तन, शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण, कोश, संक्षिप्त 'स्कृत भावार्थ, छन्द, अलङ्कार, आवश्यक टिप्पणी, और अन्त में महाकवि ।रवि प्रयुक्त शब्द रत्नों का संस्कृत साहित्य में कहाँ-कहाँ किसने किस अर्थ में योग किया है यह अनेक सन्दर्भ सहित उद्धरण देकर स्पष्ट करने का अभिनव

प्रयास किया है। जिससे शब्द प्रयोग सौष्ठव और उसके आधार पर अर्थानुसन्धान करने की प्रवृत्ति छात्र-वर्ग में स्वत वृद्धिगत होगी, तथा अनेक आवश्यक परिशिष्ट जोड़े हैं जिनमें—छन्द लक्षण, अलकार लक्षण द्वितीय सर्ग मे व्यवहृत अलङ्कारों के नाम और सख्या तथा प्रयुक्त स्थलो का श्लोकानुक्रम प्रदर्शनपूर्वक निर्देश, किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के पात्रों का परिचय, द्वितीय सर्ग कथासार द्वितीय सर्गस्थ सूक्तियों का एकत्र सङ्कलन तथा उनका स्थल निर्देश, द्वितीय सर्गस्थ श्लोकों की अकारादिवर्णानुक्रमणिका और पिछले वर्षों म परीक्षा म पूछे गये श्लोक वर्ष (सन्) निर्देश युक्त, तथा सूक्तियां एव आलोचनात्मक परीक्षोपयोगी प्रश्न, महाकाव्य किरातार्जुनीयम के नाम की व्युत्पत्ति, यथा सामान्य ज्ञानार्थ यत्र-तत्र पाद टिप्पणियां देकर छात्र वर्ग को अधिकाधिक स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया है। आलोचनात्मक अध्ययन हेतु विस्तृत भूमिका प्रारम्भ मे ही दी है।

इस प्रकार प्रथम सर्ग की तरह इस द्वितीय सर्ग को भी अधिकाधिक सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

इस प्रयास म भी यथापूर्व एव यथास्थान नि सकोच ऋणिऋण स्वीकार किया है। इस ऋण के लिए लेखक कृतज्ञता ज्ञापन पूर्वक नत-मस्तक है। इस व्याख्या की समस्त उत्तमता का श्रेय गुरु चरणों को है। इसमें जो त्रुटि एव न्यूनता है वही लेखक का बुद्धिमान्द्य है। इस व्याख्या को सर्वाङ्ग परिपूर्ण करने के लिय समय-समय पर गुरुवर आचार्य प० बलदेव उपाध्याय काशी एव गुरु कल्पसुहृदयवर डॉ० पारसनाथ जी द्विवेदी (आगरा कालेज) गुरुवर (डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल (आर्० बी० एस कॉलेज, आगरा) प्रो० नारायणशास्त्री चिरपुटकर (डेक्कन कॉलेज, पूना) प० बाबूशास्त्री देव (धार, म० प्र०) बन्धुवर पण्डित प्रवर श्री रामनारायण शास्त्री शुक्ल, आगरा आदि विद्वानो ने दिये हुए सुझावों को इसमें क्रियान्वित किया है। व्याख्या म छात्रों के लिये सुबोधता अक्षुण्ण रखने हेतु प्राय. सन्धि तोड़कर ही लिखने का प्रयास किया गया है। वाक्यान्तर्गत सन्धि करना अनिवार्य नहीं है (यत. वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।') फिर भी सन्धि करके लिखना अच्छा समझा जाता है। सन्धि युक्त पदो को समझने का अभ्यास छात्रों से अपेक्षित है अत कहीं-कहीं सन्धि सहित भी लिखा है।

सर्वाङ्ग सुन्दर मुद्रण के लिये समस्त विनोद पुस्तक मन्दिर का कर्मचारी परिवार विशेषतः श्री भोलानाथ जी ही श्रेयोभागी हैं।

सहृदय पाठक बहुजनछात्र हिताय जो उचित सुझाव भेजेंगे उसको अग्रिम संस्करण में क्रियान्वित करने हेतु सादर स्वीकार किया जावेगा।

बहु प्रयासोत्तर भी यत्र-तत्र मुद्रण दोष रह जाने का खेद है, संस्कृत मुद्रण की कठिनाई इसमें कारण है, अगले संस्करण में अशुद्धि संशोधन करने का प्रयास करेंगे। इति।

अक्षयतृतीया, २०३४ वि०
श्री सत्यनारायण मन्दिर,
म० म० मुसलगांवकर मार्ग,
आगरा-३ (उ० प्र०)

वेणीमाधव सदाशिवशास्त्री मुसलगांवकर

भूमिका

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद् विभज्यताम् ।
स्वादयन्तु रस-गर्भ निर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

वैदिक संस्कृत साहित्य और लौकिक संस्कृत साहित्य के रूप में संस्कृत साहित्य द्विधा विभक्त है। लौकिक संस्कृत साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है। लौकिक संस्कृत साहित्य बहुविध है। लौकिक संस्कृत साहित्य की अनेक विधाओं में काव्य एक अत्यन्त मनोरम विधा है। संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत काव्य विधा पुनः दो प्रकार की है—(१) आर्ष काव्य और (२) विदग्ध काव्य।

महाकवि भारवि की अमर कलाकृति किरातार्जुनीयम्[1] विदग्ध महाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित होती है। काव्य के क्षेत्र में आर्ष महाकाव्यों का अग्रस्थान है।

काल क्रमानुसार पाणिनी, वररुचि, कालिदास, अश्वघोष, आदि के काव्यों ने उत्तरोत्तर संस्कृत कविता कामिनी को प्रौढ़ता प्रदान की है और महाकवि भारवि ने संस्कृत कविता कामिनी के विलासों में विदग्धता प्रदान की है।

महाकवि भारवि की चिरकीर्ति उपार्जित करने वाली एक मात्र कृति

---

१. '[illegible] पर्यन्त भूमिम् अतति गच्छति इति किरातः'। एक पतित पर्वतीय जाति जो शिकार करके अपनी जीविका चलाती है।
शिकारी के अर्थ में प्रयुक्त किरात शब्द का प्रयोग एक सुभाषित में देखिये—"वैय्याकरण किराला दपशब्दमृगाः कव्यान्नु सन्त्रस्ता।
'यदि नट-गणक-चिकित्सक-वैतालिक-वदन-कन्दरा न स्युः॥' 'भेदाः किरात शबर पुलिन्दाम्लेच्छ जातयः'—इत्यमरः।

अष्टादश सर्गात्मक महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्'¹ विदग्ध महाकाव्यों की बृहत्त्रयी मे परिगणित है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार 'काव्य लोकोत्तरवर्णनानिपुण कवि कर्म' " है। कवि द्वारा सम्पन्न कार्य 'काव्य' कहलाता है।² इसी अर्थ को और अधिक परिपुष्ट करते हुए अभिनव गुप्ताचार्य ने 'कवनीयकाव्यम्' लिखा है। काव्य का स्वरूप लक्षण और अधिक स्पष्ट करते हुए मम्मट ने कहा है कि—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि।'—काव्य प्र १।१ सूत्र शब्द तथा अर्थ दोनो की समष्टि को 'काव्य' सज्ञा कहते हैं।

अकेला शब्द अथवा अकेला अर्थ इनमे से कोई भी काव्य नही है। आचार्य विश्वनाथ तो 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' कहते हैं। इस प्रकार काव्य के अर्थ की व्याप्ति मे सकोच और विकास होता रहा है।

महाकाव्य के लक्षणो की भी चर्चा सस्कृत साहित्यशास्त्रीय सर्वमान्य ग्रन्थो मे बहुचर्चित है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, भामह कृत काव्यालङ्कार, दण्डी के काव्यादर्श आचार्य विश्वनाथकृत साहित्य दर्पण, भोजकृत सरस्वती कण्ठाभरण, ईशान, महिता आदि सभी ग्रन्थो मे महाकाव्य के लक्षणो की चर्चा उपलब्ध है। चौदहवी शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण मे जो महाकाव्य के लक्षण कहे हैं वे प्राय पूर्ण हैं। इन लक्षणो को देते समय आचार्य विश्वनाथ के समक्ष अनेक महाकाव्य थे, जिनके आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणो का चयन किया है। इस कारण आ-

---

१. 'किरातार्जुनीयम्'—किरातश्च अर्जुनश्च इति किरातार्जुनौ (द्वन्द्व) तौ अधिकृत्य कृत काव्यम् इति किरातार्जुनीयम्। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इत्यधिकारे 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छ' इति 'छ' प्रत्यय। किरातार्जुन+छ=किरातार्जुनीय। तत्। एव राघवपाण्डवीयम्। उक्त सूत्रेण शिशुक्रन्दीयः यमसभीय, इन्द्रजननीयमिति च भवितुमर्हति।

२ 'कवेरिद कार्य भावो वा (ष्यञ्)।—मेदिनीकोश।

विश्वनाथ कृत महाकाव्य का लक्षण व्यापक है। आ. विश्वनाथ कृत महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है[1]—

महाकाव्य के आरम्भ में मंगल होना चाहिये। आन्तरिक विभाग **सर्ग** के नाम से होना चाहिए। प्रायः एक ही वृत्त होना चाहिये। सर्गान्त में **छन्द** (वृत्त) भेद होना चाहिये। प्रति सर्ग में **श्लोक संख्या** ३० से न्यून और २०० से अधिक नहीं होना चाहिये, (किन्तु सुप्रसिद्ध भट्टीकाव्य में अन्तिम सर्ग २७ श्लोकों का ही है और नैषधीय चरितम् में कुछ सर्ग २०० श्लोकों से अधिक के भी हैं) सर्गान्त में आगामी सर्ग की सूचना होनी चाहिये। **कुल मिलाकर**

---

१. सर्ग बन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्दशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः॥
एक वंश भवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीर शान्तानामे कोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेऽपिरसाः सर्वे नाटक सन्धयः।
इतिहासोद् भवं वृत्तमन्यद्वासज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गास्युस्तेष्वेक च फलं भवेत्।
आदौनमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा॥
क्वीचन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण-कीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः॥
नातिस्वल्पानाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः॥
रण प्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥"
'अष्टसगर्यान्नतु न्यूनं त्रिशत्सर्गाच्च नाधिकम्।' ईशान संहिता।
'महा सत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान् अविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारोधीदात्तो दृढवृतः॥—दशरूपके—२

सर्ग सख्या ८ से कम और ३० से अधिक नही होनी चाहिये (किन्तु महाकवि रत्नाकर कृत हरविजय महाकाव्य मे ५० सर्ग हैं) सूर्य-चन्द्र प्रात काल, मध्याह्न, उभय सन्ध्याकाल, दिन, रात, अन्धकार, प्रदोप, मृगया, नदी, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, समरप्रसङ्ग, सेना, विवाह, प्रणय क्रीडा, दोहद पुत्र जन्म, मन्त्र नगर, भूमि, स्वर्ग, उपवन, आदि का वर्णन होना चाहिये। कथानक ऐतिहासिक और लोक प्रसिद्ध हो। कथा का प्रवाह पञ्चसन्धियुक्त हो, कथा सुसम्बद्ध तथा ओघवती हो। शृङ्गार, वीर, करुण इन रसो म से एक रस प्रमुख हो, शृङ्गार मे उसके दोनो (विप्रलम्भ और सयोग) भेदो का समुचित वर्णन हो, काव्य का नाम प्रमुख घटना के आधार पर हो, नायक धीरोत्तादिगुण समन्वित हो। बीच-बीच म दुर्जन निन्दा और सज्जन प्रशसा हो। चतुर्विध पुरुषार्थों मे से कोई वर्ण्य विषय हो, धर्म की, सत्य की, जय तथा अधर्म, असत्य का पराभव ही काव्य का अन्तिम (सर्वोच्च) लक्ष्य हो। इत्यादि महाकाव्य के लक्षण सामान्य हैं।

प्राय ये लक्षण आर्ष और विदग्ध महाकाव्यों मे समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

आर्ष और विदग्ध काव्यो मे अन्तर स्पष्ट करने मे ये लक्षण उपयोगी नही हैं। इनका अन्तर निम्न प्रमुख तथ्यो पर आधारित होता है—

आर्ष महाकाव्य स्वावलम्वी तथा स्वय स्फूर्त होता है किन्तु विदग्ध महाकाव्य परावलम्वी तथा अस्वय स्फूर्त होता है। आदि कवि वाल्मीक का रामायण आर्ष महाकाव्य है।

आर्ष का अर्थ ऋषि प्रणीत है।

समाज की प्रारम्भिक सहजावस्था म आर्ष महाकाव्य का निर्माण होता है उनमे स्वय स्फूर्तता होती है। उनकी कथा परोपजीवी नही होती, उनका कथानक लोक जीवन से सम्बद्ध और प्रामाणिक होता है। आर्ष काव्यो मे विशिष्ट जाति का इतिहास होता है। उनमे गेयता होती है। उनम प्रक्षेप की निरन्तर सम्भावना होती है। ये आकार मे वृहत् होते हैं।

किन्तु विदग्ध काव्य इनके विपरीत होते हैं जैसे—विदग्ध काव्यो के वर्ण्य विषय आर्ष महाकाव्यो पर आश्रित रहते हैं। इनकी रचना स्वय स्फूर्त न होकर कृत्रिम होती है। राजशेखर ने भी अपनी काव्य मीमासा मे इसका समर्थन किया है। विदग्ध महाकाव्यो की वर्णन सामग्री कलात्मक, कथात्मक तथा

ऐतिहासिक रूप में श्रुति स्मृति पुराण दर्शन, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, लोक जीवन, आदि से सङ्कलित होती है। संक्षेपतः, विदग्ध काव्य परोपजीवी होते हैं। बहुधा सम्पूर्ण विदग्ध महाकाव्य वाङ्मय रामायण महाभारत अथवा श्रीमद्भागवतोपजीवी हैं। इनका प्रेरणास्रोत मूलतः आर्षकाव्य होने पर भी इनका बीज अत्यन्त प्राचीन है। काव्यालोचकों का मत है कि विदग्ध महाकाव्यों मे वर्ण्य विषयों के कथा सूत्र बीज रूप से वैदिक सूक्त, राजस्तुतिपरक नाराशंसी, गाथा, यममभीय. इन्द्रजननीय, कथा, आख्यान, इतिहास, पुराण, आदि से सङ्कलित किये गये हैं।

काव्य मीमांसाकार राजशेखर ने काव्य मीमांसा में विदग्ध महाकाव्यों के बारह उत्पत्ति स्थान परिगणित किये हैं।

सम्पूर्ण विदग्ध महाकाव्यों का परिशीलन करने के पश्चात् निःसन्देहतया स्वीकार करना होगा कि राजशेखरदृष्ट विदग्ध काव्यों के उत्पत्ति स्थान मानो काव्यों की बारह खानें (खदाने) हैं। ऐसा मानने में यत्किञ्चित् अत्युक्ति ,नहीं है। विदग्ध काव्य वाङ्मय, अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, धर्मशास्त्र या कामशास्त्र द्वारा अनुशासित है।

विदग्ध महाकाव्यों के नायक बहुधा राजा लोग होते हैं। कहीं-कहीं देव भी हैं,-तो वे राजोचित आचार का परिपालन करते हुए देखे जा सकते हैं। विदग्ध महाकाव्यों द्वारा वर्णित आचार मन्वादि स्मृतिशास्त्र से सर्वत्र अनुमोदित होता है। स्मृतिशास्त्रोक्त राजधर्म का परिपालन काव्य का नायक राजा करता है।

विदग्ध महाकाव्यों में षाड्गुण्य, अरिषड्वर्ग, कुप्य, यथापराध दण्ड, चारचक्षु इत्यादि अनेक शब्दों का ऋण अर्थशास्त्र से लिया जाना सुस्पष्ट है।

दुरूह शास्त्रत्रयी[1] द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध पुरुषार्थों का प्रतिपादन करने हेतु प्रवृत्त विदग्ध महाकाव्य मानो उनके कमनीय व्याख्याकार हैं।

विदग्ध और आर्ष महाकाव्यों की भाषा शैली में अन्तर

आर्ष काव्यों की भाषा सरल, सुबोध तथा प्रत्यक्ष बोलने जैसी, कथन मात्र प्रयोजनवती होती है। इसके विपरीत, विदग्ध काव्यों की भाषा परिष्कृत

---

१. धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र।

अलङ्कृत कठिन, श्लेषयुक्त, ध्वनियुक्त तथा बुद्धिपूर्वक क्लृप्त होती है अर्थात् कथन कला का मानो प्रदर्शन करने वाली होती है।

व्याकरण की दृष्टि से भी आर्ष काव्यो की भाषा सरल एव सुबोध होती है। कर्ता, कर्म, क्रियापद क्रमश होते हैं। किन्तु विदग्ध महाकाव्यो की भाषा अपेक्षाकृत कम सरल-सुबोध होती है। फलत बुद्धि गम्यता उसमे होती है। इसकी भाषा विशेषण, क्रिया विशेषण समस्त पद, साधितशब्द (नाम धातु कृदन्त तद्धितादि प्रत्ययो से व्युत्पन्न) एव उभयालकार प्रधान होती है।

आशिक कुछ आर्ष काव्य और विदग्ध काव्यो मे समानता होने पर भी असमानता ही अधिक है। दोनो का उदगम एव विकास एकदम भिन्न प्रकार से होता है।

मुख्यत आर्ष काव्य स्वय स्फूर्त है तो विदग्ध काव्य परोपजीवी है। आर्ष काव्य के प्रणेता ऋषि होते हैं। (नानृपि कविरित्युक्तम। ऋषिश्च किल दर्शनात्। —भट्ट तौत) काव्य कौतुक नामक ग्रन्थ मे भट्ट तौत ने आर्ष काव्य का उदाहरण वाल्मीकि कृत रामायण कहा है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रामायण—महाभारत को इतिवृत्त प्रधान कथाश्रय तथा सिद्ध रस प्रख्य ग्रन्थ माना है। इस आधार पर आर्ष और विदग्ध महाकाव्यो का भेद सुगमतापूर्वक हृदयगम किया जा सकता है।

पाश्चात्य काव्यालोचक भी लौकिक साहित्य को द्विधा विभक्त करते हैं। आर्ष काव्य ही आदि काव्य है। विदग्ध महाकाव्य प्राचीनोपजीवी होते हैं। यह कथन ही उनके विकास स्रोत के विषय मे पर्याप्त है। राजशेखर के अनुसार पूर्वोक्त काव्यो के बारह उत्पत्तिस्थानो[1] का अन्तर्भाव एकमात्र प्राचीनोपजीवी इस विशेषण से बहुत कुछ होता है।

---

१ श्रुति, २ स्मृति, ३ इतिहास, ४ पुराण, ५ प्रमाण विद्या, मीमासा न्याय, वैशेषिक) ६ समय विद्या, (शैव, वैष्णव, बौद्ध इत्यादि सम्प्रदाय [पन्थ]), ७ अर्थशास्त्र, ८ नाट्यशास्त्र, ९ कामशास्त्र (राजसिद्धान्तत्रयी), १० विभिन्न प्रदेशो के प्राकृत और सुसस्कृत (विदग्ध) जन, ११ इतिहास, भूगोल आदि के ज्ञान पर आधारित अथवा काल्पनिक व्यक्ति या स्थल का वर्णन, १२ हस्तिशिक्षा, रत्न परीक्षा, धनुर्वेद इ० विद्याकला आदि प्रकीर्णक।

पाश्चात्य वर्गीकरण का समस्त सार एकमात्र **'विदग्ध'** शब्द में समाविष्ट होता है। संक्षेप समर्पकता और सुविधा सब कुछ इस शब्द में ओतप्रोत (लबालब) विद्यमान है। इस शब्द से चातुर्य कलात्मकता, पाण्डित्य, नागर-भाव, सांस्कृतिक विकास आदि की समस्त अर्थ छटाएँ एकसमयावच्छेदकत्वेन (एकदम) अभिव्यक्त होती हैं।

इसका तात्पर्य कथमपि यह नहीं है कि विदग्ध शब्द से ज्ञापित होने वाले समस्त गुणों का आर्ष महाकाव्यों में एकान्तिक और आत्यन्तिक अभाव होता है। उत्तरोत्तर काल प्रवाह की विकासशील सामाजिक अवस्था में आर्ष काव्य की अपेक्षा विदग्ध काव्यों में ये गुण अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होते रहने से आर्षेतर काव्य **विदग्ध महाकाव्य** की संज्ञा को प्राप्त होते रहे हैं। संक्षेपतः प्राचीन वाङ्मयी कथाओं को स्वस्व कालोचित नवीन आडम्बर रूप परिधानों से वेष्टित कर किया गया पुनः कथन ही विदग्ध महाकाव्य है।

संस्कृत कविता कामिनी की शैशवावस्था जो आर्ष काव्यों में दृष्टिगोचर होती है वह क्रमशः पाणिनी वररुचि, के काव्यों में समाप्त होती हुई-सी प्रतीत होती है। तदुत्तर कालिदास अश्वघोष आदि के काव्यों में क्रमशः उसकी प्रौढ़ता परिलक्षित होने लगती है।

संस्कृत कविता कामिनी को प्रौढ़ता की ओर अग्रसारित करने का श्रेय कविकुल गुरु कालिदास को है। कालिदासोत्तर काल में प्रौढ़ता को प्राप्त हुई संस्कृत कविता कामिनी में विदग्धता संचारित करने का एकमात्र श्रेय **महाकवि भारवि** को है।

महाकवि भारवि ने जिस एकमात्र रचना के आधार पर चिरकीर्ति उपार्जित की है उसके अन्तरङ्ग परीक्षण के आधार पर उसमें महाकवि के जीवन विषयक विश्वसनीय वृत्तान्त की कोई उपलब्धि नहीं होती। कालिदास की तरह ही इस महाकवि ने स्वयं अपने बारे में कुछ भी नहीं कहा है। अतः अगतिक होकर बाह्य प्रमाण सामग्री के आधार पर विद्वानों ने जो जानकारी इस महाकवि भारवि के विषय में प्रस्तुत की है उसका सारांश इस प्रकार है—

भारवि का स्थिति-काल—

ई० सन् १९२४ के पूर्व तक महाकवि भारवि के विषय में प्राप्त जानकारी बहुत ही अल्प थी किन्तु सन् १९२४ में दक्षिण भारत में महाकवि दण्डी विरचित

अवन्ति सुन्दरी कथा तथा अवन्ति सुन्दरी कथासार इन दो कथा कृतियों की उपलब्धियों से महाकवि भारवि के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हुई है। इन दोनों कथाओं की प्रमाणिकता के विषय में कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है किन्तु उनकी अप्रामाणिकता के विषय में कोई सशक्त प्रमाण उन्होंने विद्वान् विचारकों के सम्मुख उपस्थित नहीं किये हैं अतः जब तक तर्क सम्मत सशक्त प्रमाण इनके विरोध मे उपलब्ध नही होते तब तक इस जानकारी पर विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। इन कथाओं मे वर्णित महाकवि भारवि विषयक जानकारी इन कथाओं की उपलब्धि होने के पूर्व उपलब्ध जानकारी से अधिक विसङ्गत नहीं है, प्रत्युत उसमें वृद्धि करने वाली ही है।

अवन्ति सुन्दरी कथा और अवन्ति सुन्दरी कथासार 'दक्षिणभारती ग्रन्थमाला नं० ३ में पं० रामनाथ शास्त्री ने सम्पादित की है। तथा श्री० एस० रामकृष्ण कवि ने उस पर अत्यन्त उद्बोधक प्रस्तावना लिखी है। दण्डी कृत अवन्ति सुन्दरी कथा में महाकवि भारवि के विषय में उपलब्ध जानकारी का सारांश इस प्रकार है—

"भारत के वायव्य प्रदेश में आनन्दपुर नामक एक नगर है। इस नगर के निवासी एक ब्राह्मण परिवार जिसका गोत्र कौशिक है, महाराष्ट्र के नासिक मण्डल (जिला) के अचलपुर ग्राम में रहने चला गया। इस परिवार का नारायण स्वामी नामक सदस्य का दामोदर नाम का एक पुत्र था। यही दामोदर रवितुल्य प्रखर प्रतिभा के कारण 'भारवि' इस उप नाम से विख्यात हुआ। राजा विष्णुवर्धन के साथ इसकी मित्रता हुई। राजा विष्णुवर्धन के साथ भारवि कभी-कभी शिकार पर भी जाया करते थे। इस प्रसङ्ग में हुए पाप का प्रायश्चित्त करने हेतु भारवि तीर्थ यात्रा करने चले गये, तीर्थ यात्रा के समय में 'गंग' राज घराने के तत्कालीन दुर्विनीत नामक राजा से इनका परिचय हुआ तब इस राजा के आग्रह के कारण भारवि कुछ दिन उसके साथ भी रहे। राजा दुर्विनीत के सान्निध्य में रहते हुए कांचीपुरम् के सिंह विष्णु नामक पल्लवराज की प्रशस्ति में भारवि ने एक आर्या लिखी थी जिसका आशय इस प्रकार था कि— दानवराज हिरण्यकशिपु का पर्वतप्राय कठिन एवं विशाल हृदय विदीर्ण करने से जिनके नखों की प्रचण्ड शक्ति प्रकट हुई है और जो उस कारण संसार के उत्कर्ष एवं कल्याण का कारण बना वह विष्णु भगवान् का नरसिंह रूप तुम्हारा रक्षण करें।' विष्णु भगवान् की स्तुति में अपना सम्बन्ध बड़ी

खूबी (कुशलता) से वर्णन करने वाले इस भारवि विरचित आर्या (छन्द) के श्रवण मात्र से सिंह विष्णु को महान् आह्लाद प्राप्त हुआ और उसने इस आर्या के प्रणेता विद्वान् महाकवि भारवि को ससम्मान अपने राजदरबार में ले आया। इसी पल्लवराज सिंह विष्णु के सान्निध्य में निवास करते हुए (समय में) भारवि को तीन पुत्र-रत्न प्राप्त हुए। इन तीन पुत्रों में **मनोरथ** नामक पुत्र को **वीरदत्त** नाम का पुत्र हुआ। इस वीरदत्त की पत्नी का नाम गौरी था। वीरदत्त और गौरी से सुप्रसिद्ध **दण्डी** कवि का जन्म हुआ।"—आवन्ति सुन्दरी कथा १-११-३८ तथा आवन्ति सुन्दरी कथासार।

महाकवि दण्डी के वंशधर आज भी विद्यमान हैं। वाशिम (महाराष्ट्र), हरिद्वार, वाराणसी और ग्वालियर में ये लोग बस गये हैं।

वाराणसी के सुप्रसिद्ध वेदपाठी **स्व० रामचन्द्र बालमुकुन्द भट्ट** वाशिमकर का ब्रह्मघाट पर स्थित **'दण्डेभवन'** महाकवि दण्डी के वंशधर होने की स्मृति में ही निर्मित करने की बात स्वयं श्री रामचन्द्र भट्ट जी ने ही कही थी। इनका गोत्र भी कौशिक ही है। आजकल इनके पौत्र **श्री वटुकनाथजी वाशिमकर** विद्यमान हैं और इसी भवन में निवास करते हैं।

भारवि का **दाक्षिणात्य** होने की बात अवन्ति सुन्दरी कथा की उपलब्धि होने से पूर्व ही विद्वन्मान्य हो चुकी है। **श्री राजाराम रामकृष्ण भागवत** ने मराठी भाषा में लिखी **'माराठ्यांच्या सम्बन्धाने चार उद्गार'** नामक पुस्तक में भारवि का दाक्षिणात्य होना सप्रमाण सिद्ध किया हुआ है। उत्तरीय भारत में **दाक्षिणात्य का अर्थ महाराष्ट्रीय** है। वंशधरों के आधार पर भारवि शुक्ल यजुः शाखीय ब्राह्मण थे। **'राधा माधव विलास चपू'** में **श्री० राजवाडेजी** ने उत्तरीय भारत से शुक्ल यजुः शाखीय ब्राह्मणों का महाराष्ट्र में जाकर बसना स्वीकार किया है। उपर्युक्त कथा में वर्णित आनन्दपुर गुजरात का वर्तमान आणन्द जो बड़ौदा और अहमदाबाद के मध्य में है, तथा नासिक मण्डल का अचलपुर वर्तमान वह्लाड प्रान्त का (महाराष्ट्र) एलिचपुर (पूर्व मध्यप्रदेश सी० पी०) समझा जाता है। पल्लवराज सिंह विष्णु का समय तथा गंग राजघराने का दुर्विनीत का समय ई० स० ५७५-६०० के लगभग राज्य शासन का माना जाता है। भारवि का इनके सान्निध्य में निवास उपर्युक्त कथा में वर्णित है। पल्लव नृप शैव थे। सिंह विष्णु के पुत्र **महेन्द्रवर्मा** (६००-६३०) इसी का अपर नाम **महेन्द्र विक्रम** है। **'मत्तविलास'** नामक एक प्रहसन इसने संस्कृत में

लिखा है। गग घराने के उपलब्ध प्राचीन लेखो से विदित होता है कि राजा दुर्विनीत ने 'बृहत्कथा' का संस्कृत म रूपान्तर किया था।

भारवि कृत किरातार्जुनीय महाकाव्य के पन्द्रहवे सर्ग पर एक टीका भी इसने लिखी थी। 'गम्मरेड्डिपुर-लेख' के नाम से विख्यात् लेख इस विषय म मननीय है। इसका समय षष्ठशताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। राजा दुर्विनीत का राज्य शासन काल ५८० निश्चित किया जाता है अत भारवि के समय की यही उत्तर सीमा मानना अनिवार्य है।

यदि टीकाकार दुर्विनीत और आवन्ति सुन्दरी कथा मे वर्णित दुर्विनीत अभिन्न है तो मेक्समूलर महोदय न India, what can it teach us नामक पुस्तक म दुर्विनीत का समय ई० सन् ४७० माना है। इसके आधार पर महाकवि भारवि का समय इससे पूर्व या समकालिक मानना चाहिये। ऐसा प्रो० गोस्वामी जी कहते हुए महाकवि भारवि का स्थिति काल चतुर्थ शताब्दी का अंतिम भाग या पंचम शताब्दी का प्रारम्भिक काल मानना चाहिये, ऐसा अभिमत अभिव्यक्त करते है। प्रो० कीथ अवन्ति सुन्दरी कथा वृत्तान्त को मान्यता नही देते किन्तु वे तदर्थ कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नही कर सके है। प्रो० कीथ महाकवि भारवि का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं।[1] कही-कही पल्लव नरेश सिंह विष्णु का समय ई० स० ५२० भी लिखा मिलता है। महा कवि दण्डी का समय ई० स० ६३५ ७०० प्राय माना जाता है। अवन्ति सुन्दरी कथा वृत्तान्त के आधार पर महाकवि दण्डी महाकवि भारवि के प्रपौत्र माने जाते हैं।

तीन पीढियो म लगभग ७५ वर्ष का अन्तर असम्भव प्रतीत नही होता। द्वितीय पुलकेशी की प्रशस्ति म लिखे गये उत्कीर्ण शिलालेख[2] (जो 'एहोल' स्थान म ई० सन् ६३४ म उत्कीर्ण हुआ है।)

महाकवि भारवि की महत्ती महाकवि कालिदास के तुल्य होने का उल्लेख करता है। यह उत्कीर्ण शिलालेख बीजापुर जिले के एक जैन मन्दिर से प्राप्त हुआ है। जो आज भी सुरक्षित है। इस प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के

---

१ ए हिस्ट्री ऑफ दी संस्कृत लिट्रेचर, पृ० १०६।

२ 'येनायोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्ति कविताश्रित कालिदास भारवि कीर्ति.॥

लिये न्यूनातिन्यून सौ-पचास वर्ष कीर्ति स्थिर होने के लिये लगना आवश्यक ही है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् याकोवी महाशय महाकवि भारवि का समय महाकवि माघ के पूर्व छठी शताब्दी का पूर्व भाग मानते हैं।[१] इस प्रकार कुल मिलाकर ई० सन् ५२० से ५८० के मध्य महाकवि भारवि का समय मानना युक्ति संगत है[२]।

जयादित्य कृत काशिकावृत्ति (सप्तम शताब्दी) में पाणिनी सूत्र १-३-२३ की व्याख्या में महाकवि भारवि कृत किरातार्जुनीयम् के तृतीय सर्ग के १४वें श्लोक का अंश 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' उद्धृत हुआ है। अतः महाकवि बाण (सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध) के द्वारा हर्षचरितम् में महाकवि कालिदासादि के साथ महाकवि भारवि का नामोल्लेख न किया जाना महत्वपूर्ण नहीं है। श्री० ऑर्थर मेकडानल महोदय भारवि का समय छठी शताब्दी के पूर्व मानते हैं[३]। महाकवि माघ पर महाकवि भारवि का सुस्पष्ट प्रभाव काव्यतत्वविद् विद्वानों के द्वारा मान्य हो चुका है।

अवन्ति सुन्दरी कथासार में उद्धृत दामोदर और भारवि अभिन्न है। हमारे मत में दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इनकी प्रतिभा रवि सदृश प्रखर होने से इन्हें भारवि विद्वज्जनों ने कहा और ये आगे इसी नाम से सुविख्यात हो गये। महाकवि दामोदर भारवि जिनका अपर नामधेय था, महाकवि दण्डी के प्रपितामह हैं।

अन्तःसाक्ष्य का नितान्त अभाव होने के कारण महाकवि भारवि के स्थिति काल के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है किन्तु बाह्य साक्ष्य के रूप में

---

१. "We therefore cannot place Magha later then about the middle of the sixth century, and Bharavi, who is older then Magha bry at least a few decades, about the beginning of the sixth century."

—व्हिएना ओरिएण्टल् जर्नल् ३-२ पृष्ठ १४८.

२. डॉ० केशवराव मुसलगांवकर का शोध प्रबन्ध 'संस्कृत महाकाव्य की परंपरा' पृष्ठ ३६७ देखिये।

३. 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर' पृष्ठ ३२९।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर महाकवि भारवि के समय की उत्तर सीमा छठी शताब्दी म होने के विषय म सन्देह नही है ।

महाकवि भारवि की अर्थगाम्भीर्य समन्वित वाणी सभी को आकर्षित करती है । अत विद्वत्वर्ग उनके स्थान को अपने इष्ट स्थान से जोडने की बौद्धिक कसरत करते हैं । यह भी भारवि की प्रतिष्ठा म वृद्धि करने वाली ही बात मानी जानी चाहिय । कुछ विद्वान् बाह्य साक्ष्य के आधार पर सत्य तथ्य जानकर भी मौन हो जाते हैं । उसका कारण एक मात्र यह है कि तथ्य स्वीकार करने पर महाकवि भारवि से हम कुछ दूर से हो जावेंगे, ऐसा मन म भय होना ही हो सकता है ।

'गुणा पूजास्थान गुणिषु लिङ्ग न च वय' इसके साथ यदि स्थानम् तथा जाति और जोड लिया जावे तो कवि कहाँ के निवासी और किस जाति मे उत्पन्न हुए यह विवाद महत्वपूर्ण नही रहेगा ।

किरातार्जुनीयम् के व्याख्याकार—

म० क० भारवि की सरस वाणी के लगभग ३४ व्याख्याकार हुए है । इनमें प्रमुख म० म० मल्लिनाथ हैं ।

टीकाकार मल्लिनाथ

वेदभाष्य कर्ताओ म जो प्रतिष्ठा सायण की है वही प्रतिष्ठा महाकाव्यो के टीकाकार म० म० मल्लिनाथ को प्राप्त है । काव्याध्ययन के क्षेत्र म मल्लिनाथ की टीका सर्वाधिक प्रचलित है । मल्लिनाथ ने भारवि की वाणी को 'नारिकेलफल सम्मित' कहा है । किरातार्जुनीयम् पर 'शब्दार्थ दीपिका' नामक चित्रभानु कृत एक विद्वन्मान्य टीका है किन्तु यह टीका प्रारम्भिक केवल तीन सर्गो पर ही है । मल्लिनाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे इनका गोत्र 'कश्यप' था । कोलाचल इनकी वशक्रमागत उपाधि थी । इनके पिता का नाम कपर्दिन था । पेद्दिभट्ट और कुमार स्वामी इनके पुत्र थे । कुमार स्वामी ने प्रताप रुद्रीय नामक साहित्य शास्त्रीय ग्रथ पर लिखी टीका है । महामहोपाध्याय इनकी विरुदावली थी[१] । ये सर्वशास्त्र पारङ्गत उद्भट विद्वान थे । म० म० मल्लिनाथ

---

१ सस्कृत कोश कार श्री० वामन शिवराम आपटे ने अपने कोश म इसका अर्थ बहुत बडा उपाध्याय, अध्यापक, महापण्डित, विद्वान और प्रसिद्ध पण्डितो को दी जाने वाली सम्मान सूचक उपाधि कहा है । उदाहरण के (क्रमश)

को उच्चकोटि की प्रतिष्ठा प्राप्त थी, इनका सुवर्णाभिषेक हुआ था। इनका प्रादुर्भाव समय १४००-१४१४ ई० के लगभग इतिहासकार मानते हैं। म० म० मल्लिनाथ की टीका 'घण्टापथ' (राजपथ) यथार्थनामा है। अर्थगाम्भीर्य के कारण यत्र तत्र दुरुह (जो सहज बोधगम्य नहीं) है, घण्टापथ का निर्माण कर निश्चय ही रसिक जनों के लिये भारवि की वाणी को सहज बोधगम्य बना दिया है। घण्टापथ टीका संक्षिप्त है। गागर में सागर की भाँति अनेक शास्त्रीय प्रमेयों को उद्घाटित करने वाला कोश उसे कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा। काव्य रसास्वादन करने की इच्छा रखने वालों पर मल्लिनाथ के अपरमित उपकार हैं।

चित्रभानु और मल्लिनाथ—

शब्दार्थ दीपिका और घण्टापथ टीका में कहीं-कहीं मतभेद दृष्टिगोचर होता है। भारवि के भाव को सहज हृदयंगम कराने में चित्रभानु कृत शब्दार्थ दीपिका की क्षमता—अनुपम है। चित्रभानु का गद्य प्रशंसनीय है। अर्थविवेचन के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा सहृदयों को चमत्कृत करती है। चित्रभानु की बहुज्ञता एवं विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों का अविकल तलस्पर्शी ज्ञान टीका में यत्र-तत्र झलकता है। म० म० मल्लिनाथ किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का नेता अर्जुन को मानते हैं।[1] किन्तु चित्रभानु युधिष्ठिर को ही नेता मानते हैं।

रूप में कोशकार ने महामहोपाध्याय मल्लिनाथ का नाम उधृत किया है। ब्रिटिश राज्यकाल में भी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वानों को यह सम्मान सूचक उपाधि दी जाती थी जैसे—महामहोपाध्याय डॉ० गंगा नाथ झा, डॉ० पा० काणे० डॉ० वि० वि० मीराशी, पुण्यश्लोक पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, पं० सदाशिव शास्त्री मुसलगांवर। पं० गोपीनाथ कविराज, पं० नारायणशास्त्री खिस्ते, पं० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि।

१. नेता मध्यम पाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः,
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृङ्गारादि रसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः,
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

चित्रभानु ने अपनी मान्यता के आधार मे प्रस्तुत तर्क रमणीय होते हुए भी काव्यमर्मज्ञो को ग्राह्य नही हो पाये। इस काव्य म वीररस का प्राधान्य है। शृङ्गारादि रस गौण हैं। पाशुपतास्त्र लाभ इस महाकाव्य का उद्दिष्ट (फल) है। इसमे साधर्म्यप्रधान अर्थालकारो का वैदूष्यपूर्ण सफल एव विपुल प्रयोग हुआ है। अन्य उपमा, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग आदि अनेक अलकारो का हृद्य प्रयोग हुआ है। भारवि का अलकार प्रेम और नैपुण्य देखना चाहे तो इस महाकाव्य का १५वाँ मर्ग देखिये। कवि ने एकाक्षर¹ द्व्यक्षर निरोष्ठ्य² श्लोको की भी इस काव्य म रचना की है। इसम शब्दालकारो के चमत्कृतिजनक प्रयोग सहृदयो को आल्हादित करने म पूर्णत समर्थ हैं।

इस महाकाव्य की शैली,³ काव्य ममज्ञ विद्वान् वैदर्भी रीति⁴ ही मानते है। प्राय इसम प्रदीर्घ समास नही हैं। इसम वीर रसोचित ओजगुण अनुपम है। श्रृगार वणन के समय का माधुर्य गुण भी सहृदय हृदयाल्हादकारी है।

महाकवि भारवि के पद प्रयोग अर्थ गाम्भीर्य युक्त और सुस्पष्ट है—

'स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थ गौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित्॥

—किराता० २।२७

महाकवि भारवि ने अपनी इस विद्वन्मोदतरङ्गिणी-कृति मे अनेक अप्रसिद्ध

---

१. न नो ननुन्नो नुन्नो नो नाना नाना न ना न नु।
नुन्नोऽनुन्नो न नुन्ने नो नाने ना नुन नुन्न नुन्॥ १५-१४

२ इति शासति सेनान्या गच्छतस्तान नेकधा।
निषिध्य हसता किञ्चित्तस्थे तत्रान्ध कारिणा॥ १५-२९

३ शैली=रीति। अथ रीति—
पद सघटना रीतिरङ्गसस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीना सा पुन स्याच्चतुर्विधा॥
१. वैदर्भी, २ गौडी, ३. पाचालिका, ४ लाटी च।

४ अथवैदर्भी लक्षणम्—
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णे रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ —सा० दर्पणत

छन्दों का भी प्रयोग किया है किन्तु इस द्वितीय सर्ग में केवल चार छन्दों का ही प्रयोग हुआ है।

श्लोक १ से ५६ तक वियोगिनीछन्द ५७वे में उपजाति ५८वे में पुष्पिताग्रा और ५९वें में वसन्त तिलका नामक छन्द का प्रयोग किया है। (परिशिष्ठ क्र० १) देखिये।

भारवि पर कविकुल गुरु का प्रभाव सुस्पष्ट है। कालिदास से भारवि ने भाव, वर्णन, शब्द आदि का ऋण ग्रहण किया है। 'लभ्याधरित्री तव विक्रमेण' 'शिलोच्चयं चारु शिलोच्चयं तम्।' आदि स्थानों में कालिदास का ऋण मुखर हो उठता है।

तृतीय सर्ग के छत्तीसवें श्लोक में तुषारलेखाऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गल भङ्ग भीरुः अगूढ़भावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ महाकवि भारवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा शक्ति से साक्षात् कालिदास ही जैसे बोलने का आभास उत्पन्न करने का चमत्कार कर दिखाया है। अगूढ़ भावा पांचाली अर्जुन को साक्षात् करते समय अपने नेत्रों को अमंगल अश्रुपात के भय से निमीलित न कर सकी।

महाकवि भारवि ने स्त्री के प्रेरक शक्ति वाले स्वरूप को कितनी सहजता से अङ्कित कर दिखाया है, देखिये तृतीय सर्ग में व्यास जी ने भावी युद्ध में विजयी होने हेतु शंकर भगवान् को प्रसन्न कर उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त कर लेने का आदेश अर्जुन को देने के बाद अर्जुन अपने आत्मीय जनों से हिमालय पर्वतान्तर्गत इन्द्रकील पर्वत पर जाने हेतु विदा माँगने जाता है। इसी प्रक्रम में वह द्रौपदी से मिलने जाता है। उस अवसर पर अर्जुन प्रणयिनी द्रौपदी वीराङ्गनोचित उसे सन्देश देती है—(प्रसङ्ग का औचित्य महाकवि ने कैसा परखा है इसकी तुलना वेणी संहारकार भट्ट नारायण से कीजिये—रण के मैदान से दुर्योधन अपनी पत्नी से जा मिलता है और शायद पुनः मिलन न हो सके इस धारणा से दोनों की रति क्रीड़ा में प्रवृत्ति कितनी असामयिक है!) भारवि की द्रौपदी ऐसे कठिन प्रसङ्ग में भी कितनी सावधान है देखिये, वह अर्जुन को प्रेरणा किस मधुरता के साथ देती है—

'तदाशुकुर्वन् वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफली कुरुष्व।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥५४॥

अलकृत शैली के जनक महाकवि भारवि माने जाते हैं। महाकवि भारवि की कविता म चमत्कार का बाहुल्य है।

भारतीय मूल कथा मे भारवि कृत परिवर्तन—

किरातार्जुनीयम विदग्ध महा काव्या के अन्तर्गत परिगणित होने की बात प्रारम्भ म हम कह चुके हैं। किरातार्जुनीयन् का उपजीव्य महाभारतीय कथा है। यह कथा वन पव म अर्जुनाभिगमन नामक (उप) पर्व सत्ताईसवें अध्याय से चालीसवें अध्याय तक कही गई है। चौदह अध्याय वाली कथा को महाकवि ने अठारह सर्गों म कहा। महाभारतीय कथासूत्र यथार्थ और सरल है।[1] महाभारतीय कथा म २७ और २८वें अध्यायो म द्रौपदी युधिष्ठिर से उनके कोप को उद्दीप्त करने हेतु कठोर वचन कहती है। इसके बाद युधिष्ठिर क्रोध त्यागकर शांति धारण करने का उपदेश देते हैं। ३०-३१ ३२ अध्यायो मे द्रौपदी और युधिष्ठिर का वार्तालाप है। युधिष्ठिर क्षमा और द्रौपदी शत्रु प्रतिकार की बात का युक्ति युक्त प्रतिपादन करते हैं। इसक बाद भीम युधिष्ठिर सवाद है। (३४ से ३६ तक) ३६वें अध्याय म व्यासजी का आगमन होता है। युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर जाता है। कैरातपर्व म अर्जुन का कठोर तपस्या के विषय म शकर और मुनिगणा म वार्तालाप, उसके बाद किरात वेश धारी शिव के साथ अर्जुन से युद्ध, भगवान् शिव प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं। अर्जुन द्वारा शिव स्तुति पाशुपत अस्त्र प्रदानकर भगवान शकर प्रस्थान करते हैं। (४१ वा अध्याय) किरातार्जुनीयम् के कथा सूत्र का आधार यही कथा है। लेकिन महाकवि भारवि की प्रतिभा से परिष्कृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का विस्तार पाण्डित्य कवित्व एव कल्पकत्व ने नाटकीय ढग के सवाद रमणीय तथा कलात्मक वणना के सहारे अठारह सर्गों तक विस्तृत कर दिखाया है। इस कृत्रिम प्रपञ्च के कारण कथा का प्रवाह जहाँ-तहाँ अवरुद्ध सा हो जाता है किन्तु भारवि अपने प्रतिभा नैपुण्यवश किसी को उद्वेजित होने नही देते। भारवि कि विशेषता यह है कि वह उपजीव्य भारतीय कथास्रोत से भटकता नहीं है। मूलस्रोत रूपी कथा से साम्य और सामीप्य रखते हुए भी अपनी मौलिकता का प्रकाशन करने मे कवि सफलता प्राप्त करता है। भारवि ने जहाँ-तहाँ

---

१ महाभारत की गणना काव्य म नही इतिहास म विद्वान् लोग करते हैं उसका आधार यही है।

परिवर्तन भी अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिये किया है। प्रथम और द्वितीय सर्ग में द्रौपदी, भीम तथा युधिष्ठिर के आपसी संवादों के कारण कथानक का प्रारम्भिक भाग अतीव प्रभावशाली एवं सजीव हो उठा है। तृतीय में व्यास का धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश देना कवि की अपनी मौलिक कल्पना है। महाभारतीय इस कथा में व्यासजी का कोई स्थान ही नही है तथा युधिष्ठिर आदि की आपसी बात-चीत भी विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। भारवि ने महाकाव्य के प्रारम्भ में राजनैतिक मौलिक सिद्धान्तों का प्रवचन किया है। भारवि ने कर्म-योग के दार्शनिक तत्वों का उपदेश दिलाकर संन्यास तथा शान्ति के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है। एकादश सर्गस्थ इन्द्र और अर्जुन के वार्तालाप के मिष् से निवृत्ति मूलक संन्यास प्रवृत्ति का खण्डन किया है और प्रवृत्ति परकता एवं व्यावहारिकता की ओर इंगित करते हुए उसका समर्थन किया है। महा-भारतीय कथा में व्यासजी ने युधिष्ठिर को मन्त्रदीक्षा दी है और युधिष्ठिर के द्वारा अर्जुन को दीक्षा दिलवायी गई है किन्तु भारवि ने स्वयं व्यास के द्वारा ही अर्जुन को मन्त्रदीक्षा दी है। भारवि ने इस प्रकार मूल कथा को यत्र-तत्र मोड़ देकर अपनी प्रतिभा का विस्तार करने हेतु क्षेत्र अर्जित कर लिया है। भारतीय कथा में अर्जुन मन्त्रबल से इन्द्रकील पर्वत पर जा पहुँचते हैं किन्तु भारवि अर्जुन को व्यास जी की आज्ञा से यक्ष के द्वारा वहाँ पहुँचा देते हैं। प्रसङ्गोपात्त मार्गस्थ हिमालय गन्धमादन तथा इन्द्रकील पर्वतों का वर्णन कर भारवि अपनी कृति को महाकाव्यत्व के रूप से अलंकृत करने में सफलता प्राप्त करते हैं। इन्द्रकील पर्वत पर जाकर अर्जुन ने तप किया, अर्जुन की तपस्या का वर्णन और उससे स्थावर जंगम सभी को प्रभावित करना यह भी भारवि की अपनी मौलिक कल्पना है। महाभारतीय कथा में यह कहीं नहीं है। महाभारतीय कथा में इन्द्र अर्जुन को तपस्या से विरत करता है किन्तु भारवि वनेचरों द्वारा अर्जुन की तपस्या का वृत्तान्त इन्द्र को सुनवाता है, सुनकर इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न होता है। किसी प्रकार इन्द्र अपने हर्ष को रोककर अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या की परीक्षा करने हेतु अप्सराओं और गन्धर्वों को वहाँ भेजता है। अर्जुन के समीप जाकर उन्होंने अर्जुन को तपस्या से विरत करने के प्रयत्न किये किन्तु सफल नहीं हुए व लौट गये। इस प्रसङ्ग को उत्पन्न कर भारवि ने अप्सराओं की विलास-क्रीड़ाओं का वर्णन कर महाकाव्य की शोभा को वृद्धिगत कर लिया है।

काव्यशास्त्रीय नियमानुसार महाकाव्यत्व के सम्पादनार्थ सध्या, रात्रि, सुरतादि वर्णन करने का अवसर भारवि ने प्राप्त कर लिया। महा भारतीय कथा मे शिवमृगया निमित्त से शिव-पार्वती कुछ गणा के साथ किरात वेश म आते हैं। किरातवेशधारी शिव और अर्जुन का मल्ल युद्ध हाने का भी वर्णन है। पार्वति और अन्य गणो को केवल दर्शक के रूप म वहाँ उपस्थित होना कहा गया ह। किन्तु भारवि अपनी मौलिक प्रतिमा की सृष्टि करत हुए स्कन्द के सेना पतित्व म शिवसहित उनकी सेना के साथ मृगयामूलक अर्जुन का युद्ध करात हैं और अर्जुन को भारवि विजयी भी बनाते हैं फिर किरात वेश म शिव मायावी अस्त्रा द्वारा अर्जुन के साथ युद्ध करते हैं उस समय अर्जुन के सम्पूर्ण अस्त्र विफल हो जात हैं। अन्ततागत्वा दोनो मे द्वन्द्व युद्ध होता है। इसका वर्णन करने म भारवि १५ से १८ सर्गों तक (चार सर्ग) खर्च कर पाठक के समक्ष युद्ध का सजीव दृश्य उत्पन करने म अत्यधिक सफल हुए हैं।

महाकाव्यत्व सम्पादनार्थ युद्ध के दृश्या का वर्णन मायावी अस्त्रा और उनके परिणामा तथा सना के वर्णन का अवसर महाकवि अपनी प्रतिभा से सन्नुप्त करते हैं। मौलिक कथा मे और भारवि की कथा मे युद्ध की परिसमाप्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। महाभारतीय कथानुसार किरात से युद्ध करता हुआ अर्जुन मूर्छित हो जाता है और मूर्छानिवृत्ति के पश्चात् वह देखता है कि जो माला उसने प्रात काल पूजा मे शिवार्पण की थी वही माला किरात के सिर पर है। इससे वह समझ गया कि किरात स्वय शिव ही है किन्तु भारवि की कथा मे शिवजी मल्ल युद्ध करत हुए उछलकर आकाश मे चले जा रहे थ किन्तु अर्जुन ने उछलकर उनके नीचे से पैर पकड लिय। इसस भोलानाथ आशुतोश शकर प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपने असली रूप म अर्जुन को दर्शन दिया।

महा भारतीय मूल कथानुसार अर्जुन पाशुपतास्त्र प्राप्ति क पश्चात दर्शनार्थ स्वर्ग जाता है और फिर अपन भाइयो के पास लौटता है। इस प्रसङ्ग म अनक आख्यानोपाख्यान वर्णित हुए हैं लेकिन भारवि का अर्जुन पाशुपतास्त्र की प्राप्ति होने के पश्चात् सीधा लौटकर अपने भाइया और द्रौपदी से जा मिलता है।

महाभारतीय कथा और भारवि की काव्य कथा मे मुख्यत अन्तर ये हैं—
महाकवि भारवि न कथा के पात्रो के स्वरूप मे बहुत कुछ परिवर्तन

किया है। जैसे महाभारतीय भीमसेन उद्धत है किन्तु भारवि का भीमसेन राजनीति विचक्षण है।

महाभारतीय कथा में—किरात वेशधारी शंकर उमा के साथ आते हैं और एकाकी ही अर्जुन से युद्ध करते हैं, किन्तु भारवि की कथा में—शंकर सेना सहित अर्जुन के साथ युद्ध करते हैं। अर्जुन अपने बाहुपराक्रम से सेना को क्षत-विक्षत कर परास्त करता है। सैन्य वर्णन कर कवि अर्जुन की वीरता की श्रीवृद्धि करता है। युद्ध का वर्णन भी सजीव है। महाभारतीय कथा के अन्तर्गत जो किरातार्जुनीय युद्ध का वर्णन हुआ है वह भारवि जैसा सरस नहीं है। वह नीरस एवं शुष्क है। महाकाव्यत्व सम्पादनार्थ अपेक्षित वर्णन के लिये क्षेत्र एवं अवसर भारवि ने स्वयं अपनी प्रतिभा के बल से उत्पन्न कर दिखाये हैं।

भारवि ने यथास्थान अर्जुन की तपस्या का वन, वनस्थली तथा अनेक विहंगम दृश्यों का शब्दचित्र सजीव कर दिखाने का अद्भुत नैपुण्य प्रदर्शित कर दिखाया है। भारवि के कथापात्र साधारण मानव जैसे ही हैं। महाभारतीय कथा के पात्र जैसे अतिमानव हो जाते हैं वैसे अतिमानव नहीं होते हुए भी युक्ति और बुद्धि का आश्रय लेकर वही कार्य कर दिखाने में सफलता प्राप्त करते हैं। भारवि की कथा में अतिमानवीय तत्व नगण्य हैं अथवा गौण हैं।

प्रकृति चित्रण का कार्य भी भारवि ने महाभारतीय कथा शैली से एकदम भिन्न ढंग अपनाकर किया है।

इससे भारवि के महाकाव्य का सौन्दर्य बढ़ा है। भारवि ने प्रकृति वर्णन यथास्थान किया है।

महाकवि भारवि का व्यक्तित्व

महाकवि भारवि के विषय में अन्तः साक्ष्य के आधार पर प्रत्यक्ष कोई प्रमाण सामग्री प्राप्त नहीं होती है। कुछ विद्वान् उनकी कृति किरातार्जुनीयम् में प्राप्त संकेतों को तर्क द्वारा उनके व्यक्तित्व का परिचायक मानने का आग्रह करते हैं। वे तर्क आपातरमणीय भले ही मालूम हों किन्तु उनमें विचार सहता का अभाव होने से उसका आश्रय करना हम ठीक नहीं समझते। जैसे किरातार्जुनीयम् में राजनीति की चर्चा है अतः वे राजनीति के धुरन्धर पण्डित हैं। वे कामशास्त्र के भी पण्डित हैं, रसिक नहीं। शृंगार के कलापक्षीय

कवि हैं। कालिदास प्रणय के कवि हैं, भारवि प्रणय कला के कवि हैं। भारवि का भाषा पर प्रभुत्व छन्दालकार के क्षेत्र मे उनकी गति अबाध है। भारवि स्पष्टवादिता मे विश्वास करने वाले थे। (किराता० १।२)

वे मधुरता की अपेक्षा हितकारिता में अधिक विश्वास करते थे। (कि० १।४)

वे अपने स्वामी को गुमराह करना पाप समझते थे। (कि० १।५)
वे स्वाभिमान को सर्वोपरि मानते थे। (कि० २-२०, ११ ५६)
वे जीवन म तेजस्विता के पक्षपाती थे। (कि० १७।१६)
वे गुणार्जन ही जीवन का लक्ष्य मानते थे। (कि० १२।१०)
वे स्वाभिमान की रक्षा हेतु कष्ट सहन करना उचित समझते थे। (कि० १४।१३)

वे कीर्ति नष्ट कर जीना पसन्द नहीं करते थे। (कि० ११।७३)
वे भौतिक जीवन की नि सारिता जान चुके थे। (कि० ११/२३)
वे आभिजात्यता को श्रेष्ठ मानते थे और नीच वर्ग के व्यक्तियों के साथ सहवास करना अनुचित मानते थे। (कि० १४।२२)
वे जैसे के साथ तैसा ही व्यवहार करना उचित मानते थे। (कि० १।३०)

वे सज्जन और विद्वानो के साथ मैत्री मे गर्व अनुभव करते थे। (कि० १३।५२)

वे ग्राम्य जीवन से भली-भांति परिचित थे। (कि० १७।२०) (कि० ४ सर्ग)

वे जीवन त्याग और तपस्या के लिए उपयोगी मानते थे। (कि० ७।२७)
वे दैव और उद्योग दोनो को सिद्धि म कारण मानते थे। दैव की विपरीत दशा मे उद्योग की सफलता म वे विश्वास नही करते थे। (कि० १६।६३)

इत्यादि भारवि की कृति मे उपलब्ध विचारो के आधार पर उनके व्यक्तित्व की कल्पना करने का आनुमानिक प्रयास है। रचना म अभिव्यक्त विचारो के आधार पर रचनाकार कवि के व्यक्तित्व की परिकल्पना करने से चौर पचाशिका और मृच्छकटिक की रचना करने वाले कवि के विषय मे

अन्याय होगा। कवि क्रान्तदर्शी होता है। कवित्व के बल से उसकी सर्वत्र गति होती है। काव्य में वर्णित विचार उसके चरित्र परिचायक अथवा उसके व्यक्तित्व के बोधक नहीं माने जाने चाहिये। अतः इसकी यथार्थता संदिग्ध है।

भारवि की काव्य-शैली

कालिदासोत्तर काल में क्रमशः काव्य का रूप परिवर्तित होता गया। काव्य स्रष्टाओं की अभिरुचि कलापक्ष में सौन्दर्य की कृत्रिम साधना में अधिकाधिक होने लगी। यद्यपि कालिदास के पश्चात् भारवि तक के मध्यकाल में मन्दसौर के **वत्सभट्टि के शिलालेख** के अतिरिक्त किसी काव्य की उपलब्धि नहीं हुई है।

महाकवि भारवि **कलापक्ष के कवि** माने जाते हैं। **अर्थगाम्भीर्य** की ओर उनका ध्यान सर्वाधिक रहा है। कवि समीक्षक की एक उक्ति इस प्रकार है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

किरातार्जुनीयम् के द्वितीय सर्ग के २७वें श्लोक के आधार पर काव्य-कला के सम्बन्ध में महाकवि भारवि का मत जाना जा सकता है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का संक्षिप्त कथासार

'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य अठारह सर्गों में महाकवि भारवि द्वारा वर्णित हुआ है। इसका उपजीव्य महाभारत है। महाराज धर्मराज युधिष्ठिर भाई दुर्योधन के साथ कपटद्यूत में हारकर द्वैतवन (मध्यप्रदेश के शिवपुरी जिले के अन्तर्गत पोहरी तहसील के बैराड (विराट) ग्राम के पास धावनी नामक पार्वती नदी के निकट वाले स्थान) में रहने लगे। यहाँ से युधिष्ठिर ने एक वनेचर (भील-किरात) को दुर्योधन के राज्य में उसकी राज्य शासन प्रणाली का अध्ययन करने भेजा। तदनुसार वह वहाँ गया और लौटकर उसने राजा युधिष्ठिर को बताया कि दुर्योधन की राज्य शासन व्यवस्था कैसी है। भीमसेन और द्रौपदी ने धर्मराज युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया, किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा भंग करके युद्ध करने के लिये तैयार नहीं हुए। भीमसेन को शान्ति धारण करने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर समझा रहे थे, उसी समय अकस्मात् व्यास मुनि वहाँ आ पहुँचे। व्यासजी ने अर्जुन को शंकर भगवान् से [illegible] इन्द्रकील पर्वत पर जाकर पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने हेतु जाने का परामर्श दिया। अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर जाकर तपस्या द्वारा शंकर भगवान् को प्रसन्न कर अस्त्र प्राप्त करे। तदनुसार अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर जाता है। तप करता है। उसकी तप परीक्षा हेतु स्वर्ग से इन्द्र अप्सराओं को वहाँ भेजता है। अप्सराएँ वहाँ जाकर अर्जुन की तपस्या में अपनी काम-चेष्टाओं द्वारा विघ्न डालती हैं किन्तु अर्जुन अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है। तब स्वयं देवराज इन्द्र वहाँ आता है और अर्जुन को अपनी मनोरथ सिद्धि के लिये शिवोपासना का उपदेश देता है। इन्द्र के उपदेशानुसार अर्जुन

तन्मय होकर शिवोपासना करता है। अर्जुन की परीक्षा करने स्वयं शिवजी किरात का वेश धारण कर आते हैं। उसी समय एक शिवमाया निर्मित वराह (सूअर) अर्जुन की ओर आता है। इस वराह पर एक ही समय अर्जुन और शिवजी वाण छोड़ते हैं।

अर्जुन का वाण वराह को वेध कर पृथ्वी में घुस जाता है। वराह में लगे हुए वाण के निमित्त से अर्जुन में और किरात वेशधारी शिवजी में विवाद होता है और अन्ततोगत्वा दोनों में युद्ध होने लगता है।

युद्ध में कभी अर्जुन और कभी किरातवेशधारी शिव की विजय होती रहती है। अन्त में दोनों में वाहुयुद्ध प्रारम्भ होता है। शंकर भगवान् अर्जुन की शक्ति पराक्रम और बुद्धि चातुर्य देखकर प्रसन्न होते हैं। किरात का वेश त्याग कर वे अर्जुन को शिव के रूप में दर्शन देते हैं और अपना अमोघ पाशुपत अस्त्र अर्जुन को देते हैं। अर्जुन की तपस्या सफल होती है।

× × ×

इस महाकाव्य में वे सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो महाकाव्य में होनी चाहिये।

इसमें प्रमुख वीररस होते हुए भी प्रसङ्गोपात्त शृंगार रस का भी यथेष्ठ वर्णन हुआ है। अन्य रस भी क्रमोपात्त स्वाभाविक रूप से वर्णित हुए हैं।

इस महाकाव्य के आरम्भिक श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग हुआ है और सभी सर्गों के अन्तिम श्लोकों में लक्ष्मी शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'मङ्गलाद्यानि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।' इसका महाकवि भारवि ने यथावत् पालन कर दिखाया है।

इस महाकाव्य में प्रकृति वर्णन अत्यन्त मनोमुग्धकारी हुए हैं। ऋतु वर्णन व चन्द्रोदय वर्णन, अनिर्वचनीय आह्लाद प्रदान करने में पूर्ण समर्थ हुए हैं। शरद् ऋतु का वर्णन चौथे सर्ग में देखिये कैसा वेजोड़ है। पंचम सर्गस्थ हिमालय वर्णन षष्ठस्थ अप्सरा प्रस्थान, अष्टमस्थ सुराङ्गना-विहार आ॰ नवमस्थ सुराङ्गना सम्भोग वर्णन अत्युत्कृष्ट हैं। अलंकार विन्यास भी अत्युत्तम हुआ है।

उपमा अलङ्कार का विन्यास करने में कवि कुल गुरु कालिदास की दिगन्त कीर्ति होते हुए भी उपमा का सफल प्रयोग करना महाकवि भारवि का ही

कार्य है। भारवि की उपमा भी अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य रखती है। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनो का प्रयोग बहुत ही अनूठा इस महाकाव्य मे देखने को मिलता है।

चित्रकाव्य की निर्मिती भी भारवि की मनोमुग्धकारी है। भाषा प्रमुग्ध की द्योतक है। महाकवि भारवि ने स्वय का राजनीति शास्त्र का नैपुण्य स्थान स्थान पर प्रदर्शित किया है।

भीमसेन द्रौपदी तथा युधिष्ठिर के सवाद नि सशय उच्चकोटि के है। राजनीति रसिको के लिए इस महाकाव्य के कथोपकथन, युक्ति प्रयुक्तियाँ, स्वपक्ष मण्डनार्थ प्रस्तुत तर्क विशेष रूप से उपादेय हैं।

विशेषत लोकतान्त्रिक राज्य शासन प्रणाली के आज के युग मे प्रत्येक भारतवासी वयस्क प्रबुद्ध व्यक्ति का सम्बन्ध राजनीति से साक्षात् अथवा परम्परा से होने के कारण यह महाकाव्य सबके लिय पठनीय है।

महाकवि भारवि और उनकी कृति की समीक्षा

सस्कृत साहित्य के इतिहास म महाकवि कालिदास के उत्तरवर्ती काल म महाकवि भारवि का ही अग्र-स्थान है। भारवि नि सन्देह उच्चकोटि के महाकवि माने जाते हैं।

भारवि विरचित किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की गणना सस्कृत के पच महाकाव्यो मे की जाती है। काव्य मर्मज्ञ विद्वानो के अनुसार महाकाव्य के लक्षणो के निकष पर यह एकदम खरा उतरा है। महाकवि भारवि काव्य के कलावादी ढाँचे के आद्य प्रवर्तक होने से ये ही उसके जनक माने जाते हैं।

उत्तरवर्ती काल मे जिसका अनुकरण अनेक ने किया है। भारवि के अनुकरण कर्ता कलावादी कवियो मे महाकवि माघ (सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध) प्रमुख है। माघ ने शब्दार्थ के गाम्भीर्य पर मुग्ध होकर भारवि का विशेष अनुकरण किया है। भारवि की तरह ही माघ ने भी काव्यारम्भ म श्री शब्द का प्रयोग किया है[1]। माघ ने भारवि से और आगे बढने के प्रयास मे नि सशय सफलता भी प्राप्त की है। भारवि ने अपने आराध्य आशुतोष शिव की महिमा का वर्णन अपने काव्य मे किया है। उसी का अनुकरण करते हुए माघ ने अपने

१ 'श्रिय पति श्रीमति शासितु जगत्...।'—माघ १।१

शिशुपालवधम् नामक महाकाव्य में अपने आराध्य विष्णु भगवान् की भक्ति का अनुपम प्रदर्शन किया है। भारवि ने सर्गान्त पद्यों में लक्ष्मी शब्द को प्रयुक्त किया है। इसका भी माघ ने अत्यन्त मनोरम ढंग से सफलता के साथ प्रति सर्गान्त श्लोकों में श्री शब्द का प्रयोग कर अनुकरण किया हुआ है। नैषधकार श्रीहर्ष[1] ने यद्यपि अपनी रचना को अति नव्य कहा है और अपने को ऐसे नव्य मार्ग का पथिक बताया है जो किसी पूर्ववर्ती कवि के द्वारा सर्वथा अदृष्ट है। किन्तु वे स्वयं को भारवि निर्मित काव्य कलावलय से असम्बद्ध नहीं रख पाये। भारवि ने अपनी काव्य रचना में सर्वाधिक ध्यान अर्थ-गाम्भीर्य को ओत-प्रोत करने में लगाया है तो श्रीहर्ष ने प्रौढ़ोक्ति तथा पदलालित्य पर अपना बुद्धि वैभव खर्च कर दिखाया है।

भारवि निर्मित कलावादी खेमे में अन्ततोगत्वा श्री हर्ष भी सम्मिलित हो ही गये। वर्ण्य विषय के विस्तार में श्रीहर्ष भारवि के अनुयायी न होना कौन प्रबुद्ध व्यक्ति स्वीकार करेगा ? उपजीव्य मौलिक कथा को श्री हर्ष ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से पल्लवित करते हुए भी भारवि प्रदर्शित कलापक्ष का निःसन्देह अनुसरण किया ही है। फलतः नैषधीय चरितम् में सर्वत्र सहज स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति बलवती हो उठी है। शब्द क्रीड़ा कलावाद का जीवनाधार महाकवि भारवि ने बनाया। श्रीहर्ष भले ही चित्र काव्य की निर्मिति में प्रवृत्त नहीं हुए किन्तु शब्द क्रीड़ा करने की आसक्ति का संवरण वे नहीं कर पाये। महाकवि भारवि के अर्थ गाम्भीर्य के शतशः उदाहरण किरातर्जुनीयम् में यत्र-तत्र मिलते हैं। (द्वितीय सर्ग में ही देखिये--श्लोक सं० २, ४, ५, ६, १०, ११, ३१ इ०)।

महाकवि भारवि के अर्थ गौरव को लक्ष्य कर किसी आलोचक कृष्ण कवि ने ठीक ही कहा है कि—

---

१. श्रीहर्ष का समय संस्कृत साहित्य के इतिहासकार बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं किन्तु डॉ० श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, अध्यक्ष; प्राच्य संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने अपने नवीनतम शोध प्रबन्ध में श्रीहर्ष काल विषयक मान्यता को खण्डित कर दिया है। इनके अनुसार श्रीहर्ष का स्थिति काल (अन्तःसाक्ष्य के आधार पर) नवम-दशम शताब्दी का मध्यकाल निःसंदेह माना जाना चाहिये।

'प्रवेशवृत्त्याऽपि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवि सत्पथ दीपिकेव रम्या कृति कैरिव नोपजीव्या ।

टीकाकार मल्लिनाथ ने भारवि की वाणी का यथार्थ वर्णन चित्रित करने हेतु जो श्लोक लिखा है वही भूमिका के प्रारम्भ मे हमने अंकित कर दिया है।

भारवि की वाणी शब्द जाल के कारण कुछ कठिन भले ही लगे किन्तु व्युत्पत्ति बल म जब वह कठिनाई पाठक दूर कर लेता है तब वही वाणी ऐसा रस बहाती है जो अद्वितीय एव अनुपम ही कहा जा सकता है। भारवि की वाणी की इस अनुपम विशेषता को मल्लिनाथ जैसा (किम्बहुना स्वय मल्लिनाथ ही) रसिक काव्य मर्मज्ञ विद्वान् ही समर्पक शब्दो म अभिव्यक्त कर सकता है। डॉ० भोलाशकर व्यास भारवि की वाणी को 'नारिकेल पाक' सज्ञा से अभिहित करते हैं। अर्थगौरव के महत्त्व को स्वय भारवि ने भी बडे ही रोचक ढग से कहा है (किराता० २।२७)।

भारवि का प्रत्येक शब्द साभिप्राय है। उसमे एक विशिष्ट अर्थ की गरिमा है। भारवि का वर्णन करने का ढग भी अनूठा है। भारवि की दृष्टि अति पैनी है। सूक्ष्मतम भावो का भी उन्होने बहुत विशद वर्णन किया है। देखिये अप्सरा वर्णन, शरद्वर्णन। वीर रस की अवतारणा करने मे भी अपूर्व सफलता पायी है। देखिये—किरात वेशधारी शिव के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन।

द्वितीय सर्ग म ही भीमसेन की उक्तियो म कैसा जोश है। सजीव उक्तियो के बल पर कवि ने वीर रस की अनोखी सृष्टि रच डाली है।

वीर रस प्रधान काव्य रचना का एकमात्र श्रेय महाकवि भारवि को ही प्राप्त है। 'रण्डागीतानिकाव्यानि' ऐसा कहना कितना हास्यास्पद है! यह दुरुक्ति किरातार्जुनीयम् न पढने के कारण ही निकल पडी होगी।

डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार—

भारवि वर्ण्य विषय को अवसरानुकूल शृगारिक रूप से भले ही चित्रित करता है और कवि कर्म की लोकप्रियता के उद्देश्य से भी उसमे शृगारिक भावो को बढावा दिया है किन्तु इससे किरातार्जुनीयम् को शृगार प्रधान काव्य नही समझना चाहिये। भारवि ने शृगार रस को यथास्थान समुचित विभावानुभाव और सचारि भावो से निष्पन्न किया है।'

प्रसङ्गोपात्त शृगार वर्णन किरातार्जुनीयम् मे होने पर भी वीर रस का

प्राधान्य होने से वह चित्तवृत्ति को विषयाभिमुख बनाकर वासनापरक नहीं बना पाता। देखिये आठवें सर्ग के ५१वें श्लोक को आक्षेपक उद्धृत करते हुए कहते हैं कि भारवि कालिदास कृत शृंगार वर्णन से तृप्त नहीं हुए अतः वे स्वयं अधिकाधिक उत्तेजक शृंगार वर्णन करने में प्रवृत्त होकर नग्नता की सीमा तक जा पहुँचते हैं'—विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेणवध्वा मदनार्द्र चेतसः। सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्ध मंशुकम्। '....वसन ग्रन्थि शिथिल पड़ने से वह निवस्त्र नहीं होने पायी। उसके द्वारा धारित कटि-सूत्र (करधनी-मेखला) ने उस समय वही कार्य किया जो एक सखी अपनी प्रिय सखी की लज्जा रक्षणार्थ करती है।' टीकाकार मल्लिनाथ का इस पर अभिप्राय यह है कि 'स्त्रीणां किल स्त्रीष्वेवायत्तं लज्जा रक्षणमिति भावः।' सन्मित्र लक्षणों में गुह्यनिगूहन भी एक अन्यतम कार्य सन्मित्र का कहा गया है (गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति)। इसी भाव को भारवि ने यहाँ हृद्य प्रकार से वर्णित किया है। प्रिय सखी की तरह करधनी ने गिरते हुए अंशुक को गिरने से रोक लिया जैसे प्रिय सखी अपनी सहेली की लज्जा रक्षण का मानो प्रयास कर रही हो।' शृंगार वर्णन के साथ ही मनोरम ढंग से सन्मित्र के कर्तव्य का गंभीर बोध भी कराने का भारवि का अपना एक अनूठा ही ढंग है। अश्लीलता शब्द निष्ठ न होकर भाव निष्ठ होती है। आक्षेपक का आक्षेप भ्रामक है न।[1]

प्रकृति चित्रण का अपूर्व सौन्दर्य भी भारवि की रचना में विपुलता से उपलब्ध है।

महाकाव्य होने से इसमें पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन प्रसाङ्गोपात्त कवि ने किया है। वर्णन विस्तृत है। विस्तृत वर्णन करना सदोष नहीं अपितु निरीक्षण की सूक्ष्मता का निदर्शक है। सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति होना असामान्यता का परिचायक है। सूक्ष्म निरीक्षण जन्य साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना अनिवार्य हो ही जाता है। साङ्गोपाङ्ग वर्णन श्रवण अथवा पठन का

---

१. द्वितीय सर्गस्थ भीमसेन की उक्तियाँ देखिये कैसी वीर रसोचित दर्प पूर्ण अथच ओजस्विनी हैं। 'मदांसक्तमुखैर्मृगाधिपः।'—कि० २।१७ तथा १७।६३।

धैर्य केवल सहृदयों में ही पाया जाता है। इसमें कवि का क्या दोष है? अरसिकेषु कवित्व निवेदन शिरसि मालिख मालिख मालिख इस प्रकार कोई कवि विधाता से इसीलिये अनुनय विनयपूर्वक प्रार्थना करता है। भारवि के वर्णन में सर्वत्र सजीवता विद्यमान है। चतुर्थ सर्गस्थ शरद् वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक अथच प्रभावोत्पादक है। इसमें किसी का मतभेद नहीं है। प्रदीर्घ वर्णन को कुछ लोग दोष मान बैठते हैं।

किन्तु इस मान्यता का कोई ठोस निश्चित प्रमाण भी वे आधार रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाते। प्रदीर्घ वर्णन से कथा प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। इतना कह देना अपर्याप्त है। महाकाव्य में सर्वत्र कथा प्रवाह अत्यन्त मन्थर गति से ही आगे बढ़ता है। गजगामिनी में मृग गति का अभाव तो होगा ही मृग सदृश द्रुत गामित्व का अभाव होने मात्र से गजगामिनी कामिनी की गति को सदोष कहना असहृदयता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? कुछ आलोचक प्रदीर्घ वर्णन में पुनरुक्तता का दोष देखते हैं। पुनरुक्ति निश्चित रूप से दोष है किन्तु पुनरुक्ति क्या है इसे सम्भवतः वे नहीं जानते। पूरे महाकाव्य में यथार्थ रूप से कहीं पर भी पुनरुक्ति नहीं है। वास्तविक विरोध और विरोधाभास का अन्तर सर्व संवेद्य नहीं होता उसी प्रकार 'कल जरूर जरूर आना' इस वाक्य में जरूर शब्द आपाततः पुनरुक्त सा प्रतीत होता है किन्तु यह द्विरावृत्ति सप्रयोजन है। उसी प्रकार सूक्ष्मतम भेदों को वर्णन करने से लगभग एक ही जैसा वर्णन प्रतीत हो सकता है किन्तु उसमें निश्चित रूप से किसी वैशिष्ट्य की ओर कवि इंगित करना चाहता है। उदाहरणार्थ—युद्ध वर्णन, अप्सरावर्णन, तथा प्रकृति वर्णन में ऐसे अनेक स्थल निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

किन्तु कहीं पर भी पुनरुक्ति नहीं है। सादृश्यवशात् पुनरुक्तवदाभास मात्र है।

चलचित्र पट की उपलब्धि होने से अब इस आक्षेप को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करना कठिन कार्य नहीं रहा है।

चलचित्र पट (फिल्म) में चित्रों में सादृश्य आपाततः दृष्टिगोचर होने पर भी उनमें सुनिश्चित रूप से अन्तर होता ही है, अन्यथा पर्दे पर चित्र गतिमान् तथा हिलते-डुलते नजर ही नहीं आ सकते, यह तथ्य अब रहस्य नहीं रहा है।

प्रत्येक चित्र में अन्तर तो अवश्य होता है किन्तु बहुत सूक्ष्मतम होने से

वह सहज बोधगम्य नहीं होता, उसी प्रकार सूक्ष्म निरीक्षक कवि के वर्णन में विपुल सादृश्य प्रतीत होने पर भी उसमें अन्तर अवश्य होता है, इसे कौन अस्वीकार करेगा ? इस अन्तर को समझना सबका काम नहीं है, अतः उसे भ्रमवश वे पुनरुक्ति कह देते हैं।

सभी महाकाव्यों का कथा सूत्र मन्थर गति से आगे बढ़ता है फलतः सामान्य पाठक कुछ-कुछ ऊबने लगता है। महाकवि भारवि इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं। वे गत्यावरोध को बड़ी खूबी के साथ दूर करने के लिए संवाद विन्यास अत्यन्त कुशलता के साथ ऐसे मनोमुग्धकारी ढंग से उपन्यस्त करते हैं जिससे कथासूत्र को आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। संवादों के कारण कथा सूत्र में रोचकता बढ़ती है।

संवादों के माध्यम से पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में भारवि ने अनुपम कुशलता प्रदर्शित की है।

संवाद के माध्यम से पात्रों के स्वभाव एवं मनोभाव को स्पष्ट रूप से अङ्कित किया गया है।

भारतीय कथा का भीम क्रोधी तथा उद्धत है किन्तु महाकवि भारवि ने अपनी प्रतिभा शक्ति से उसे राजनीति निपुण एवं बड़े भाई की मान-मर्यादा को स्वीकार करने वाला विनम्र बना दिया है। डॉ० हरिदत्त शास्त्री के अनुसार 'भारवि के पात्रों में अपना वैयक्तिक अस्तित्व, सजीवता, स्वाभाविकता तथा चारित्रिक दृढ़ता सभी अपेक्षित गुण विद्यमान हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारवि को पूर्ण सफलता मिली है।'

वर्णन-कुशलता

अद्वितीय प्रतिभा के धनी भारवि ने अर्जुन की अजेयता प्रदर्शित करने के लिये किरातवेशधारी शिवसेना के साथ उसका युद्ध कराकर उसके द्वारा शिव सेना का पराभव भी करा दिया है।

संस्कृत-साहित्य के इतिहासकार महाकवि भारवि को महाकाव्यों में अलंकृत शैली का जनक मानते हैं।

'उपमा कालिदासस्य' इस उक्ति से कालिदास के काव्य में उपमालंकार का बाहुल्य होना सूचित होता है। भारवि की कविता में भी उपमा का सरस और सफल प्रयोग हुआ है। किसी अलङ्कार तत्त्वविद् समालोचक ने भारवि द्वारा

किये गये उपमा पर मुग्ध होकर इन्हे आतपत्र भारवि की उपाधि से अलङ्कृत कर दिया, अन्यान्य अलकारो का प्रयोग स्थल निर्देश सहित परिशिष्ट क्र० २ मे देखिये।

व्यवहार मे नवीन नवीन अनेक अलकारो के निर्माण का कार्य धनी पुरुष के लिये ही सम्भव होता है। जिनमे यह क्षमता नही होती वे अलकार निर्माता पुरुष को अनावश्यक अलङ्कारों का दीवाना कह देते हैं और अपने मन की जलन को मिटाने का प्रयास करते हैं। उसी प्रकार काव्य मे अलकारो के प्रयोग से उसके कलेवर की शोभा वृद्धि करने का प्रयास करना सर्वसाधारण कविजनो का कार्य नही है इसके लिये भी बहुज्ञता, भाषाप्रभुता, विपुल शब्द धन सम्पन्नता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है तभी नवीन-नवीन अलङ्कारो का सृजन संभव हो सकता है। महाकवि भारवि की अलङ्कार सृजन शक्ति अद्भुत है। भारवि की अलङ्कारप्रियता दोष नहीं प्रत्युत उसकी क्षमता योग्यता की परिचायक है।

स्वय की अक्षमता छिपाने के लिये गुणो को दोष बताने की प्रवृत्ति अथवा न मिल सकने वाले अंगूरो को खट्टा कहने की प्रवृत्ति मनुष्य की दुर्बलता की ही परिचायक होती है। बडे-बडे विद्वान् भी इस असहिष्णुवृत्ति के शिकार होते हुए देखे जाते हैं। प्रो० कीथ ने महाकवि भारवि द्वारा एकाक्षर, द्वयक्षर, निरोष्ठ्य आदि श्लोको के प्रणयन को शब्दी क्रीडा की संज्ञा देकर नितान्त मूर्खता पूर्ण कह डाला है।

महाकवि भारवि का महाकाव्य किरातार्जुनीयम् सूक्ति रत्नो का मानो खजाना है। इसमे पग पग पर हृदयस्पर्शी सूक्तियो को बिखेरकर रोचकता को बढाया गया है। काव्य प्रणयन के अन्यान्य प्रयोजनो मे से एक 'व्यवहारविद' भी प्रयोजन है। भारवि ने अपने महाकाव्य के द्वारा व्यावहारिक शिक्षा को सुगम बनाने के लिये शाश्वत सत्य से लबालब भरे हुए सूक्ति रत्नो का प्रणयन कर दिखाया है। विधाता के सृष्टि का धनवान पुरुष धन बल से अलकार निर्माण कराने मे समर्थ हो पाता है किन्तु कवि सृष्टि मे शब्दधन एव प्रतिभा का स्वामी कवि अलङ्कार निर्माण तो करता ही है, साथ साथ सूक्ति रत्नो का प्रणयन भी स्वय कर लेता है। वह विधाता की सृष्टि के धनी पुरुष की तरह अलङ्कारार्थ अपेक्षित रत्नों के लिये परावलम्बी नहीं होता। यह तथ्य भारवि की कृति मे सर्वत्र उजागर है।

भाषा और शैली

भारवि की कविता प्रसादगुण युक्त है। कालिदास की कविता को आलोचकों ने द्राक्षापाक कहा है। द्राक्षापाक मुख में डालते ही घुल जाता है, कालिदास की कविता श्रवण काल समकाल ही हृदयंगम होने से उसे द्राक्षापाक की संज्ञा दी गई है। द्राक्षापाक शीघ्र घुल जाने से सहज मुखगव्हर में उतर जाता है फलतः रसना अधिक समय तक रसास्वादन करते रहने से वंचित भी होती रहती है। नारिकेलपाक में यह दोप नहीं है इसमें रसना और हृदय दोनो की सन्तुष्टि साथ-साथ होती रहती है और देर तक होती रहती है। प्रदीर्घ समासों का प्रायः भारवि की कृति में अभाव होने से वैदर्भीरीति है। कालिदासीय काव्य में भी वैदर्भीरीति है किन्तु भारवि की उससे कुछ भिन्नता लिये हुए है। कालिदासीय शैली में भावपक्ष ही प्रधान है।

कोरी भावना से ही सब कुछ नहीं होता, इस तथ्य से भारवि पूर्ण अवगत हैं अतः उन्होंने भावपक्ष के साथ पाण्डित्य प्रदर्शन भी किया है। कोई भी बात नवीन होने पर कठिन मालूम होना स्वाभाविक है। काव्य प्रयोजनों में शिक्षा देना भी है ही, अतः काव्य के माध्यम से व्याकरण जैसे नीरस विपय को कवि सुगम बनाकर प्रस्तुत करता है तो वह प्रशंसनीय ही है। व्याकरण को मुख कहा गया है। मुख के परिचय के बिना किसी की पहिचान होना असम्भव होता है, भावाभिव्यक्ति का माध्यम शब्द ही है, भाव समझने के लिये शब्द शास्त्र व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य ही है, इसीलिये कहा जाता है कि—

'अवैय्याकरणस्त्वन्धः'

व्याकरण ज्ञान शून्य व्यक्ति अन्धा है। काव्य पाठकों का अन्धत्व निवारण करने के लिये भारवि द्वारा यत्र-तत्र पाण्डित्य प्रदर्शन एवं व्युत्पत्ति प्रदर्शन को अपनाकर व्याकरण जैसे नीरस एवं क्लिष्ट विपय को सरस एवं सुबोध बनाने का प्रयास निःसंशय लोकोपकारी ही है।

फलतः परवर्ती कवियों ने भारवि के इस लोकोपकारी पुनीत कार्य का अनुकरण किया है। अनुकरण कर्ताओं में महाकवि माघ, श्रीहर्ष, भट्टी आदि हैं।

भाषा की शिक्षा परिचय से ही होती है। क्लिष्टता प्रथम परिचय तक ही सीमित होती है। पाण्डित्य-प्रदर्शन काव्य को क्लिष्ट बनाने के लिये नहीं अपितु

जन साधारण को भाषा समझने मे आने वाली क्लिष्टता को दूर करने के लिये ही भारवि द्वारा अपनाया गया है तभी तो अन्य महाकवियों ने उसका अनुकरण किया है। जैसे—तन् धातु का बहुविध प्रयोग, अतीत का वर्णन करने हेतु लिट् लकार का प्रयोग, अपरोक्षभूतकाल की घटनाओं को प्रदर्शित करने हेतु लङ् लकार तथा लुङ् लकार का प्रयोग कर दिखाया है।

भारवि की कृति मे वर्णनात्मक और तर्कात्मक ओज का बाहुल्य है। अर्थ गौरव युक्त पद विन्यास करने मे भारवि की सफलता मनोमुग्धकारी है।

प्रबन्ध काव्यों के विकास मे भारवि का स्थान अत्यन्त ऊंचा तथा अनुकरणीय माना जाता है।

डॉ० डे के अनुसार—'भारवि की कृति मे शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है।'

डॉ० आर० सी० दत्त के अनुसार—'भारवि विचार एवं भाषा के ओज का, अभिव्यंजना मे एक स्फूर्तिमय तथा उदात्त व्यञ्जकता पर गर्व करता है जिसकी समानता कालिदास शायद ही कर पाते हैं।'

विचारों की स्फूर्ति और उनकी उच्चकोटि की अभिव्यक्ति करने मे महाकवि भारवि की अनुपम सफलता विद्वज्जन मानते हैं।

परवर्ती कलावादी माघ श्री हर्ष आदि की तुलना मे महाकवि भारवि का स्थान निःसंदेह ऊंचा और प्रशंसनीय है।

विद्वज्जनों मे यह मान्यता पायी जाती है कि भारवि के यश से माघ तिलमिला उठे और उसके यश को कम करने हेतु उन्होंने शिशुपालवधम् नामक महाकाव्य की रचना की (महाकवि भारवि ने इसे 'महीयसां प्रकृतिः खलु या नान्य समुन्नति सहते' कहा है)।

माघ के काव्य की प्रशंसा मे निम्न उक्ति कही जाती है—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव॥'

यदि इसमे सत्यांश है तो भारवि का यश माघ का प्रेरक है, इसमे सन्देह नहीं है। माघ ने भारवि का अनुकरण किया किन्तु भारवि जैसी स्वाभाविकता, सरसता एवं अकृत्रिमता उनके महाकाव्य मे पायी नहीं जाती। कालक्रम के

अनुसार भी कालिदास के पश्चात् भारवि का स्थान आता है, इसमें संशय नहीं है।

आधुनिक समीक्षकों के मत में भारवि की कृति में कुछ दोष स्थल भी हैं। यह विषय विवाद्य है और बी० ए० परीक्षार्थियों के चिन्तन परिधि में कथमपि न आने जैसा होने से इस विवाद्य विषय में डॉ० राय रामचरण जी अग्रवाल महोदय की तरह हम भी मौन रहना ही उचित समझते हैं।

संस्कृत साहित्य शास्त्र की कसौटी पर यह महाकाव्य समग्र रूप से एकदम खरा उतरा है। आचार्य भामह के महाकाव्य लक्षणों से इसकी संगति अधिक है।

तुलना के आधार पर समीक्षा करना न्यायोचित नहीं है।

द्वितीय सर्गस्थ सूक्ति[1] संग्रहः

श्लो० सं०

१ 'अनिर्वीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ।' ४
२ 'ननु वक्तृविशेष निःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ।' ५
३ 'निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ।' १५
४ 'लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ।' १८
५ 'अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ।' १९
६ 'अभिभूति भयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ।' २०
७ 'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्य समुन्नतिं यया ।' २१
८. 'अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।' २९
९ 'सहसा विदधीत न क्रियाम्,'
१० 'अविवेकः परमापदाम्पदम् ।'
११ 'वृणते हि विमृश्यकारिणं गुण-लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।' ३०
१२ 'शुचि भूषयति श्रुतं वपुः',
१३ 'प्रशमस्तस्य भवत्यलक्रिया ।'
१४. 'प्रशमाभरणं पराक्रमः''' '।' ३१

---

१. सु (एक निपात जो कर्मधारय और बहुव्रीहि समास करने के लिए संज्ञा शब्दों से पूर्व जोड़ा जाता है, विशेषण और क्रिया-विशेषणों में भी जुड़ता है।)+उक्ति=अच्छा अथवा सौहार्दपूर्ण भाषण, चातुर्यपूर्ण कथन, अच्छा बोला हुआ।
ऐसा पद्यांश जिसका अर्थ अपने आपमें परिपूर्ण हो। सूक्ति वह है जिसमें वैश्विक शाश्वत सत्य ओत-प्रोत होता है।

१५. 'अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं शेपमयं वियापुरः,
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रमयानांशुमताप्युदीयते ।' ३६

१६. 'शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि वहुच्छलाः श्रियः ।' ३९

१७. 'न तितिक्षा सममस्ति साधनम् ।' ४३

१८. 'अखिल हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्पजोऽनलः । ५१

१९. 'विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ।' ५२

छात्रों को इन सूक्तियों को कण्ठस्थ कर लेना चाहिये । (इनका अर्थ तत् तत् श्लोकों में यथा-स्थान दिया गया हैं) किसी भी भाषा पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये उस भाषा की सूक्तियों को कण्ठस्थ करना हितावह होता है । परीक्षा की दृष्टि से इनका विशेषाध्ययन अत्यावश्यक है ।

साहित्यिक संस्कृत का गंभीर (तलस्पर्शी) अध्ययन करने के लिये सूक्ति परिचय महत्वपूर्ण है । सूक्तियों के माध्यम से ही छात्र वाक् सम्प्रदायों से अवगत हो सकते हैं । वाक् सम्प्रदायों से अवगत हुए विना भावाभिव्यक्ति करने में प्रौढ़ता और निपुणता प्राप्त करना असम्भव है । इसी दृष्टिकोण से प्रत्येक श्लोक की व्याख्या के अन्त में कवि प्रयुक्त शब्दों का संस्कृत साहित्य में कहाँ, किसने, कैसा, किस अर्थ में प्रयोग किया है । यह ससंदर्भ प्रायः सावतरण उधृतकर अर्थानुसन्धानार्थ प्रेरित किया है । सूक्ति पाठ का महत्व किसी विज्ञ ने इस प्रकार बताया है कि—

'अवसरपठितावाणी गुण-गण रहिताऽपि शोभते पुंसां, रति-समये रमणीनां भूषा-हानिस्तु भूषणं भवति ॥'

× × ×

पात्र-परिचयः

वनेचर	=	युधिष्ठिर का गुप्तचर ।
युधिष्ठिर*	=	महाराज पाण्डु के प्रथम पुत्र धर्मराज ।
भीम*	=	,, ,, द्वितीय पुत्र ।
अर्जुन	=	,, ,, तृतीय पुत्र ।
नकुल	=	,, ,, चतुर्थ पुत्र ।
सहदेव	=	,, ,, पञ्चम पुत्र ।
द्रौपदी	=	पञ्च पाण्डवों की धर्मपत्नी ।

दुर्योधन	=	कुरुदेशाधिप धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र।
राधेय कर्ण	=	कुन्तीपुत्र—सूर्य का औरस।
भीष्म	=	महाराज शन्तनु के पुत्र—भीष्म पितामह।
जामदग्न्य	=	परशुराम।
द्रोण	=	पाण्डवों और कौरवों के गुरु (द्रोणाचार्य)।
यक्ष	=	इन्द्र का दूत।
व्यास*	=	पराशर पुत्र महाभारत रचयिता।

द्वितीय सर्गस्थ पात्रों का चरित्र-चित्रण

(१) युधिष्ठिर

शान्त गम्भीर प्रकृति के क्षत्रिय हैं। ये सदा कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय गम्भीरता के साथ करते हैं। मनुष्य स्वभावत प्रमादी होता है, अत प्रमाद करता है किन्तु मनुष्य म मनन शक्ति होने से अपने कृत्याकृत्य का मनन कर की हुई गलती को सुधारने का भी प्रयास मनुष्य ही करता है। मनुष्य में और पशु म यही अन्तर होता है। युधिष्ठिर ने वचक दुर्योधन के साथ द्यूत खेलकर अपना सर्वस्व खो देने की भयकर भूल की। राजप्रासाद का निवास छोडकर वे द्वैत वनवासी हो गये किन्तु मननोत्तर उनकी भूल उनके दु ख का कारण है, यह समझने में उन्हें विलम्ब नहीं लगा। अत पुन राज्य वैभव-प्राप्ति के उपाय करना उन्होंने प्रारम्भ किया। उन्होंने गुप्तचर के द्वारा दुर्योधन की राज्य शासन पद्धति का प्रभाव प्रजाजनों पर कैसा है यह जाना, द्रौपदी और भीमसेन के द्वारा युद्ध करने के लिये अनेक प्रकार से उकसाये जाने पर भी युधिष्ठिर ने अपनी गम्भीर वृत्ति का परित्याग नहीं किया। भारवि के द्वारा युधिष्ठिर त्यागी तपस्वी किन्तु विचारक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

(२) भीमसेन

शक्ति और बुद्धि का समन्वित रूप भीमसेन हैं। शरीर बल सम्पन्नों मे भीमसेन अग्रगण्य हैं उसी प्रकार वे बुद्धिमता वरिष्ठम् भी है।

भीमसेन मे अपने भाइयों के प्रति अगाध अनुराग है, ज्येष्ठ भाई युधिष्ठिर

---

* द्वितीय सर्ग मे केवल तीन ही सामने आते हैं।

के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी उनमें है। प्रायः बलशाली व्यक्ति उद्धत स्वभाव के होते हैं किन्तु भारवि का भीमसेन स्पष्ट वक्ता होकर भी विनम्र है, हठी नहीं है। युधिष्ठिर की आज्ञा के विपरीत आचरण करने की सामर्थ्य होते हुए भी वे मर्यादावश नहीं करते।

भीमसेन जो चाहते हैं उसे करने के लिये बड़े भाई युधिष्ठिर की वे अनुनय-विनय करते हैं। विचार विनिमय में वे विश्वास करते हैं। पृथकतावादी वे नहीं हैं। 'साथ-साथ रहेंगे और साथ-साथ सुख-दुःख भोगेंगे' इस संयुक्त कुटुम्ब के आधारभूत सूत्र का वे कठोरता से पालन करने वालों में आदर्श हैं।

मानवोचित क्रोध उनमें भी है किन्तु मर्यादा के अंकुश से उन्होंने उसका दमन भी किया है।

(३) महामुनि व्यास

व्यास ऋषि हैं, सत्य और गुणों के पक्षपाती हैं। अतः पाण्डवों के हित-चिन्तक हैं। व्यासजी ज्ञानी और कर्मठ हैं।

द्वितीय सर्गस्थ कथा वृत्तान्त सारः

वीररमण्याः मनस्विन्याः द्रौपद्याः भाषणं श्रुत्वा सुप्रसन्नः भीमसेनः तत् समर्थनं कर्तुकामः धर्मराजं युधिष्ठिरं प्रति वक्तुं प्रारभते। गुणैकपक्षपातिनः महात्मानः वक्तृविषये स्त्री पुम्सादि भेदं न पश्यन्ति। अतः स्त्रियोक्तमपि एतद् भाषणं तत्रभवता ग्राह्यमेव। क्लिष्टस्यापि राजनीतिशास्त्रस्य सत्यपि बोद्धरि तदुपदेष्टा तु विरलः तथापि इयं मनस्विनी द्रौपदी सम्यक् उपदिष्टवती। यथा रुजार्तानाम् अप्रियमपि औषधं सुखपर्यवसायी भवति तद्वत् द्रौपदी भाषणमपि आपाततः उद्वेगकरं प्रतिभाति तथापि तत् मङ्गलपरिणामकारी।

क्षात्रतेजधारी योजनः सः शत्रुजनानाम् उन्नतिं कथंसोढुं शक्नुयात्? महीयसः स्वभावोऽयं यत् ते अन्येषां समुन्नतिं न सहन्ते। अतः शत्रुन् आक्रम्य हृतं राज्यं गृहीतव्यम् एवं रूपं कोपोद्दीपकभाषणं कृत्वा विरतवचसि भीमे युधिष्ठिरः मद-मत्तगजवत् तं मधुर वचसा परिसान्त्वयितु मारेभे।

भीमसेनोक्तं सर्वमेव शास्त्र-युक्ति-समन्वितम् नास्त्यत्र सन्देहलवलेशः इत्युक्त्वा स्वमतं धर्मराजो युधिष्ठिरः प्रकटितवान्—

हे भीमसेन! त्वदुक्तं सर्वमेव सत्यं तथापि मे मनः अतृप्तया सिद्धान्त-

(निर्णय) पक्षमेव अभिधावति । अविमृष्य सहसा किमपि न कर्त्तव्यम् । समयविरुद्ध कृत कार्यं सिद्धिद न भवति ।

दुर्योधन. विवेकशून्य, विवेकशून्यत्वात् तस्य पतन सुनिश्चितमेवास्ति । अत तस्य आपातोत्कर्ष सहनीय । समागते समुचिते समये अस्माभि आक्रम्य हृत स्वराज्य पुन गृहीतव्यमेव । भीम प्रति एव रीत्या राजनीतिमुपदिशति धर्मराजे महामुनिर्व्यासस्तत्र आजगाम । समागत महामुनि व्यास नेत्रगोचर कृत्वा राजा युधिष्ठिर स्वासनात् समुत्थाय अर्घ्यपाद्यादिभि. विधिवत् न सम्पूज्य तदनुमत्या पुन स्वासनम् अलञ्चकार ।

द्वितीय सर्ग का हिन्दी कथासार

मनस्विनी द्रौपदी का भाषण सुनकर प्रसन्न हुआ । भीमसेन धर्मराज युधिष्ठिर से बोला ।

गुणो मे निष्ठा रखने वाले सज्जन पुरुष, भाषण कर्ता पुरुष है अथवा स्त्री है—इस विषय मे उदासीन होते हैं । सु-भाषण कर्ता पुरुष है अथवा स्त्री है, ऐसा भेद वे नही करते हैं । अत आप स्त्री के द्वारा सुभाषी गई बात की उपेक्षा न करें । अत्यन्त दुर्बोध राजनीति शास्त्र का श्रोता मिलने पर भी उसका उपदेशक मिलना बहुत कठिन होता है । किन्तु इस मनस्विनी द्रौपदी ने जो कुछ कहा वह सब ठीक है । जैसे रोगी को आरोग्यप्रद औषधि भी रुचती नही है, किन्तु अरुचिकर वह औषधि सेवन करने पर परिणाम सुखावह होता है । उसी प्रकार द्रौपदी द्वारा कही गयी बातें आपातत उद्वेगजनक भले ही मालूम पडती हो किन्तु अन्ततोगत्वा उनका अनुसरण निश्चय ही मङ्गलजनक ही है । क्षात्रतेज को धारण करने वाला कौन मनस्वी पुरुष शत्रुजनो की दिनो-दिन होने वाली समुन्नति को सहेगा ? बडे लोगो का तो यह स्वभाव ही होता है कि वे दूसरे की उन्नति सहन नही कर सकते हैं । अत शत्रु पर आक्रमण कर अपना छीना हुआ राज्य पुन वापस ले लो । इत्यादि अनेक प्रकारो से क्रोधो-द्दीपक वाक्यो को कहकर रुठे हुए भीमसेन को मदमत्त बिगडे हुए हाथी को जैसे कुशल महावत मधुर शब्दो से काबू (वश) मे करता है । उसी प्रकार कुशल धर्मराज युधिष्ठिर ने मधुर शब्दो से भीमसेन को समझाते हुए—(जो तुमने कहा वह सब उचित होते हुये भी मेरा अतृप्तमन सिद्धान्त पक्ष की ओर ही खिचा जा रहा है । बिना सोचे-समझे कुछ भी नही करना चाहिये । असमय मे

किया हुआ कार्य सिद्धि देने में सर्वथा असमर्थ होता है। विवेक रहित दुर्योधन का पतन तो अवश्यंभावी है। आपाततः उसका उत्कर्ष जो दिखायी दे रहा है। वह तो सहलेना ही उचित होगा। हम उचित समय आने पर उस पर चढ़ायी कर अपना राज्य पुनः वापस ले लेंगे।' इस प्रकार भीमसेन को जब राजा युधिष्ठिर समझा रहे थे तभी महामुनि व्यास जी वहाँ आये। राजा युधिष्ठिर ने जैसे ही महामुनि को वहाँ आते हुए देखा तत्काल राजा युधिष्ठिर अपने आसन से उन्हें उत्थापन देने हेतु उठ खड़े हुए। अर्घ्य-पाद्यादि द्वारा उनका यथोचित सत्कार कर महामुनि व्यासजी द्वारा निर्दिष्ट स्वासन पर राजा युधिष्ठिर पुनः विराजमान हुए।'

अस्मिन् द्वितीये सर्गे धर्मराजं युधिष्ठिरं प्रति भीमसेनोक्तिः

मनस्विनी द्रौपदी यदुक्तवती तत् देवगुरुः वृहस्पतिः अपि वक्तुं न समर्थः। राजनीतिशास्त्रस्य सत्यपि श्रोतरि दुर्लभो वक्ता। इयं द्रौपदी स्वयं स्त्री भूत्वापि राजनीतिशास्त्राविरोधी हित कृत्यं समुपदिशति इति आश्चर्यकरं प्रतिभाति। औषधवत् परिणामसुखावहमिदं द्रौपदी भाषणम्। गुण ग्राहकाः सज्जनाः वक्तृविशेषे स्त्री पुम्सादि भेदं न पश्यन्ति। यतः सुभाषितं सर्वतः ग्राह्यमेव भवति। तत्र भवन्तस्तु गुणैकपक्षपातिनः अतः द्रौपदी भाषणं नोपेक्षणीयम् तन्तु सहर्ष ग्राह्यं स्वीकर्तव्यमत्र।

सर्वशास्त्रपारगामिनी अपि ते बुद्धिः कथं विपर्यस्ततां प्राप्य अवसीदति?

शत्रुजनानां शुभावहोत्कर्षस्तु नोपेक्षणीयः। पञ्चाङ्गविनिर्णयपूर्वकं नय प्रयोगेणैव कार्यसिद्धिः भवितुं अर्हति। अतः राजनीतिसम्मतं विक्रम्य हृतं राज्यं पुनः स्वायत्तीं कर्तव्यम्। पराक्रमरहितः पुरुषः लघुतामेति। लघुत्वं गतः पुरुषः राज्यश्रीं न प्राप्नोति। अतः उत्कर्षविरोधिनम् अनुत्साहं परित्यज्य पराक्रमितव्यम्। शत्रुकृतस्य अवधेः प्रतीक्षा न कार्या। दुर्योधनः अवधिपालनानन्तरमपि राज्यं न समर्पयिष्यति इति सुनिश्चितमस्ति। तेन प्रदत्तेऽपि राज्ये तव बन्धुजनानां बाहुबलं व्यर्थं स्यात! मनस्विनः पुरुषाः प्राणव्ययेनापि कीर्ति रक्षन्ति। ते लक्ष्मीलाभन्तु आनुशङ्गिकं मन्यन्ते।

इदानीमपि तवशत्रवे विपत् न उपस्थिता। इत्यत्र तव अनुत्साहः एव कारणम् अस्ति। शत्रुभिः सह युद्धे अस्माकं पराजयस्य आशङ्कापित्वया न कार्या। तवानुजन्मनां भुजबलं शत्रुवर्गेषु न कोऽपि सोढुं शक्तः। अहं हि कामये—तव रिपुस्त्रीणां नेत्राश्रुजलैः तव क्रोधाग्निः परिशाम्यतु इति।'

द्वितीय सर्गस्थ भीमसेन के भाषण का हिन्दी सारांश

मनस्विनी द्रौपदी एक स्त्री होकर भी जो उसने कहा वह सब नीतिशास्त्र सम्मत ही है। ऐसा देव गुरु बृहस्पति जी भी भाषण करने में (कदाचित्) समर्थ नहीं होंगे। राजनीति शास्त्र अत्यन्त दुरूह (कठिन) होने से श्रोता मिलने पर भी उसका उपदेशक मिलना प्रायः कठिन ही होता है। द्रौपदी स्त्री होकर भी ऐसा राजनीति शास्त्र का उपदेश करती है। यही आश्चर्य है। जैसे रोगी को औषधि अरुचिकर होती है उसी प्रकार द्रौपदी भाषण अरुचिकर आपाततः भले ही मालूम पड़े किन्तु औषधिवत् ही परिणाम—सुखावह निश्चित ही है। आप गुण ग्राहक हैं। अतः आप इसकी स्त्रीजनोक्त होने मात्र से ही उपेक्षा न करें। गुण ग्राहक सज्जन लोग सुभाषितकार स्त्री है या पुरुष है—ऐसा नहीं सोचते। वे निःसंकोच उसको ग्रहण कर लेते हैं। सभी शास्त्रों में पारगामी आपकी बुद्धि इस समय इस विषय में उलटी क्यों हो रही है? बुद्धि उलटी हो जाने के कारण वह भिन्न हो रही है।

शुभ पर्यवसायी शत्रु की उन्नति उपेक्षणीय नहीं होती। पञ्चाङ्ग निर्णय-पूर्वक किये गये नीति प्रयोग के द्वारा ही कार्य की सिद्धि होती है। अतः राजनीति शास्त्र सम्मत पराक्रम कर शत्रु द्वारा छीने गये अपने राज्य को पुनः प्राप्त करो। पराक्रमहीन पुरुष लघुता को प्राप्त होता है। लघुता को प्राप्त हुआ पुरुष राज्यलक्ष्मी को प्राप्त नहीं कर पाता।

अतः यदि राज्य की कामना रखते हो तो उन्नति विरोधी अनुत्साह का परित्याग करो। उत्साह धारण कर पराक्रम करो। शत्रु द्वारा किये गये समय की प्रतीक्षा न करो। क्योंकि दुर्योधन युद्ध के बिना राज्य लौटायेगा नहीं। राज्य बिना युद्ध के लौटा देने पर भी आपके बन्धुजनों का बाहु-पराक्रम निष्फल होगा।

मनस्वीजन प्राणों की बाजी लगाकर भी कीर्ति की रक्षा करते हैं। लक्ष्मी लाभ तो वे आनुषङ्गिक (गौण) ही मानते हैं। आपके शत्रु को अभी भी विपत्ति प्राप्त नहीं हो पा रही है, इसमें केवल आपका अनुत्साह ही एकमात्र कारण है। युद्ध में हम लोगों के पराभव की आशङ्का भी आप न करना। क्योंकि आपके छोटे भाइयों के पराक्रम को सहने वाला आपके शत्रु वर्ग में है ही कौन ऐसा जो सह सके? मैं तो यही कामना करता हूँ कि—'आपके शत्रुजनों की

आपके पराक्रम से विधवा बनी स्त्रियों के नेत्रों से निरन्तर स्रवित होने वाला अमङ्गल सूचक अश्रु प्रवाह आपके क्रोधाग्नि को शान्त करें।' इति।

द्वितीये सर्गे भीमसेनं प्रति युधिष्ठिरस्य सान्त्ववादः

हे भीमसेन ! त्वया यदुक्तं तत् सर्वमेव सत्यं युक्ति-युक्तं नास्त्यत्र सन्देह लवलेशः। त्वया विना कोऽन्यः एवं वक्तुं समर्थः तथापि मम मनः सिद्धान्तपक्ष मेव अभिधावति। अविमृष्यकारिता सर्वविधं विपत्तिमूलं भवति अतः सर्वं विमृष्यैव कर्तव्यम्। लाभ-हानिं विविच्य कार्यकरणेन कार्यसिद्धिः सुनिश्चिता भवति। उन्नतिकामुकैः प्रागेव क्रोधः परित्याज्यो भवति। अविजितेन्द्रियैः पुरुषैः राज्यलक्ष्मीं प्राप्य अपि ते तां रक्षितुं न प्रभवन्ति। अतः प्राकृतजनवत् अनवसरे क्रोधं कृत्वा नयसाध्यफलात् भवादृशानांच्युतिः (पतनम्) सर्वथा अशोभना प्रतिभाति।

शास्त्रपठिताः अपि पुरुषाः ये क्रोधादि संवेगान् न दमयन्ति अचिरादेव तेषां लक्ष्मीभ्रंशः जायते। अस्मिन् संसारे तितिक्षासमं कार्यसाधकम् अन्यत् साधनं नास्ति। वृष्णिवंशोद्भवाः विनयनम्रान् अस्मान् विहाय दुर्योधनं चिरकालपर्यन्तं नोपास्यन्ति। अन्येऽपि नृपाः ये तत् पक्षीयाः दुर्योधनात् भेदं प्राप्य अस्मत्पक्षं समाश्रयिष्यन्ति। राज्यमदोन्मत्तः दुर्योधनः स्वयमेव तेषां तिरस्कारंकृत्वा तान् भेद्योग्यान् करिष्यति। भेदेन जर्जरदशां गतः शत्रुः सहिष्णुना पुरुषेण आयासं विनैव जेतुं शक्यः भवति। बुद्धिमान् पुरुषः विनयशून्यस्य शत्रोः आपात-रमणीयां समुन्नतिं समुपेक्ष्य कस्मिंश्चित् रिपुरन्ध्रे सम्प्राप्ते तं नाशयेत् वयमपि सम्प्राप्ते सु-अवसरे शत्रुमाक्रम्य विनाश्य च तं तेन च कपटाहृतं राज्यं पुनः गृहीष्यामः॥

द्वितीय सर्गस्थ भीमसेन के प्रति युधिष्ठिर के सान्त्वनायुक्त भाषण का सारांश

हे भीमसेन ! तुमने जो कुछ कहा वह सब सत्य और युक्तियुक्त है, किन्तु मेरा मन सिद्धान्त पक्ष की ओर ही झुका जा रहा है।

बिना सोचे कार्य करने की प्रवृत्ति सब प्रकार के विपत्तियों की जड़ है। अतः सभी कार्य खूब सोच-समझकर ही करने चाहिये। उन्नति की कामना करने वालों को पहले ही क्रोध का परित्याग कर देना चाहिये। अजितेन्द्रिय पुरुष राज्य लक्ष्मी को प्राप्त करके भी उसकी रक्षा में समर्थ नहीं होते हैं।

अत प्राकृत मनुष्य की तरह विना अवसर के क्रोध कर नीति साध्य फल से आप जैसा की च्युति (पतन) अशोभनीय है।

शास्त्र पढकर भी जो मनुष्य क्रोधादि मानसिक सवेगो का दमन नहीं करत उनका शीघ्र ही राज्यलक्ष्मी से भ्र श हो जाता है।

इस ससार मे तितिक्षा के समान कार्यसाधक दूसरा कोई साधन नही है।

वृष्णिवशोदभव पराक्रमी एव मनस्वी क्षत्रिय विनय के कारण विनम्र हम लोगा को छोडकर चिरकाल तक वे दुर्योधन की उपासना नही कर सकत। और भी जो नृपगण उनके पक्ष क हैं उन्हे स्वय दुर्योधन (जो राजमद से उन्मत्त हो रहा है) तिरस्कृत करगा। वे तिरस्कार सहन नही कर पावेंग। फलत दुर्योधन म और उनम फट (भेद) पडेगी। अन्ततागत्वा वे उसके पक्ष का परित्याग कर हमारे पक्ष म आकर मिलेंग। भेदजर्जरित शत्रु को अनायास सहिष्णु पुरुष के द्वारा जीता जा सकता है। बुद्धिमान् पुरुष विनयरहित शत्रु की आपात रमणीय उन्नति को सहता रहे।

शत्रु स्वय ही अपन अविनय स फूट का शिकार बनेगा। आपसी फूट के कारण उस पर लगातार विपत्तियाँ आन लगेंगी जब वह शत्रु विपत्ति ग्रस्त होगा उसी समय बुद्धिमान पुरुष उस पर आक्रमण कर उसका विनाश कर डाले। हम भी कोई अच्छा हमारे लिये अनुकूल अवसर आने पर शत्रु पर अवश्य आक्रमण करेंगे और उसका विनाशकर उससे कपट से छीना हुआ हमारा राज्य हम पुन वापस लेंगे।

॥ श्रीः ॥

महाकवि भारवि प्रणीतं

किरातार्जुनीयम् (द्वितीय सर्ग :)

म० म० मल्लिनाथकृतं मङ्गलाचरणम्

अर्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् ।
पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
आलम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् ।
शुष्यन्ति यद्रजः स्पर्शात् सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रकाशात् प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैय्यासकी ।
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ॥
वाचामाचकलद्रहस्य मखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां ।
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

अथ म० म० मल्लिनाथसूरिविरचिता प्रस्तावना—

मल्लिनाथ कविः सोऽयं महोपाध्याय शब्द भाक ।[1]
तत् किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥

---

१. पूर्वंग्वालियर–राज्य–राजसभा–प्रधानपण्डित महामहोपाध्याय—सदाशिव-शास्त्रिमुसलगांवकर-महोदयानां संग्रहस्थे प्राचीने ग्रन्थे—'मन्दात्मानुजिघृक्षया ।' इति पाठः ।

नारिकेल-फल-सम्मितं वचो भारवेः सपदि तद् विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भ निर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥
नाना निबन्ध विषमैकपदैर्नितान्त माशङ्कनात्श्रमणखिन्नधियामशङ्क ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारवि-काव्यबन्ध घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

प्रतिज्ञा

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

॥ श्री ॥

- अथ प्रथमसर्गस्थ द्रौपदी भाषणानन्तरं तद् भाषणं सारवत्तरं मन्यमानः तदाशयं शास्त्र युक्तिभिः समर्थयितुं वृकोदरो भीमसेनः युधिष्ठिरं प्रति कथयति
- प्रथम सर्गस्थ द्रौपदी के भाषण के पश्चात् उस भाषण को सारयुक्त तथा सामयिक मानने वाला वृकोदर भीमसेन द्रौपदी के आशय को शास्त्र और युक्ति से पुष्ट करने की इच्छा से बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति कहता है—

विहितां प्रियया मनः प्रियाम्
अथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं
नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥१॥

सुबोधिनी

बालानां सुखबोधाय नत्वा साम्ब सदाशिवम् ।
विचार्य सुधिया वाचं कुर्वे टीकां सुबोधिनीम् ॥
अथातः द्वितीयसर्गं व्याख्यास्यामः —

अन्वय

अथ वृकोदरः प्रियया विहितां मनः प्रियां गिरं गरीयसीं निश्चित्य नृपम् उपपत्तिमत् ऊर्जिताश्रयं वचनं ऊचे ।

शब्दार्थ

अथ=द्रौपदी के भाषण के पश्चात्, वृकोदर=भीमसेन, प्रियया=प्रिया द्रौपदी के द्वारा, विहिता=कही हुई, मनः प्रिया=मन सन्तोषकारिणी, गिरं=

वाणी को (भाषण को), **गरीयसीं**=गुर्वर्थ (श्रेष्ठ अर्थ से) सम्पन्न, **निश्चित्य**=निश्चित कर, **नृपं**=धर्मराज युधिष्ठिर को, **उपपत्तिमत्**=युक्तिसंगत, **ऊर्जिताश्रयं**=उदारार्थसम्पन्न, **वचनं**=वाक्य, **ऊचे**=बोला।

हिन्दी अनुवाद

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग में उल्लिखित द्रौपदी के भाषण को सन्तोषकारी एवं सामयिक मानता हुआ भीमसेन उस भाषण का राजनीतिशास्त्र एवं युक्ति प्रयुक्तियों द्वारा समर्थन करने की इच्छा से महाराजा युधिष्ठिर के प्रति कहता है।

घण्टापथः[1]

(मल्लिनाथी टीका) विहितामिति। अथ वृकोदरः भीमः **प्रियया** द्रौपद्या। प्रिया ग्रहणम् अस्या हितोपदेश-तात्पर्य्यसूचनार्थम्। **विहिताम्** अभिहिताम् इत्यर्थः। विपूर्वस्य दाधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात्। **मनः प्रियाम**भिमतार्थं योगान्मनोहराम्। विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तम्। **गिरं गरीयसीं** सारवत्तरां **निश्चित्य नृपं** धर्मराज**मुपपत्तिमद्**युक्तियुक्त **मूर्जिताश्रय मुदारार्थं वचनमूचे** उक्तवान्। कर्तरि लिट्। ब्रुवोवचिरादेशः। 'ब्रुविशासि' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्। अकथितच इति नृपस्य कर्मत्वम्॥१॥

सरलार्थ

(अथ द्रौपद्याः भाषणानन्तर) भीमसेनः तया समुदितं स्वाभिमतसमर्थकं भाषणं श्रुत्वा तत् च सारवत्तरं मन्यमानः विविधाभिः शास्त्रयुक्तिभिश्च संपोष्य अनुकरणीयत्वप्रतिपादनाय युधिष्ठिरं प्रति वक्ष्यमाणं वचनं कथयामास।

समास

वृकोदरः—वृक इव उदरं यस्य सः। अथवा वृक नामाग्निः उदरे यस्य सः। बहुव्रीहिः। गड्वादित्वात् परनिपातः सप्तम्यन्तस्य।

मनःप्रियाम्—मनसः प्रिया इति षष्ठीसमासः। ताम्।

ऊर्जिताश्रयम्—ऊर्जितः आश्रयः यस्य तत्। बहुव्रीहिः।

आश्रयः=अर्थः (Meaning), आश्रीयते अवलम्ब्यते (शब्देन) यः सः आश्रयः (अर्थः) आङ्—श्रि+अच्=आश्रय।

---

१. राजमार्गः

'ऊर्जिताश्रयम्' इति पाठ साधीयान् । आशय means अभिप्राय । ऊर्जिताशयम्=उदाराभिप्रायम् ।

शब्द व्युत्पत्ति[1] और व्याकरण[2]—

विहिता=वि—धा+क्त स्त्रियाम् । टाप् (आप्) ।

प्रियया=प्री+क्त, (इगुपधज्ञा प्री किर क्त) । स्त्रियाम् टाप् (आप्) ।

अनुक्तकर्तरि तृतीया । लट्—प्रीणाति, प्रीणीते, लिट्—पिप्राय, पिप्रिये । लुङ्—अप्रैषीत्, अप्रेष्ट । क्त=प्रीत ।

निश्चित्य=निर्—चि+ल्यप् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकागम ।

गिर्=गृ+क्विप् । गृणाति इति गुरु (गृ+क्त) । गुरु+ईयसुन्=गरीयस् ।

उपपत्ति=उप—पद+क्तिन् । उपपत्ति=युक्ति । उपपत्ति+मतुप्=उपपत्तिमत् ।

ऊर्जित=ऊर्ज+क्त । लट्—ऊर्जयति । लिट्—ऊर्जयामास, इत्यादिलुङ्—औज्जिजत् ।

---

१ शब्दाना व्युत्पत्ति शब्दव्युत्पत्ति (ष० त० स०)
शब्द=(शब्द्+घञ्) ध्वनि, श्रोत्रेन्द्रिय का विषय, पचमहाभूतान्तर्गत आकाश का गुण, वचन, ध्वनि, सार्थक ध्वनि, महाभाष्यकार पतजली ने शब्द की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'एक शब्द सम्यग्धीत—सम्यक् प्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति ।' नैयायिकों के मान्य प्रमाणों में से एक 'शब्द' प्रमाण ।
व्युत्पत्ति=(वि+उत्+पद्+क्तिन्) मूल, उत्पत्ति, व्युत्पादन, निर्वचन, पूर्ण प्राविण्य, पूर्ण जानकारी, विद्वत्ता, ज्ञान, महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में व्युत्पत्ति शब्द का किया हुआ प्रयोग देखिए—व्युत्पत्तिरावर्जित कोविदापि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम् ।' १।१५,१८, १०८ ।

२. व्याकरणम्=व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा येन । तत् (वि+आ+कृ+ल्युट्) विग्रह, विश्लेषण, व्याकरण सम्बन्धी शब्द-पृथक्करण प्रक्रिया । शुद्धाशुद्ध विवेक ज्ञानकारी विद्या ।

ऊचे=ब्रू+लिट् ए। वचनम्=ब्रू+ल्युट्।

वाच्यपरिवर्तनम्

'वृकोदरः नृपं वचनम् ऊचे।' कर्तृवाच्यम्।

'वृकोदरेण नृपः वचनम् ऊचे।' कर्मवाच्यम्।

यह द्विकर्मक प्रयोग है। नृपं[1] और वचनं दोनों पद कर्म कारक में हैं। कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य में वाच्य परिवर्तन करने पर द्वितीयान्त कर्म पद को प्रथमान्त रूप में परिवर्तित किया गया है। 'नृपः' यह प्रथमान्त रूप है। नृप शब्द पुल्लिग है और राम शब्दवत् इसके रूप चलते हैं। किन्तु 'वचन' शब्द नपुंसकलिंग है, नपुंसक लिंग में प्रथमा और द्वितीया दोनों विभक्तियों में रूप एक जैसे ही होते हैं। वचन यह पद कर्तृवाच्य में द्वितीयान्त माना जायगा क्योंकि कर्तृवाच्य में कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति होती है। किन्तु कर्मवाच्य में कर्मकारक में प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त होती है अतः कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य में वाक्य प्रयोग परिवर्तित करते समय कर्मकारक की द्वितीया विभक्ति परिवर्तित होगी (बदलेगी)। द्वितीया विभक्ति के स्थान पर प्रथमा होगी। अतः 'वचनम्' यह पद कर्मवाच्य में प्रथमान्त मानना चाहिये। 'ऊचे' यह क्रिया पद है। इसमें मूल धातु 'ब्रू' व्यक्तायां वाचि सुस्पष्ट बोलने के अर्थ में है। ब्रू धातु द्विकर्मक है।[2]

इसके प्रयोग में दो कर्म होते हैं। ब्रू धातु को 'ब्रुवोवचिः' २।४।५३ इस सूत्र से वचादेश होता है ॥१॥

---

१. 'अकथितञ्च' ।१।४।५१। अविवक्षितं कारकं कर्म संज्ञं स्यात्। इस सूत्र से 'नृप' पद का कर्मत्व हुआ है।

२. 'दुह्याच् पच् दण्ड रुधि प्रच्छि चि ब्रू शासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥' इमे द्विकर्मकाः धातवः।
'गौणेकर्मणि दुह्यादेः प्रधानेनी हृकृष्वहाम्। विभक्तिः प्रथमा ज्ञेया द्वितीया च तदन्यतः। इसके अनुसार 'वचनं' प्रधान कर्म होने के कारण द्वितीया विभक्ति में ही मानना चाहिये। 'नृपं' यह गौणकर्म है अतः गौणकर्म में प्रथमा 'नृपः' है।

छन्द

द्वितीय सर्ग म चार प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। वियोगिनी, उपजाति, पुष्पिताग्रा और वसन्ततिलका नामक ये छन्द हैं। इनके लक्षणों के ज्ञानार्थ परिशिष्ट क्र० १ देखिये। द्वितीय सर्ग के प्रथम श्लोक म वियोगिनी नामक छन्द है।

३५१

अलकार निरूपण

प्रथम और तृतीय चरण मे स्वरूपत असकृत् आवृत्ति होने से 'वृत्यनुप्रास' नामक अलकार है।

द्वितीय सर्ग म प्रयुक्त समस्त अलकारो के लक्षण कण्ठस्थ करने के लिये परिशिष्ट क्र० २ देखिये ॥१॥

सक्षिप्त भावार्थ

अथ द्रौपदी भाषणानन्तर भीमसेन द्रौपदी-भाषण गुर्वर्थसम्पन्न मन्यमान नृप धर्मराज युधिष्ठिर प्रति तद् भाषण समर्थयितु युक्तिसम्मत उदारार्थसमन्वित वचन कथयामास ॥१॥

टिप्पणी

(१) प्रथम सर्ग मे युधिष्ठिर द्वारा सप्रेषित गुप्तदूत वनेचर ब्रह्मचारी का छद्मवेश धारण कर शत्रु दुर्योधन की समस्त गति विधियो का प्रत्यक्ष निरीक्षण कर लौट आया और उसने एकान्त मे युधिष्ठिर को अनुमति से सम्पूर्ण शत्रु वृत्त निवेदन कर दिया। तदुपरान्त युधिष्ठिर ने द्रौपदी के कक्ष मे जाकर अपने भाइयो तथा द्रौपदी को स्पष्ट से परिज्ञात शत्रुवृत्त सुनाया। शत्रु पक्ष की समुन्नति का वृत्तान्त सुनकर द्रौपदी क्षुब्ध हुई और बोली। द्रौपदी का भाषण अत्यन्त मार्मिक, ओजस्वी, नीति शास्त्र सम्मत तथा तर्क और युक्ति समन्वित था। द्रौपदी ने अत्यन्त हृदयग्राही मार्मिक शब्दो मे युधिष्ठिर की आलोचना भी की है, किन्तु द्रौपदी का युधिष्ठिर के प्रति स्थिर स्नेह यत्किञ्चित् शिथिल होने की गन्ध भी उसके भाषण मे नही है। प्रत्युत अपने भाषण का उपसहार करती हुई वह कहती है कि आप शत्रु का प्रतीकार करें आपको सफलता मिलेगी और राज्य लक्ष्मी पुन आपका वरण करे।' 'रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादौ दिनकृत मिव लक्ष्मीस्त्वा समभ्येतु भूयः।' यह द्रौपदी का भाषण भीमसेन को बहुत प्रिय लगा। भीमसेन द्रौपदी के

इस भापण का समर्थन करते हुए युधिष्ठिर से आग्रह करता है कि द्रौपदी के परामर्श को स्वीकार किया जावे ।

(२) अन्वय का अर्थ और अन्वय के प्रकार तथा अन्वय करने की प्रक्रिया छात्र नहीं जानते, अतः छात्र अन्वय करने में सदा भयभीत रहते हैं । अन्वय करने से अर्थ वोध सुगम होता है अतः अन्वय करने की क्षमता छात्रों में आना नितान्त आवश्यक है ।

प्रथम, श्लोक को सस्वर तथा सुस्वर पढ़िये ।

प्रत्येक पद्य में कोई न कोई छन्द अवश्य होता है । छन्द ज्ञान होने से पद्य-पाठ करने में तथा पद्यपाठ करते समय यति (विराम स्थान) का वोध होने से (पद्य का सुस्वर पाठ करने में) कठिनाई नहीं होगी । पद्य का पाठ करने के पश्चात् पद्य के पदों को सन्धि तोड़कर पढ़िये, सन्धि विच्छेद कर पढ़ने को ही **पदपाठ** कहते हैं ।

पद-पाठ करने के पश्चात् पद्यस्थ पदों को संज्ञा-सर्वनाम विशेष्य-विशेषण क्रिया और अव्यय के रूपों में छाँटिये । लिङ्ग, विभक्ति और उनके वचनों को पहिचानिये । क्रिया के स्वरूप और उसके भेद को समझिये, क्रिया किस काल का वोध कराती है, क्रियापद में मूल धातु कौन-सी है, मूल धातु के साथ क्या कोई उपसर्ग प्रयुक्त हुआ है ? प्रयुक्त उपसर्गवशात् मूल धातु के अर्थ में क्या कुछ परिवर्तन आया है ? क्रियापद में कौन-सा लकार, पुरुष और वचन प्रयुक्त हुआ है ? यह सोच-समझकर उसका निर्देश करना ही लिङ्गादि निर्देश कहलाता है ।

लिङ्गादि निर्देश करने से कारक वोध और कारक वोध से वाच्य वोध सुगम होता है ।

वाच्यवोधार्थ कर्ता, कर्म और क्रिया पद का ज्ञान सुस्पष्ट होना अत्यावश्यक होता है । इस प्रकार पद्य के पदों का ज्ञान प्राप्त करने से अन्वय की प्रक्रिया सुगम हो जाती है ।

अन्वय का लक्षण

विशेषणं पुरस्कृत्य विशेष्यं तदनन्तरम् ।
कर्तृ-कर्म-क्रिया युक्तमेतद् अन्वय लक्षणम् ।

कर्ता, कर्म और क्रियापद को क्रमशः रखना और इनके विशेषणों को इनसे पहिले रखना चाहिये । पहिले विशेषण और उसके पश्चात् उसके विशेष्य को रखना चाहिये ।

पद्यस्थ पदो को इस प्रकार सुनियोजितकर करना ही अन्वय होता है।

पद्य म छन्द का वन्धन होने से पदो को प्राय यथाक्रम नही रखा जा सकता। अत अर्थबोध दुरुह (कठिन) हो जाता है। अत अन्वय करने की आवश्यकता होती है। अन्वय करने से अर्थ बोध सुगम होता है।

आदौ कर्ता तत कर्म करणादि यथा क्रमम्।
अन्ते क्रियापद कार्यम् इत्यन्वय—योजना॥

प्रथम कर्तृ वाचक पद, उसके पश्चात् कर्मवाचक पद उसके पश्चात् करणादि अन्य कारको को यथाक्रम लेकर अन्त मे क्रियापद सन्निविष्ट करना ही अन्वय की योजना अथवा अन्वय की प्रक्रिया है। प्रथमान्त तृतीयान्त षष्ठ्यन्त वा कर्ता।

कर्तृ वाचक पद प्रथमा, तृतीया अथवा षष्ठी[1] विभक्ति मे होता है।

कर्मवाचक पद प्रथमान्त द्वितीयान्त षष्ठ्यन्त वा भवति।

कर्मवाचक पद मे प्रथमा, द्वितीया अथवा षष्ठी[2] विभक्ति होती है।

कर्तृवाच्य मे—कर्ता प्रधान होता है। क्रिया कर्ता का अनुसरण करती है? यही कर्ता का प्राधान्य है। कर्ता जिस पुरुष और वचन मे होगा उसी पुरुष और वचन मे क्रियापद होगा।

कर्तृवाच्य मे कर्ता प्रथमा विभक्ति मे होता है। कर्मवाच्य में—कर्म की प्रधानता होती है। क्रिया कर्म का अनुसरण करती है कर्मपद जिस पुरुष और वचन मे होगा उसी पुरुष और वचन म क्रियापद होगा।

भाववाच्य मे—कर्ता तृतीया विभक्ति मे होता है। क्रिया का प्रयोग प्रथम (अन्य) पुरुष के एकवचन मे होता है। भाववाच्य मे क्रिया आत्मनेपद की ही होती है। परस्मैपदी धातुओ के साथ 'य' जोडकर आत्मनेपद के प्रत्यय जोडे जाते हैं। भाववाच्य म मूलरूप म क्रिया आत्मनेपद की ही होगी। धातु चाहे जिस किसी भी पद का हो। कृदन्त क्त, तव्य, आदि प्रत्ययान्त क्रियार्थक पदो का प्रयोग नपुसकलिङ्ग के एकवचन मे होता है जैसे—

'जनेन सुप्यते, जनाभ्या सुप्यते, जनै सुप्यते।
त्वया, युवाभ्या, युष्माभि वा सुप्यते।

---

१. कर्तृ कर्मणो. कृति २।३।६५॥
२ कृद्योगे कर्तरिकर्मणि च षष्ठी स्यात्।

मया, आवाभ्यां, अस्माभिः वा सुप्यते ।

तेन स्यातव्यम् (स्थितम्), ताभ्यां स्यातव्यम् (स्थितम्) तैः स्यातव्यम् (स्थितम्) ।

भाववाच्य में क्रिया अकर्मक धातु से ही बनती है ।

'लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं-वृद्धि-क्षय-भय-जीवित-मरणम् ।
शयन-क्रीड़ा-रुचि-दीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥

इतने अर्थोवाली धातुयें अकर्मक होती हैं ।

भावकर्म प्रक्रिया के रूपों में—लट्, लिङ्, लोट्, और लङ् इन चार लकारों में 'य' जोड़कर आत्मने पद के प्रत्यय लगाकर रूप होते हैं । शेष छः लकारों में कर्तृ वाच्य के रूपों की तरह ही रूप होंगे किन्तु आत्मनेपद में ही होंगे ।

जैसे—लट्—भूयते, लोट्—भूयताम्, विधिलिङ्—भूयेत, लङ्—अभूयत इन सार्वधातुक चार लकारों के अतिरिक्त शेष आर्धधातुक छः लकारों के रूप—लिट्—बभूवे, आशिर्लिङ्—भविसीष्ट, लुट्—भविता, लृट्—भविष्यते, लृङ्—अभविष्यत, लुङ्—अभावि ।

(लुङ् लकार में विशेषता यह है कि इसका रूप अन्य ५ लकारों की तरह नहीं होता है ।)

इसमें 'चिण्भावकर्मणोः' ३।१।६६ इस सूत्र से च्लि को चिण् आदेश हो जाता है ।[1]

अन्वय शब्द का अर्थ—

पदों का पारस्परिक साहचर्य, मेलजोल, सम्बन्ध, वाक्य में शब्दों का स्वाभाविक क्रम अथवा सम्बन्ध, व्याकरण विषयक क्रम, आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—

'तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।'—सा० दर्प० शब्दों का पारस्परिक युक्तियुक्त सम्बन्ध, तात्पर्य, अभिप्राय, कार्य से कारण का तर्कसंगत सम्बन्ध है ।

अन्वय के प्रकार (भेद)—

'तत्र द्वेधाऽन्वयः प्रोक्तः खण्डो दण्डस्तथा परः ।' अन्वय दो प्रकार का होता है—खण्डान्वय और दण्डान्वय नाम से ये अन्वय के दो भेद होते हैं ।

---

१. सिद्धान्त कौमुदी की भावकर्म प्रक्रिया देखिये ।

खण्डान्वय का स्वरूप—

पूर्वं विशेष्यमात्रस्य कीर्तनं सक्रिय हि यत् ।
पश्चाद् विशेषणाख्यानं स खण्डान्वय उच्यते ॥

प्रथम विशेष्यवाचक पद क्रियापद के साथ जोडकर तत् पश्चात् सभी विशेषण-वाचक पदो को लगाना यही खण्डान्वय कहलाता है ।

जैसे—

'वायुर्गोविन्दसिषेवे कथ भूत स शीतल ।'

(अर्थ—वायुने गोविन्द की सेवा की । वायु कैसा था ? शीतल था ।) इस वाक्य म वायु यह पद विशेष्य है और सिषेवे यह क्रियापद है । इस क्रियापद से तुरन्त पश्चात् शीतल यह पद विशेषण वाचक है । वायु कैसा है जिसने गोविन्द की सेवा की यह जानने की इच्छा (जिज्ञासा) पाठक के मन मे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है और उसकी तृप्ति क्रियापद के पश्चात् प्रथमान्त शीतल इस पद के द्वारा की गई है । शीतल यह विशेषण है । वाक्यारम्भ म 'वायु' यह पद प्रथमान्त और विशेष्य वाचक है । कथभूत यह जिज्ञासात्मक प्रश्न है ।

प्रश्नोत्तर रूप खण्डश किया जाने वाला अन्वय ही खण्डान्वय कहलाता है ।

अन्वय का द्वितीय भेद दण्डान्वय—

दण्डान्वय दण्डवत सरल सीधा होने से इसे दण्डान्वय कहा जाता है ।

(सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग की व्याख्या म हमने प्राय दण्डान्वय का ही प्रदर्शन किया है) ।

'विशेष्यकीर्तन यच्च विशेषणपुर सर ।
व्युत्पन्नमतिभिर्धीरै स दण्डान्वय उच्यते ॥'

प्रथम विशेषण लगाकर तदनन्तर विशेष्य कथन करना, कर्ता कर्म और क्रियापद वाचक पदो को यथाक्रम रखना अथवा कहना ही दण्डान्वय होता है एसा व्युत्पन्न बुद्धिमान् लोग कहते हैं ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये

'तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्याम् ।'—रघु० १४।६

प्रिय मण्डना' शाकु० ४।९ प्रियारामा वैदेही ।' —उत्तर रा० २

'स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमोहि प्रियेषु ।'—मेघ० २८

'प्रिये चारुशीले ! प्रिये रम्यशीले ! प्रिये० ।'—गीतगो० १०

'प्रियमाचरितं लते त्वया मे० ।'—विक्रम० १।१७

'मतिरेव वलाद गरीयसी० ।' हि० २।८६

'वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।'—हि० १।११२ शिशु० २।२४, ३७.

'ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ।—कुमार० २।५

'प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ।'—मेघ० ४

'मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्० ।'—रघु० ११-६४

'ऊर्जितश्रीः ।'—शिशुपा० १६।८५

'मकरोर्जितकेतनम्० ।'—रघु० ६।३६

'मनः प्रियाम्' । मन-संज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान का आन्तरिक अग या मन, वह उपकरण जिसके द्वारा ज्ञेय पदार्थ आत्मा को प्रभावित करते हैं । न्याय-दर्शन के अनुसार मन एक द्रव्य या पदार्थ है जो आत्मा से सर्वथा भिन्न है । 'तदेव सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं प्रतिजीवं भिन्नमणु नित्यं च ।' —तर्क कौ०

'पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।'—कुमार० ३।५१, रघु० २।२७

'कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वत् ।'—रघु० ५।५

'वचस्यवसिते तस्मिन् ससर्ज गिरमात्मभूः ।'—कुमार० २।५३

'भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।'—शाकु० १

'प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ।' किरात० १।२५—शिशुपा० २।१५,

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्चशुभांगिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितोह्यतः ॥

याज्ञ० स्मृ० १।७१

× × ×

● किं तद्वचनं तदाह—

भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा यह पिछले श्लोक में कहा गया है । क्या कहा इस जिज्ञासा तृप्ति के लिये कवि उसे कहता है—

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी-
परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं—
वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥२॥

: सुबोधिनी :

अन्वय —

मानिनी स्नेहमयेन चक्षुषा परितः वीक्ष्य यत् अवोचत, वागधिपस्य अपि दुर्वचं तत् वचनं विस्मयं विदधीत। (अथवा दुर्वचं तत् वागधिपस्य अपि विस्मयं विदधीत) ॥२॥

शब्दार्थ—

मानिनि=मनस्विनी, स्नेहमयेन=प्रेम से परिपूर्ण चक्षुषा=नेत्रों से, परितः=चारों ओर, आसपास, वीक्ष्य=देखकर, यत्=जो, अवोचत्=बोली, वागधिपस्य=बृहस्पति के लिये, अपि=भी, दुर्वचं=कह सकने के लिये कठिन, तत्=वह, वचनं=भाषण, विस्मयं=आश्चर्य, विदधीत=किया।

हिन्दी अनुवाद—

मानिनी द्रौपदी ने स्नेहपूर्ण ज्ञान-दृष्टि से सभी भूत एवं अन्य बातों को ध्यानपूर्वक देख समझकर जो कुछ कहा है उसे देव गुरु बृहस्पति भी कहने में असमर्थ हैं कि बहुना वे भी उस नीतिशास्त्र सम्मत कथन से आश्चर्य चकित हो सकते है अथवा जो बातें द्रौपदी ने कही हैं वैसा कोई भी कह नहीं सकता है।'

घण्टापथ —

'यदिति ॥ मानिनी क्षत्रिय-कुलाभिमानवती, द्रौपदी स्नेहमयेन स्नेहप्रचुरेण। 'तत् प्रकृतवचने मयट्' चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा। एतेनाप्तत्वमुक्तम्। परितो वीक्ष्य समन्ततो विविच्य यद्वचनमवोचत। ब्रुवो वक्तेर्वा लुङ्। 'वच उम्' इत्युमागमः। वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम्। शेषेषष्ठीयम्, न कृद्योगलक्षणा। अतो 'नलोक-' इत्यादिना षष्ठिप्रतिषेधो नास्ति। तद्वचनं विस्मयं विदधीत। सर्वस्यापीति शेषः। अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्धः। दुर्वचम्। केनापीति शेषः। यतः स्त्रैणमपि शास्त्रमनुरणाद्धि हितं चानुबध्नाति। अतो विस्मयकरं ग्राह्यं चैतद्वचनमिति तात्पर्यार्थः ॥२॥

सरलार्थ —

क्षात्रकुलाभिमानवती द्रौपदी अस्मान् प्रति प्रणयवशात् सम्यग् विचार्य यत् वाक्यम् (भाषणं) अब्रवीत् (अवादीत्) अनेकविधनीतिशास्त्रपारगतः देवगुरुरपि तद्वत् नीतिप्रचुरं भाषणं वक्तुं न शक्नोति कृतो का कथा इतरेषां साधारणानां जनानाम्। अतः स्त्रियाऽपि कया रीत्या कथं नीतिसम्मतं भाषणं निगद्यते इति

विचिन्तयन् सर्वे एव आश्चर्यं प्राप्नुवन्ति । अथवा केनापि निगदितुं न शक्यम् । तस्याः भाषणं श्रुत्वा 'अहो अङ्गनाऽपि अनया रीत्या सम्भाषते' इति विचार्य धिषणोऽपि आश्चर्यं भजते का कथा इतरेषाम् ॥२॥

समास—

वागधिपस्य=वाचामधिपः इति षष्ठी समासः । तस्य । अत्र शेषे (सम्बन्धे अर्थे) षष्ठी । ननु कृद्योगे कर्तरि षष्ठी-सम्भवति । यतः 'दुर्वचं' इत्यस्य खल् प्रत्ययान्तत्वात् तद् योगे षष्ठी भवितुं नार्हति न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' २।३।६९ इति सूत्रेण निषेधात् । अथवा विस्मयमित्यनेन सम्बन्धे षष्ठी, तथा सति न काचिदसङ्गतिः ।

'न लोक' इत्यादि सूत्रे लोक=उकारान्त कृत् (अन्त में जोड़े हुए 'उ' प्रत्यय यथा—आलु, इष्णु, उ इत्यादि ।) उक कृत्प्रत्यय है । अव्यय=तुमुन्, क्त्वाच, इत्यादि । निष्ठा=क्त और क्तवतु । खलर्थ=खल् और युच् । तृन् कृत्प्रत्यय है । उक्त प्रत्ययान्तैर्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी न सम्भवति ।

वाच्यपरिवर्तन—

'मानिनी (द्रौपदी) यद् वचनम् अवोचत् ।' इति कर्तृवाच्यम् ।
'मानिन्या (द्रौपद्या) यद् वचनम् अवाचि ।' इति कर्मवाच्यम् ।
'दुर्वचं तत् वचनं विस्मयं विदधीत ।' इति कर्तृवाच्यम् ।
'दुर्वचेन तेन वचनेन विस्मयः विधीयेत ।' इति कर्मवाच्यम् ।

● वाच्यपरिवर्तन का सिद्धान्त और नियम गुरुचरणों में बैठकर समझ लीजिये और इसका अभ्यास दृढ़ कीजिये ।
अनुवाद करने की शक्ति इससे उत्तरोत्तर वृद्धिगत होगी ।

शब्दव्युत्पत्ति और व्याकरण—

मानिनी=मान+अस्त्यर्थे 'इनि' (प्रत्ययः) ।+स्त्रियां ङीप् । मन्+घञ् =मान ।

परितः परि+तस् । 'पर्यभिभ्यां सर्वोभयाभ्यामेव इष्यते ।' तस् प्रत्ययः इति शेषः ।

परितः (सब बाजू में, on all sides) परितः वीक्ष्य,=सर्व विषयम् आलोक्य इत्यर्थः ।

स्नेह=स्निह +घञ् । स्नेह+मयट् (प्राचुर्यार्थे)=स्नेहमय । चक्षुषा इति करणे तृतीया । चक्ष्+उस्=चक्षुस् ।

स्नेहमयेन अर्थात् स्नेह प्रचुरेण, स्नेहपूर्णेन, सुहृद्भावेन, प्रेम्णा, वाक्= वच्+क्विप् (मतान्तरे विण्) ।

अधिप =अधि—पा+क (मतान्तरे ड) ।

दुर्वच=दुर्—ब्रू (अथवा वच्)+खल् । दु (दुःखेन कष्टेन वा) वक्तु शक्यम् इति दुर्वचम् ।

विस्मयम्=वि—स्मि+अच् । विदधीत इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ।

विदधीत=वि—धा+विधिलिङ् ईत (शक्यार्थे) ।

अवोचत=ब्रू+लङ् त । अद्यतने अतीने लुङ् ॥२॥

छन्द—

वियोगिनी ।

अलकार निरूपण—

'अत्र विस्मयासम्बन्धे सम्बन्धकथनरूपा—अतिशयोक्ति ।' इति केचित् ।

सक्षिप्त भावार्थ—

मनस्विन्या द्रौपद्या पणयवशात् सम्यग्विचार्य अस्मान् प्रति यदुक्त तत् निश्चयेन विस्मयकर वर्तते ।

स्त्रियापि एव विध नीतिशास्त्रसम्मतमुच्यते । एतादृश नयसमत देवगुरुरपि वक्तु न समर्थ का कथा अन्येषाम् । तस्मात् तदनुकरणीयमिति भीमसेनस्य कथन-तात्पर्यम् ।

टिप्पणी—

किरातार्जुनीयम् इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग के अन्त मे द्रौपदी का ओजस्वी भाषण है । जिसमे पाण्डवो की हेय दशा का मार्मिक चित्रण है । द्रौपदी शत्रु की उन्नति का समाचार (जो युधिष्ठिर प्रेरित वनेचर (गुप्तदूत) के द्वारा युधिष्ठिर ने जानकर फिर द्रौपदी तथा अन्य भाइयो को परिज्ञानार्थ निवेदन किया था) सुनकर अत्यधिक उत्तेजित हो उठती है । मार्मिक शब्दो के द्वारा युधिष्ठिर को दुर्योधन से युद्ध करने की प्रेरणा देती है । द्वितीय सर्ग मे भीमसेन उस द्रौपदी के पूर्व भाषण का सन्दर्भ देकर कहता है कि 'वह स्त्रीकृत भाषण होने मात्र से अवहेलनीय नही है । वह भाषण नीतिशास्त्र सम्मत है । द्रौपदी ने प्रेमवश होकर हमारी विपत्ति पर विचार किया है और नीतिशास्त्र के अनु-

सार कर्तव्य निश्चित करने से पूर्व आगापीछा अच्छी तरह सोचकर ही उसने जो कहा है। ऐसा नीतिशास्त्र संगत भाषण करना देवगुरु बृहस्पति के लिये भी कठिन होने से आश्चर्यकारक है। आप उसकी उपेक्षा न करें।' टीकाकार मल्लिनाथ ने 'ग्राह्यमेतद्वचनम्।'[1] इति तात्पर्यार्थः।' लिखा है वह उचित ही है।

द्रौपदी का ओजस्वी वीराङ्गनोचित भाषण सुनकर भीमसेन मन में प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ नीतिशास्त्र और युक्ति-तर्क आदि के द्वारा उसका समर्थन करता है।

● महाकवि का शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'पराभवोऽप्युत्सवि एव मानिनाम्।'—किरा० १।४१

'परवृद्धिमत्सरि मनो हि मनिनाम्।'—शिशुपा० १५।१ भट्टिकाव्य, १९।२४

'चतुर्दिगीशानवमत्य मनिनी।'—कुमार० ५।५३, रघु० १३।३८

'माधवे मा कुरु मानिनी मानमये।'—गीतगो० १, किरा० ९।३६

'पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्।' रघु० १०।५१

'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु, विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः—सा० द० २०७ 'तपः क्षरति विस्मयात्।'–मनु ४।२३७

\+ \+ \+

● विस्मयकरत्वे हेतुमाह—

● द्रौपदी कृत भाषण आश्चर्यकारक होने में कारण कहते हैं—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः—
कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेष दुर्लभः
सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मयः॥३॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

विषमोऽपि नयः पयसाम् आशय इव कृततीर्थः विगाह्यते। यः कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यति स तु तत्र विशेषदुर्लभः। भवतीति अध्याहार्यम्।

---

१. वचनम्=वाक्यम् (किसी विचार का पूर्णोच्चारण)
'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।'—सा० द० ६।

शब्दार्थ—

विषम =दुर्बोध (जलाशय पक्ष मे अगम्य) अपि=भी, नय =नीतिशास्त्र, पयसा=जलके, आशय =आधार, इव=सदृश, (तालाब की तरह), कृततीर्थं =अभ्यास आदि के द्वारा (जलाशय पक्ष मे—सिढ्ढियो के निर्माण के द्वारा), विगाह्यते=जाना जाता है, (जलाशय पक्ष मे प्रवेश पाता है), तु=किन्तु, तत्र =नये, (जलालशय पक्ष मे-जलाशय म) य =जो, कृतवर्त्म=सन्धि-विग्रहादिक कार्योपाया को, (जलालशय पक्ष म स्नानादिकार्योपायो को) सत्=साधु उपन्यस्यति=उपदश देता है, (जलाशय पक्ष म करता है) स =वह, विशेषदुर्लभ =अत्यन्त दुर्लभ होने से प्राप्त करने मे कठिन है ॥३॥

हिन्दी अनुवाद—

राजनीति शास्त्र बहुत गहन विषय है। जिस प्रकार दुर्गम जलाशय मे तैरन का दृढ अभ्यास कर लेने पर अथवा घाट (सीढी आदि) बन जान पर प्रवेश करना सरल होता है, किन्तु दुर्गम एव गम्भीर जलाशय म खाई खड्डे, पत्थर तथा हिंस्र जलचर मगर आदि को बतान वाला और सोपान निर्माण-निपुण पुरुष दुर्लभ है। तद्वत् नीति निपुण गुरु से अध्ययन कर राजनीतिशास्त्र म प्रवेश करना सुगम हो सकता है।

किन्तु ऐसा व्यक्ति जो नीतिशास्त्रोक्त सन्धि, विग्रह, यान, द्वैधीभाव आदि कार्यों का ज्ञाता तथा प्रवक्ता हो, दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि राजनीति शास्त्र का अध्ययन करके उसका रहस्य उद्घाटित किया जा सकता है किन्तु मानिनी द्रौपदी ने जो राजनीतिशास्त्र सम्मत बातें कही हैं वे नितान्त आश्चर्यजनक हैं। द्रौपदी का कथन राजनीतिशास्त्र का अध्ययन मात्र नही है। राजनीति शास्त्र का यह उसका स्वाभाविक एव हमारे प्रति निश्छल स्नेहयुक्त ज्ञान का प्रकाशन है। अत वह सर्वथा आश्चर्य जनक तथा ग्राह्य एव अनुकरणीय है। ऐसा भीमसेन ने कहा ॥३॥

घण्टापथ :—

विषम इति ॥ विषमोऽपि दुर्बोधोऽपि। अन्यत्र दु प्रवेशोऽपि। नयो नीतिशास्त्रम्। पयसामाशयो ह्रद इव। कृततीर्थ कृताभ्यासाद्युपाय सन्। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्व। अन्यत्र कृतजलावतार सन्। 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुध। विगाह्यते गृह्यते प्रविश्यते च। किन्तु

तत्र नये जलाशये च-स तादृशः पुरुषो विशेष-दुर्लभोऽत्यन्त-दुर्लभो यः। कृत्यं संधि-विग्रहादि कार्यं स्नानादिकं च तस्य वर्त्म सत्साधु देशकालाद्यविरुद्धं यथा तथा। अन्यत्र गर्तग्राहपाषाणादि रहितम्। यथा—तथोपन्यस्यति उदाहरति। 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्। उपोद्‌घात उदाहारः' इत्यमरः। यथा केनचित् कृततीर्थे पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति। तीर्थंकरस्तु विरलः। तद्वन्नीतावपि गूढमपि तत्वं वक्तरि सति वोद्धारः सन्ति। वक्ता तु न सुलभः। अत इयमपठितापि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ॥३॥

सरलार्थः—

अति गमीरत्वात् प्रवेष्टुमशक्येऽपि जलाशये—उत्कृष्टतर—सोपानावलि समन्वितं तीर्थं केनाऽपि क्रियते, तदा सहजरीत्या जनैः प्रवेष्टुं शक्यते, किन्तु गर्त-पङ्कादिविरहिततीर्थंकरः सर्वदा सर्वत्र न सौलभ्येन लभ्यते तथैव दुर्बोधस्यापि राजनीतिशास्त्रस्य सुखेन बोधार्थं कः अपि उपायश्चेत् तदा केन अपि तदुपदिश्यते, तदा दुर्बोधम् अपि तद् ज्ञातुं शक्यते। किन्तु देशकालाद्यविरुद्धम् उपदेष्टा च सर्वथा दुर्लभः एव। अनुपदिष्टाऽपि इयं द्रौपदी समीचीनं कथयति इति महदाश्चर्यम्।

समासाः—

विषमः=विगतः विरुद्धः वा समः। इति उपपदसमासः।

कृततीर्थः=कृतं तीर्थं यस्य सः कृततीर्थः। बहुव्रीहिः। नय और आशय उभय पदों का विशेषण है।

विशेषदुर्लभः=विशेषेण दुर्लभः। तृतीया समासः।

कृत्यवर्त्म=कृत्यस्य वर्त्म। षष्ठी समासः। तत्। उपन्यस्यति इत्यस्य कर्मणि द्वितीया।

शब्दव्युत्पत्ति और व्याकरण—

विगाह्यते=वि—गाह्+लट् ते (कर्मणि वाच्ये) जनैः इति अव्याहृतं कर्तृपदम्।

नय=नी+अच्। लट्—नयति। लिट्—निनाय। लुङ्—अनैषीत्।

तीर्थ=तृ+थक्। तरति अनेन इति तीर्थम्।

पयः=पी+असुन् (पीयते यत् तत् पयः, कर्म वाच्ये असुन्)

आशय=आ—शी+अच् (अधिकरणे)

विशेष=वि—शिष्+घञ्। दुर्लभ=दुर्—लभ्+खल्। दु (दुःखेन) लभ्यते यः स दुर्लभः, कर्मवाच्ये खल्।

कृत्य=कृ+क्यप्। वर्त्म=वृत्+मनिन्।

सत्=अस्+शतृ। 'उपन्यस्यति' इति क्रियायाः विशेषणत्वात् द्वितीयैकवचनत्वं क्लीवत्वञ्चावधेयम्।

उपन्यस्यति=उप—नि—अस्+लट् ति। लुङ्—आस्यत्। लिट्—आस।

वाच्यपरिवर्तनम्—

जनैः विषमः अपि नयः विगाह्यते। कर्मवाच्यम्।

जनाः विषमम् अपि नयं विगाहन्ते। कर्तृवाच्यम्।

सः विशेषः दुर्लभः भवति। कर्तृवा०

तेन विशेषेण दुर्लभेण भूयते। भाववाच्य०

यः कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यति। कर्तृवा०

येन कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यते। कर्मवा०

छन्द—

वियोगिनी।

अलङ्कारनिरूपणम्—

श्लेषानुप्राणितोपमा।

संक्षिप्त भावार्थ—

अतिगभीरमपिजलाशयं सोपानसमन्वितं कर्तुं शक्यते, कृते सोपानमार्गे गभीरेऽपिजलाशये अनायासेनैव सर्वैरपि स्नातुं शक्यते। किन्तु सोपानकर्ता दुर्लभः भवति। तथैव दुर्बोधनीतिशास्त्रं भाष्याद्युपायैः उपदेष्टुं शक्यते परन्तु सर्वत्र सर्वदाच दुर्बोधस्यनीतिशास्त्रस्योपदेष्टा दुर्लभः। अनुपदिष्टा अपि इयं द्रौपदी नीतियुक्तं वक्तीति विस्मयजनकम्।

टिप्पणी—

भीमसेन द्रौपदी के भाषण की प्रशंसा करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर के समक्ष उसके भाषण की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करने के लिये युक्ति और तर्क समन्वित उदाहरण प्रस्तुत करता है।

○ शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'पथिषु विषमेष्वप्य चलता ।'—मुद्रारा० ३।३, पंचतन्त्र १६४, मेघ, १६

'सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।'—भर्तृ० २।९७

'नय-प्रचारं व्यवहारदुष्टताम् ।' —मृच्छक० १।७

'नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।'—रघु० ९।२७

'चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ।'—किरात० १०।२९, ६।६८, १६।४२, रघु० १।५५

'पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।'—हितो० ३।४, रघु० २।३६, ६३, १४।७८,

'विपाण्डुभिर्म्लानितया पयोधरैः ।' किरात० ४।२४

× × × ×

● अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—

● द्रौपदी का कथन ग्राह्य होने में कारण बतलाते हैं

परिणाम सुखे गरीयसी
व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे
बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥४॥[1]

सुबोधिनी :

अन्वयः—

परिणामसुखे गरीयसी क्षतौजसां व्यथके अल्पीयसी अस्मिन् वचसि अतिवीर्यवती भेषजे इव बहुः गुणः दृश्यते ।

शब्दार्थ—

परिणामसुखे=शुभफलपर्यवसायी, परिणाम में लाभप्रद; **गरीयसी**=गुर्वर्थसम्पन्न, (भेषजपक्षे) श्रेष्ठ; **क्षतौजसां**=क्षीणबल, संगठित सैन्य के अभाव में; (अन्यत्र) रोग के कारण क्षीण शक्ति, **व्यथके**=युद्धोपदेश के कारण भय-

---

१. यह पद्य द्व्यर्थक है । प्रत्येक पद आपग और भेषज पक्ष में समान रूप से व्यवहृत है ।

जनक, (भेषजपक्ष में) विस्वाद होने स कष्टप्रद, अल्पीयसी=अल्पाक्षर (भेषजपक्ष मे) स्वल्पमात्रा मे, अस्मिन्=इस, द्रौपदी के **वचसि**=भाषण म, **अतिवीर्यवती**=अति सामर्थ्य सम्पन्न, **भेषजे**=रसायन (औषधि) **इव**=सदृश, **बहु**=अधिक, **गुण**=उपकारक, **दृश्यते**=दिखाई देता है।

हिन्दी अनुवाद —

(पूर्वश्रुत द्रौपदी का भाषण) परिणाम मे सुखप्रद, श्रेष्ठ है। क्षीणबल रुग्णो को पाचनादि शक्ति का ह्रास होने के कारण कष्टकारक और उच्चकोटि के रसायन, मात्रा आदिक म जैसे आरोग्य तुष्टि पुष्टि तथा बल देने के अनेक अचिन्त्य गुण दिखलाई देते हैं। तद्वत् मानिनी द्रौपदी के भाषण मे परिणाम सुखावहत्व, सारगर्भित्व किन्तु क्षीण बल व्यक्तियो के लिये कुछ सन्तापजनकत्व होते हुए भी उसमे ओजस्विता है। रसायन जैसे अत्यल्प मात्रा मे होता है उसी तरह मानिनी द्रौपदी का भाषण भी स्वल्पाक्षर है और रसायन की तरह ही सेवनोपरान्त अचिन्त्य फलदायी है। उसमे मर्यादा की रक्षा तथा राज्य लाभादि अनेक विधि गुण हैं ॥४॥

घण्टापथ —

परिणामेति। **परिणाम** फलकाल परिपाकावस्था च। तत्र सुखे हिते। 'शस्तचाथ त्रिषुद्रव्ये पाप पुण्य सुखादि च।' इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्गत्वम्। **गरीयसी** भूयिष्ठे श्रेष्ठे च। **क्षतौजसा**मुभयत्रापि क्षीण शक्तीना व्यथके **क्षोभो**द्वलकत्वात भयकरे। अन्यत्रादौ सशयादि दु ख जनके। **अल्पीय**-स्यल्पाक्षरेऽल्पमात्रे च।

उक्तञ्च—'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च।' इति। **अस्मिन्** वचसि द्रौपदी वाक्ये। **अतिवीर्यव**त्यत्यन्तसामर्थ्यवति भेषज औषध इव 'भेषजौषधभैषज्यम्।' इत्यमर **बहु**रनेको **गुणो** मानत्राणराज्यलाभादिरारोग्यबलपोषादिश्च **दृश्यते**। अतोग्राह्यमस्यावचनमितिभाव ॥४॥

सरलार्थ —

यथा अतिसामर्थ्यसम्पन्न श्रेष्ठमौषध कटु तिक्त कषायत्वात् रुग्णत्वात् च क्षीणबलानाम् अरुचिकर भवति, तथापि तत् आरोग्य बल-पुष्टि कान्त्यादि-बहुविधोपकारकत्वात् परिणामसुखावहमिति सर्वथा ग्राह्यमेव तथैव अर्थगौरव-शालिन द्रौपदीभाषणमपि आपातमधुरत्वाभावात् क्षीणपराक्रमाणामस्माकम-

प्रीतिकरं भवत्येव किन्तु तस्य स्वल्पाक्षरस्य द्रौपदीमापणस्य स्वीकारेण मान-त्राण-राज्यलाभादिरूपा बहवो गुणलाभाः दृश्यन्ते अतः तत् परिणामसुखावहं मत्वा श्रीमद्भिः सर्वथा ग्राह्यमेव इति मे (भीमसेनस्य) मतम् ।।४।।

समासा :—

परिणाम सुखे=परिणामे सुखम् इति सप्तमी-समासः । तस्मिन् । विशेषण-मिदम्-वचसि तथा भेषजे इतिपदद्वयोः ।

क्षतौजसाम्=क्षतम् ओजः येषां तेः क्षतौजसः । बहुव्रीहिः । तेषाम् । 'व्यथके' इति कृत्प्रत्ययान्तशब्दयोगे कर्मणि षष्ठी ।

अतिवीर्यवती=अतिशयेन वीर्यवत् इति प्रादि समासः । तस्मिन् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—

(मया) बहुः गुणः दृश्यते ।' इति कर्मवाच्यम् ।

(अहं) बहुं गुणं पश्यामि ।' इति कर्तृवाच्यम् ।

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

परिणाम=परि-नम्+घञ् । सुखे=सुखं करोति इति सुखयति । सुख+णिच् (करोत्यर्थे) ततः सुखि धातोः पचादित्वात् अच् प्रत्ययः (सुखि+अच्) सुखयतीतिसुखम् । **गरीयसी**=गुरु+ईयसुन् । ततः सप्तमी । **वचसि** इत्यस्य भेषजे इत्यस्य च विशेषणत्वात् ।

व्यथके=व्यथयति इति व्यथकम् । तस्मिन् । व्यथ्+णिच्=व्यथि । 'मितां ह्रस्वः' इति णिचि ह्रस्वत्वम् ।

व्यथि+ण्वुल् (प्रत्ययः कृते) व्यथक ।

लट्—व्यथते, लिट्—विव्यथे, लुङ्—अव्यथिष्ट, क्त प्रत्ययान्तम्—व्यथितः ।

क्षत=क्षण्+क्त । लट्—क्षणोति, (क्षिणु) (क्षिण्) हिंसायाम् । अष्टम गणीयः, सकर्मकः सेट्, उभयपदी (क्षिणोति क्षिणुते) क्षि=हिंसायाम् । पंचम गणीयः, सकर्मकः, अनिट्, परस्मैपदी, इदन्तः छान्दसः—क्षिणोति । अत्रतु—क्षणु (क्षण्) हिंसायाम् अष्टम गणीयः, सकर्मकः, सेट्, उभयपदी तनोत्यादिः । उदित् क्षणोति—क्षणुते, उ० क्षण्वः—क्षणुवः । क्षण्वहे क्षणुवहे । लिट्—चक्षाण—चक्षणे, । लुङ्—अक्षणीत्—अक्षत—अक्षणिष्ट ।

ओजस=उब्ज्+असुन् । **वीर्य**=वीर+यत् । **वर्यवत्**=वीर्य+मतुप् ।

अल्पीयस्=अल्प+ईयसुन्। पक्षे अर्थान्तरे 'कनीयस्' इत्यपि सिध्यति मतान्तरे ॥४॥

छन्द—

वियोगिनी।

अलकारनिरूपणम्—

यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा नामक अलकार है।

सक्षिप्तभावार्थ —

यथा अति वीर्यसम्पन्नमपि औषध परिक्षीणबलाना रुग्णाना प्रीतिकर न भवति तथैव तत् द्रौपदीभाषण परिक्षीणबलानामस्माकमपि आपातरमणीयत्वाभावात् रुचिकर न स्यात् तथापि कट्वपि औषध रुग्णं यथा सेवनीय भवति, सेविते सति तत् कट्वपिऔषधम् आरोग्यप्रद भवति तथैव क्षीणबलैरपि अस्माभि पूर्वोक्त द्रौपदीवचन सर्वथा अनुकरणीयमेव अनुसृते सति तत् मानत्राणराज्य लाभप्रद स्यादित्यत्र नास्ति सदेहावसर ॥४॥

टिप्पणी—

(१) यहाँ पूर्वोक्त द्रौपदी भाषण का औषध सादृश्य कवि ने वर्णित किया है।

(२) 'गरीयसी' और अल्पीयसी' इन पदद्वयो मे अर्थ प्रकाशार्थ ईयसुन प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

(३) महाकवि भारवि की प्रसिद्धि गागर मे सागर की तरह अल्पाक्षरो म अर्थगौरव समाविष्ट करने मे है 'भारवेरर्थ गौरवम्।' के अनुसार ही सर्वत्र प्रतीति होती है।

(४) महाकवि कालिदास की प्रसिद्धि उपमालकार सयोजन सौष्ठव मे है 'उपमा कालिदासस्य' प्रसिद्ध है। महाकवि भारवि की वाणी अर्थ सौष्ठव अर्थगाम्भीर्य तथा विपुलार्थत्व का सम्यक् वहन करत हुए यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमालकार का सयोजन करने मे शत प्रतिशत सफल हुई है ॥४॥

× × × ×

- शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

  परि (री) णाम (परि+नम्+घञ्, पक्षे उपसर्गस्य दीर्घ)

  'अन्न न सम्यक् परिणाममेति।'—सुश्रुत

'मुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् ।'—तर्क०
'अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।' हितोपदेश—२।१३५
मृच्छक० ३।१, भगवद्गी० १८।३७-३८,
'उपैतिशस्यं परिणामरम्यताम् ।'—किराता० ४।२२
'फलभरपरिणामश्यामजम्बू०—उत्तररामच० २।२०
'दिवसाः परिणामरमणीयाः'—शाकु० १।३
'वयः परिणामपाण्डुरशिरसं—काद० १०
'परिणाममुपैति दिवसः' का० २५४
'परिणामे हि दिलीपवंशजाः'—रघु० ८।११

- 'अलङ्कारशास्त्र में रूपक से सादृश्य रखने वाला एक अलंकार, जिसमें उपमेय के गुण उपमान में बदल दिये जाते हैं—

'परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना । प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते-मदिरेक्षणा ।।'—चन्द्रालोक ५।१८

\+ \+ \+ \+

- आपका कथन सत्य है फिर भी मुझे रुचता नहीं क्या करूँ ? इस आशङ्का का भीमसेन के मुख से समाधान करते हुए कवि कहता है कि—
- सत्यमेवं तथापि मह्यं न रोचते । किंकरोमीत्याह—

इयमिष्टगुणाय रोचतां—
रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।
ननु वक्तृ-विशेष-निःस्पृहा—
गुण-गृह्या वचने विपश्चितः ।।५।।

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

रुचिरार्था इयं भारती इष्टगुणाय भवते अपि रोचताम् । गुणगृह्या विपश्चितः वचने विशेष-निस्पृहा ननु ।।५।।

शब्दार्थः—

रुचिरार्था=हितकारक अर्थ से युक्त, इयं=यह, भारती=वाणी (द्रौपदी वाक्य), इष्टगुणाय=गुण पक्षपाती के लिये, भवते=आपके लिये, रोचताम्=अच्छी लगनी चाहिये (विध्यर्थ में लोट् लकार का प्रयोग कर कवि हितकारक

वचनों में औषधवत् बलात् इच्छा करें इस भाव को इंगित करना है) गुणगृह्या =केवल गुणों पर मुग्ध होने वाले, विपश्चित =विद्वान् लोग, वचने=भाषण-कर्ता के विषय में, (अर्थात् भाषण कर्ता स्त्री-पुरुष अथवा बालक है यह नहीं देखा करते हैं) विशेषनिस्पृहा ननु=विशेष रूप से निस्पृह (निरीच्छ) होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

हिन्दी अनुवाद—

यह हितकारक अर्थ से सम्पन्न द्रौपदी की वाणी आपके लिये अच्छी लगनी चाहिये क्योंकि आप तो गुणैकपक्षपाती हैं। गुणग्राहक विद्वान् लोग भाषण कर्ता के विषय में सदैव निस्पृह ही रहते हैं। वे तो केवल भाषण पर ही ध्यान देते हैं, भाषण कर्ता पर नहीं। विद्वान् लोग निश्चित रूप से भाषण कर्ता के विषय में (वह स्त्री है या पुरुष) जानने के इच्छुक कभी भी नहीं होते। विद्वानों का आग्रह है कि 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्।' कवि भीमसेन के मुख से राजा युधिष्ठिर को कह रहा है।

घण्टापथ —

सत्यमेव तथापि मह्यं न रोचते किं करोमि इति अत्राह-द्वयमिति। रुचि-रार्था महितार्थसम्पन्नेति रुचिहेतूक्तिः। इयं भारती द्रौपदीवाक्यमिष्टगुणाय, गुणग्राहिण इत्यर्थः। भवते तुभ्यमपि, "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः इति सम्प्रदानत्वा-च्चतुर्थी। रोचतां स्वदताम्। विध्यर्थे लोट्। हितवचने बलादपि इच्छा कुर्या-दौषधवदितिभावः। तथापि स्त्रैणे वचसि का श्रद्धा तत्राह-नन्विति। गुणानां गृह्या गुणगृह्या, गुणपक्षपातिन इत्यर्थः। 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति ग्रहे-क्यप्। विपश्चितो विद्वांसः। 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ' इत्यमरः। वचने विषये, वक्तृविशेषे स्त्री पुंसादि लक्षणे निस्पृहा ननु निरास्था खलु। 'बालादपि सुभा-षितं ग्राह्यम्।' इति न्यायादिति भावः ॥५॥

सरलार्थः—

हे राजन्! गुणैकपक्षपातिनो विद्वांसः कुतोऽपि हितोपदेशं स्वीकुर्वन्ति, न तु ते तत्र बाल-वृद्ध-स्त्री-पुरुषादि रूपं वक्तृ-विशेषं विवेचयन्ति। (यतः आम्रफल-भक्षी आम्रफलान्येव भुङ्क्ते, आम्रवृक्षान् न गणयति) तत् भवन्तोऽपि गुणैकपक्ष-पातिनः अतः इष्टगुणाय तत्रभवते अपि इयं द्रौपदी-वाणी रोचताम्। हितार्थ-सम्पन्नं द्रौपदीवाक्यं तत् भवद्भिः सर्वथा ग्राह्यमेव स्त्रैणं वचनं कथं ग्राह्यम्?

इति तव मानसि सङ्कोचः (शंका) माभूत । हितवचनं सर्वतः सर्वदा च सर्वथा ग्राह्यमेव स्यात् । हितार्थ-सम्पन्न-वाक्यस्य को वक्ता ? इति गुणज्ञा न विवेचयन्ति । यथा विषादपि अमृतं गृह्णन्ति विपश्चितः तथैव आमित्रादपि सद्वृत्तं गृहीतुं न संकुचन्ति विद्वांसः । गुणग्राहकाः अमेध्यादपि काञ्चनं गृह्णन्ति । अतः इष्टगुणैः भवद्भिरपि निःशङ्कमनसा द्रौपदीमापितं हितवचनं स्वीकर्तव्यमेव स्त्रैण-वचनमितिकृत्वा न तदुपेक्षणीयम् ॥५॥

समासाः—

रुचिरार्था=रुचिरः (मनोहरः) अर्थः यस्याः सा । बहुव्रीहिः ।

इष्टगुणाय=इष्टः (अभिमतः) गुणः यस्य सः । बहुव्रीहिः । तस्मै । ('भवते' पद का विशेषण है) ।

वक्तृ-विशेषनिस्पृहाः=नास्ति स्पृहा (इच्छा) येषां ते निस्पृहाः इति बहुव्रीहिः । वक्तृणां विशेषः इति षष्ठीसमासः । वक्तृविशेषे निस्पृहाः इति सप्तमी-समासः ।

गुणगृह्याः=गुणानां गृह्याः इति षष्ठीसमासः ॥५॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

'रुचिरार्था इयं भारती भवते रोचताम् ।'—कर्तृवाच्यम् ।

'रुचिरार्थया अनया भारत्या भवते रुच्यताम् ।'—कर्मवाच्यम् ।

'गुणगृह्याः विपश्चितः वक्तृविशेषनिस्पृहाः ('भवन्ति' इति अध्याहृतं पद-मस्ति)'—कर्तृवाच्यम्

'गुणगृह्यैः विपश्चिद्भिः वक्तृविशेषनिस्पृहैः भूयते ।'—भाववाच्यम् ।

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

इष्ट=इष्+क्त, (इष=इच्छायाम् । तुदादिः प० ग० सकर्मकः । सेट् । प० प० ।) लट्—इच्छति । लिट्—इयेष । लुङ्—ऐषीत् । लोट्—इच्छतु । लङ्—ऐच्छत् । विधिलिङ् इच्छेत् । लुट्—एषिता—एष्टा । लृट्—एषिष्यति । आशीर्लिङ्—इष्यात् । लृङ्—ऐषिष्यत् । रोचताम्—रुच (दीप्तावभिप्रीतौ च, प्र० ग०, अकर्मकः । सेट् । आत्मनेपदी । द्युतादिः ।)+लोट्—रोचताम् । लट्—रोचते । लिट्—रुरुचे । लुङ्—अरुचत्, अरोचिष्ट ।

रुचिर=रुचि+र=। रुचि=रुच्+कि।

भवत्=भा+डवतु। भवते इत्यत्र सम्प्रदाने चतुर्थी, "रुच्यर्थाना प्रीयमाण' इति नियमात् ज्ञाना।

भारती=भरत+अण्+स्त्रिया ङीप्। भारती (Means Speech) वाणी।

वक्तृ=वच् (अथवा ब्रू)+तृच्।

विशेष=वि+शिष्+घञ्।

स्पृहा=स्पृह+अच्+टाप्। गृह्य=(अर्थात् पक्षपाती) गृह्+क्यप्। गुणं गृह्णन्ते ये ते गुणगृह्या गुणपक्षपातिन इत्यर्थ। वचने=वच् (अथवा ब्रू)+ल्युट्=वचनम् तत विषयाधिकरणे सप्तमी।

विपश्चित=वि+प्र+चि+क्विप्। निपातनात् साधु। ननु इति अव्ययम्। अर्थात् निश्चितम्। अवधारणार्थकम् अव्ययमेतत् ॥५॥

छन्द —वियोगिनी।

अलङ्कारनिरूपणम्—

इस श्लोक के प्रथमार्ध म 'रुचिरार्था' इस पद का अर्थ युधिष्ठिर का रुचि हेतु होने के कारण पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' नाम का अलकार है।

सम्पूर्ण श्लोक मे सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन किया जाने के कारण 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलङ्कार है। काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास तिल-तण्डुलवत् पृथक् अवभासित होने के कारण 'संसृष्टि' नामक अलङ्कार भी होता है ॥५॥

टिप्पणी—

(१) 'शारीरिक बल और बौद्धिक बल का एकाधिकरण्य नहीं होना' यह धारणा बुद्धिजीवी वर्ग म आज कल देखने म आती है। छात्रगण बौद्धिक व्यवसाय मे रत होने से शारीरिक परिश्रम से बचते हैं, और इसी म गौरव अनुभव करते हैं। इस हेय प्रवृत्ति का मूलाधार यही उपर्युक्त निर्मूल धारणा है। भीमसन शारीरिक बल स्व-परिश्रम और सतत अध्यवसाय से उपार्जित कर श्रेष्ठता प्राप्त करता है उसी प्रकार वह बुद्धिमता वरिष्ठ भी है, देखिये भीमसेन का वाक्चातुर्य! भीमसेन के भाषण म सत्य और तथ्य दोनों है भीमसेन अपने बुद्धिचातुर्य से युधिष्ठिर के सम्मुख उन्हे प्रस्तुत करता है। उसकी प्रस्तुतीकरण की कला बुद्धि सङ्गत होने म कौन सहमत नहीं होगा? भीमसेन

का यह भाषण बौद्धिक बल और शारीरिक बल एकत्र रहने का ज्वलन्त उदाहरण है। भीमसेन अपने भाषण में युधिष्ठिर को इष्टगुण का विशेषण देकर गौरवान्वित करता है। युधिष्ठिर इस गौरव को अस्वीकृत नहीं कर सकते, फिर उन्हें कहना है कि गुणग्राहक वक्तृविशेष के सम्बन्ध में निस्पृह होते हैं अतः आपको द्रौपदी का भाषण स्वीकार करने में किसी प्रकार हिच-किचाहट (संकोच) नहीं होनी चाहिये।

शारीरिक बलधारी मल्ल (पहलवान) अखाड़े में कुश्ती लड़ते समय केवल शारीरिक बल की अधिकता से ही विजयी नहीं होते हैं वे वहाँ भी बौद्धिक बल का आश्रय लेकर ही विजयी होते हैं, यह तथ्य पहलवानों की कुश्तियाँ देखने से प्रमाणित हो सकता है। भीमसेन मल्ल युद्ध में निपुण है वह कुश्ती के दाँव और पैंतरों को जानता है, युद्ध में पैंतरों का सर्वाधिक महत्व होता है। उसी प्रकार भाषण में प्रस्तुतीकरण और शतरंज के खेल में चाल का महत्व है। हार-जीत इसी पर निर्भर रहती है।

(२) कविवर भारवि प्रसङ्गानुरूप भाषा का प्रयोग करने में सिद्ध-हस्त हैं। भारवि की कविता में अलङ्कार नियोजन कृत्रिम नहीं है। भाषा पर प्रभुत्व होने से उनकी कविता में अलङ्कार स्वतः ही उत्पन्न होते रहते हैं। इस श्लोक में प्रसङ्गानुरूप भाषा की सहज सरलता, वक्ता की भावाभिव्यक्ति सर्वतो भावेन करने की भाषा की क्षमता, प्रस्तुतीकरण की चतुरता, अपने वाक् वैभव से श्रोता की बुद्धि को स्तम्भित करना (जकड़ना) आदि अनेक गुण इसमें देखे जा सकते हैं। कविवर भारवि की वाणी में अर्थगाम्भीर्य तथा काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलंकारों का विन्यास कुछ अनूठा ही है। कालिदास का उपमा विन्यास जैसा मनोमुग्धकारी होता है उससे किसी भी प्रकार न्यून यह नहीं है।

संक्षिप्त-भावार्थः—

हे राजन् ! तत्रभवन्तः गुणैकपक्षपातिनः रुचिरार्था च इयं भारती, अतः इदं द्रौपदीकथनं तत्रभवद्भिः ग्राह्यमेव। यतः गुणग्राहकाः वक्तृविशेषे निस्पृहा भवन्ति।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'कतमे ते गुणाः'—यादवाभ्युदय, १.

'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।'—रघु० १।९

'ज्ञाने मौन, क्षमाशक्तौ, त्यागेश्लाघाविपर्यय ।
गुणागुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥—रघु० १।२२
'साधुत्वे तस्य को गुण '—पचत० ४।१०८ मुद्रारा० १।१५
'मखला गुणं '—कुमार० ४।८
'यत परेषा गुणगृहीतामि ।'—भमि० १।६
'गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।—कुमा० ४।१५
'कनकपिङ्गतडिद्गुणसयुतम् ।'—रघु० ६।५४, माघ० ४।५७
'यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री सयुज्येत यथा विधि ।
'तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥'—मनु० ६।२२
'द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावा सप्तपदार्थाः ।—तर्कसंग्रह
'गुणत्रय विभागाय ।'—कुमार० २।४, भगवद्गी० १४।५, रघु० ३।२७
आहारोद्विगुण स्त्रीणा बुद्धिस्तासा चतुर्गुणा, षड्गुणो व्यवसायश्च-कामश्चाष्टगुण स्मृत ॥'—चाणक्य० ७८
'अदेङ् गुण '—पा० सूत्र १।१।२॥
'य रसस्याङ्गिनोधर्मा शौर्यादय इवात्मनः, उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थि-तयो गुणा ॥—काव्यप्र० ८

अलङ्कार शास्त्र मे—वामन, पण्डितराज जगन्नाथ, दण्डी तथा अन्यान्य विद्वान् गुणों को शब्द और अर्थ दोनों का धर्म मानत हैं और प्रत्येक के दस-दस भेद कहत हैं। किन्तु आचार्य मम्मट केवल तीन गुण ही मानते हैं। पूर्वाचार्यों के विचारा की प्रखर समालोचना करते हुए मम्मट कहते हैं कि—
'माधुर्यमोज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते (गुणा) न पुनर्दश ॥'—काव्यप्र० ८

व्याकरण और मीमासा मे शब्द समूह का अर्थ अथवा धर्म को गुण माना जाता है। वैयाकरण शब्दार्थ के चार प्रकार मानत हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य तथा इनका भाव स्पष्ट करने के लिये क्रम से प्रत्येक का गौ शुक्ल. चल, और डित्थ. उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राजनीतिशास्त्र मे षाड्गुण्य प्रसिद्ध है।

सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव और समाश्रय य राजनीति के षड् गुण हैं। अमरकोष, २।८।१८ याज्ञव० १।३४६ मनु० ७।१६०, माघ० २।२६, रघु० ८।२१, रत्ना० १।६, भामिनीवि० १।६
'गणयति गुणग्रामम् ।'—गीतगो० २, भामिनीवि० १।१०३

'भगवति कमलालये भृपमगुणज्ञासि ।'—मुद्रा० २
'गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ।'—हितो० प्र० ४७

+ + +

● अव भीमसेन स्वयं ही, युधिष्ठिर को उलाहना देते हुए कहता है कि—
● सम्प्रति स्वयमुपालभते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी—
नृप ! विद्यासु निरूढ़िमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं—
करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥६॥

सुबोधिनी :

अन्वयः

हे नृप ! चतसृषु अपि विद्यासु निरूढिम् आगता विवेकिनी ते मतिः कथं करिणी पङ्कम् इव विपर्ययम् एत्य अवसीदति ।

शब्दार्थाः—

हे नृप !=हे राजन्, हे राजा युधिष्ठिर !, चतसृषु=चारों, अपि=भी, विद्यासु=विद्याओं में, निरूढिम्=प्रसिद्धि को, आगता=प्राप्त हुई, विवेकिनी =सदसद् विवेकवती, कार्याकार्य विवेचनशीला; ते=तुम्हारी, (आपकी), मति=बुद्धि, कथं=क्यों, कैसे; करिणी=हथिनी, गजवधू, पङ्कम्=दलदल, कीचड़; इव=सदृश, तरह; विपर्ययम्=वैपरीत्य को, व्यतिक्रम, उलटा औंधापन, प्रतिकूल, विरोधी, एत्य—आकर, प्राप्तकर, फसकर अवसीदति=नष्ट होती है, कराह रही है ।

हिन्दीअनुवाद—

हे राजा ! संसार की स्थिति बनाये रखने वाली अन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नामक चतुर्विध विद्याओं में आपकी बुद्धि सदसद् विवेक करने में सिद्धि को प्राप्त कर चुकने पर भी अब विचार विमूढ़ हथिनी जैसे दलदल में फस जाने पर कराहती है वैसे बुद्धिवैपरीत्य को प्राप्त कर क्यों कराह रही है ?

घण्टापथः—

चतसृष्विति । हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु । 'आन्वीक्षिकी

त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । विद्याश्चतस्र एवैतास्तु लोकसंस्थिति हेतव ॥'– इति कामन्दक । निरूढिमागता प्रसिद्धिगता । अतएव विवेकिनी सदसद्विवेकवती ।

यथाह मनु —'आन्वीक्षिक्यान्तु विज्ञान धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्या नयानयौ ॥' इति । ते मति करिणी पङ्कमिव विपर्यय वैपरीत्यमविवेक-रूपमेत्य अवसीदति नश्यति । तन्नयुक्तमिति भाव ॥६॥

सरलार्थ —

हे राजन् ! युधिष्ठिर ! यथा करिणी (गजवधू =हथिनी) पङ्के निमग्ना सती अतीव खिन्ना भवति तथा तव अपि मति विपर्यय प्राप्य अवसादनामनुभवति । नानुरूपतन्नभवतामिदम् । यत गजवधू विद्याशून्यत्वात् सदसदविवेकवती नास्ति, तस्या पङ्के निपतन तदनन्तर च अवसादन सम्भवति । तत्रभवताम्बुद्धिस्तु आन्विक्षिक्यादिसर्वविद्यासु प्राविण्यमलभत । विविध-विद्याभि संस्कृता बुद्धि निश्चयन सदसद्विवेकशालिनी भवति । सम्प्रति तनभवता विवेकिनीबुद्धि कथ वैपरीत्य भजते ? बुद्धेर्वैपरीत्य सर्वथा दुखजनकमाश्चर्यावहञ्च जायत । विस्मयकारी स्वबुद्धेर्वैपरीत्यभाव निरस्यतामाशु ॥६॥

समासा —

अस्मिन् श्लोके समस्तपदानामभाव ।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'निरूढिमागता विवेकिनी ते मति कारिणी इव अवसीदति ।'

—कर्तृवाच्यम् ।

'निरूढिमागतया विवेकिन्या ते मत्या कारिण्या इव अवसद्यते ।'

—भाववाच्यम ।

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

विवेकिनी=वि—विच्=घञ्=विवेक । विवेक+इनि (अस्त्यर्थे)+स्त्रियां ङीप । विवेक अस्या अस्ति इति विवेकिनी ।

निरूढि=नि—रुह+क्तिन् । एत्य=आङ्—इण् (गतौ)+ल्यप् ।

विपर्यय=वि—परि—इण्+अच ।

मति =मन्+क्तिन् । करिणी=कर+इनि+स्त्रियां ङीप् ।

पङ्क =पचि (पञ्च)+घञ् । विद्या=विद्+क्यप् (करणवाच्ये)+स्त्रियाम् आप् (टाप्) ।

अवसीदति=अव—सद्+लट् ति । लिट्—ससाद । लुङ्—असदत् । लङ्—असीदत् । क्तः—सन्नः ॥६॥

छन्दः—वियोगिनी ।

अलङ्कारनिरूपणम्—

इस श्लोक में "चतुसृष्वपिविद्यासु निरूढिमाता" ऐसा वहु पदार्थ का विवेकित्व के प्रति हेतु होने के कारण पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है ।

"करिणीपङ्कमिव" इस स्थल में इव शब्द का प्रयोग होने से श्रौत्युपमा नामक अलङ्कार है ।

'नृपवुद्धि का विद्याध्ययनजन्य विवेकिनीत्व होना सुस्पष्ट है और हथिनी का विद्याध्ययनाभावजन्य विवेक शून्यत्व होने से व्यतिरेक नामक अलङ्कार भी अभिव्यञ्जित होता है ।

जहाँ उपमेय में उपमान की अपेक्षा कोई (भली या बुरी) वात अधिक वतायी जाय, अर्थात् जब उपमेय को उपमान से किसी वात में वढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है । व्यतिरेक अलंकार उपमा या रूपक या प्रतीप के साथ भी आता है । यहाँ उपमा के साथ प्रयुक्त हुआ है ।

जव कारणाभाव होने पर भी कार्य की उत्पत्ति होती हुई दिखाई दे तव अलङ्कारशास्त्र के ज्ञाता उस स्थल पर विभावना नामक अर्थालंकार मानते हैं ।

यहाँ पर नृपवुद्धि का अवसादन होना कारण शून्य है । अतः कारण के विना कार्योत्पत्ति होने से विभावना नामक अलंकार है ।

जहाँ कारण विद्यमान हो और कार्य न हो वहाँ विशेषोक्ति नामक अलंकार होता है । यहाँ पर नृपवुद्धि आन्विक्षिक्यादि चारों विद्याओं में प्राविण्य प्राप्त कर चुकने पर भी विवेक रूप कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति नामक अलङ्कार है ॥६॥

टिप्पणी—

यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग (चतुसृष्वपि) कवि ने इस लिये किया है कि—एक ही विद्या का अध्ययन कर लेने मात्र से ही विवेक की प्राप्ति होती है । भीमसेन कहता है कि हे राजा ! आपने तो चारों (आन्विक्षिक्यादि) विद्याओं

मे नैपुण्य प्राप्त कर लिया है। 'या क्या एकस्या विद्याया नैपुण्यावाप्ते तत्र भवद्भिस्तु चतसृषु अपि विद्यासु निरूढित्वमापन्न तदपि तव बुद्धि विवेक न मजते अपितु वैपरीत्यमति । एतदेव विस्मय जनकम् । दु ख कारी च ।' फिर भी आपकी बुद्धि सदसद्विवेकशून्य होकर विपरीत दिशा म क्यो (कथम) जाती है ? 'अपि' शब्द के द्वारा चारो विद्याओ के अध्ययन का नैष्फल्य होने की ओर इगित किया है ।

सक्षिप्त भावार्थ —

हे राजन् ! पङ्कनिमग्ना करिणी यथा अवसीदति तथा तव बुद्धि विवेक परित्यज्य वैपरीत्य भजत तनयुक्तम् । करिणी तु विद्याशून्या तस्या पङ्के निप तन विस्मयजनक नास्ति । तत्रभवद्भिस्तु चतसृष्वपि विद्यासु प्राविण्यमवाप्त ततोऽपि कथ तव बुद्धि वैपरीत्य प्राप्य करिणीव अवसीदति द्वयोर्मध्य नास्ति किञ्चिदपि साहश्यम् ! बुद्धे अवसादन नास्ति चतसृष्वपि विद्यासु नैपुण्यावाप्त फलम् । मतिविपर्यय परित्यज ! तथयुक्तमिति भाव ॥६॥

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

विवेक—'काश्यपि यातस्तवापि च विवेक ।'—भामिनी० १।६८

ज्ञातोऽय जलधर तावको विवेक ।' १।६६

'यच्छृ गार विवेकतत्त्वमपि यत्काव्येषु लीलायितम'—गीतगो० १२

'नीरक्षीरविवेके त्वमवालस्य तनुषे चेत० ।'—भामि० १।५२,

'अल्पविषयामति ।'—रघु० १।२

'मम तु मति न मनागपैतु धर्मात् ।'—भामिनि० ४।२६

'विधिरहो बलवानिति मे मति ।'—भर्तृ० २।६१

'प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ।'—रघु० ८।६४

'मत्या भुक्त्वा चरन्कृच्छ्रम् ।'—मनु० ४।२२३,५।१६

'कथ मारात्मके त्वयि विश्वास ।'—हितो० १

'भानुबन्धा कथ न स्यु सम्पदो मे निरापद ।'—रघु० १।६४

'कथमात्मान निवेदयामि कथ वात्मापहार करोमि ।'—शाकु० १

'कथ मामेवोद्दिशति ।'—शाकु० ६

'कथ आ गम्यते ।'—उत्तररा० ३

'कथ नामैतत् ।' उत्तररा० ६

'तस्य स्थित्वा कथमपि पुर० ।'—मेघ० ३

'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितम्० ।'—शाकु० ३।२५

'न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।'—मनु० ४।११

+ + +

हम लोगों को क्या-क्या नष्ट नहीं हुआ ! जिस कारण हम इस प्रकार उलाहना दे रहे हैं, इस विषय में कहते हैं—

किं नश्छिन्नमिदानीं येनेत्थमुपालभ्येमहीत्यत्राह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां—
गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि—
त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ।।७।।

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

त्वयि परैः इमाम् अवगमितां दशां गमिते (सति) सुरैः अपि सम्भावित वृत्ति पौरुषम् अवसीदति इति यत्, अतः परं, किं विधुरम् (अस्तीति शेषः)

शब्दार्थाः—

त्वयि=आपको, परैः शत्रुओं ने, इमाम्=इस, दशां=दशा को, गमिते= (सति) प्राप्त कराने पर, सुरैः=देवगणों ने, अपि=भी, सम्भावितवृत्ति पौरुषम्=सम्मानित पुरुषार्थ (पराक्रम) (जिस पुरुषार्थ की सराहना की थी वह), अवसीदति=नष्ट हो रहा है, अतः परं=इससे बढ़कर, किं=क्या, विधुरम्=कष्ट, अस्ति=है ।

हिन्दी अनुवाद—

हे राजा युधिष्ठिर ! आपको आपके शत्रुओं ने इस कष्ट कारक वनवासी दशा को प्राप्त कराने पर, देवताओं ने भी जिस आपके पुरुषार्थ की (आपके द्वारा किये गये राजसूय यज्ञ के अवसर पर सामन्त भूपालों को स्वपु-रुपार्थ से करद (कर देने वाले) बनाने पर) मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी, वह पुरुषार्थ अब विफल हो रहा है । इससे भी बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है ।

घण्टापथः—

विधुरमिति । त्वयि परैः शत्रुभिः इमाम् ईदृशीम् अवगमितां गर्हिताम् । 'अवगीतन्तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते' इति विश्वः । दशां गमिते प्रापिते सति ।

सुरैरपि सम्भावितवृत्ति बहुकृतप्रसारम्। अथवा निश्चित सद्भावम्। पौरुष पुरुषकार। युवादित्वात् अण् प्रत्यय। अवसीदति नश्यतीति यत्। अत परम् अतोऽन्यदधिक किं विधुरम् किं कष्टम्। न किंचिदित्यर्थ। 'विधुर प्रत्यवाये स्यात्कष्ट विश्लेषयोरपि' इति वैजयन्ती।

अस्तीनिशेप। 'अस्तिर्भवन्तीपर प्रथम पुरुषोऽप्रयुज्यमानोप्यस्ति' इति भाष्यकार। भवन्तीति लट पूर्वाचार्याणां सज्ञा। यद्वा पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च शत्रुकृता। तदुपरि महत्कष्ट तच्च त्वदुपेक्षयत्युपालम्यम' इत्यर्थ ॥७॥

सरलार्थ —

अक्षक्रीडाया कपटमाश्रित्याहृतराज्यादिसर्वस्वे बन्धुभि कौरवै निर्वासितन त्वया दुरवस्थामिमां सम्प्राप्य वनवासिवृत्तिरवलम्बिता। अनन हेतुना पुराकृत राजसूयेन यज्ञेन करदीकृताखिल भूपालमण्डलस्य ते मत् पुरुषार्थ

अथात मल्लिनाथाशय विवृणोति—

१. 'अस्ति'' इति=अस्ति इति अस धातो स्वरूपार्थे तिप् (श्तिप्) प्रत्यय, विशेष्य—पदमेतत्। भवन्ति=लट्। अत भवति (लट्) पर यस्मात् तादृश अस्ति (अस्धातु), लङ् विभक्त्यन्त अस् धातुरित्यर्थ'। प्रथमपुरुषे अप्रयुज्यमान ऊह्य (understood) अपि अस्ति। प्रथमपुरुषे लङ् विभक्त्यन्त अस्धातो पदम् ऊह्यमपि तिष्ठतीति दृश्यते इति भाव।

२ भवति' इति=पूर्वाचार्या प्राचीनपण्डिता, लट 'भवति' इति सज्ञाम् आहु। अत भवतीत्युक्तौ लट् प्रतीयत इत्यर्थ।

३ मत् पुरुषाधिकारस्य' इति=पुरुषाधिकारस्य पुरुषाणाम् अधिकार यत् तत् पुरुषाधिकारम् पौरुषम् इत्यर्थ। पुरुषाधिकारस्य (पौरुषस्य) दुर्दशा अयमादप्राप्तिरूपा दुरवस्था इति यत्, सा च शत्रुकृता शत्रुमत्पादिता। तच्च दुर्दशाजनन त्वदुपेक्षया तवैव उपेक्षा हेतुकमित्याशय, इति तदुपरि महत्कष्टम्। प्रथमत शत्रुकृता पौरुषाक्रमादरूपा दुर्दशा इत्येव कष्टम्, द्वितीयत तव उपेक्षयैव सा सजातेति तदुपरि महत्कष्टम् (तस्मादपि अधिक कष्टमेतत् यत् सा तवैव उपेक्षया सजाता इत्यर्थ) अत त्वम् उपालभ्यसे तिरस्क्रियसे ॥

देवैरपि प्रगीतः आसीत्, तदधुना त्वत्कृत-उपेक्षया विनश्यतीति मे मतिः। अन्यथा हृतं राज्यं पुनः स्वायत्तीकर्तुं कथं न चेष्टसे ? महापराक्रमशालिनः तव देवसम्मानितं पौरुषमपि सम्प्रति विलयं याति; इतोऽधिकं किमन्यत् कष्टकरं स्यात् ? उपेक्षामूलमिदं सर्वं भवति। अतः शत्रुः सर्वथा नोपेक्ष्य इति भावः ॥७॥

समासाः—

सम्भावितवृत्ति=सम्भाविता (समादृता, बहुमता) वृत्तिः (प्रसारः) यस्य, तत्। बहुव्रीहिः समासः। पौरुषम् इति पदस्य विशेषणमिदम्।

वाक्यपरिवर्तनम्—

'सम्भावितवृत्ति-पौरुषं यत् अवसीदति, अतः परं किं विधुरम् अस्ति।'

—कर्तृवाच्यम्।

'सम्भावितवृत्तिना पौरुषेण यत् अवसद्यते, अतः परेण केन विधुरेणभूयते।'

—भाववाच्यम्।

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अवगीत—अव—गै+क्त। अवगीत=निन्दित।

लट्—गायति, लिट्—जगौ, लुङ्—अगासीत्।

गै=शब्दे। प्र० ग०। अक०। अनि०। प० प०। ऐकारान्तः। गायति। गाथा। गेष्णुर्गाथा। गादाभ्यामिष्णुच्।

गमित—गम्+णिच्+क्त (कर्मणि)।

गम्लृ (गम्)=गतौ, प्र० ग०। सकर्मकः। अनि०। प० प० 'इषुगमियमां छः' एषां छः स्याच्छिति। गच्छति। गात्रम्। गामुकः। जगत्।

लृटि—गमिष्यति—गमेरिट् परस्मैपदेषु। गमेः परस्य सादेः प्रत्ययस्येट् स्यात्। सङ्गच्छते[1]=मिलति "क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेकाभवति भवार्णवतरणे नौका।'—इति मोहमुद्गरः।

अनुगच्छति=अनुसरति। उद्गच्छति=उदेति।

आविर्भवति। 'फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः'—रघु०। आगच्छति=समीपं प्राप्नोति। अपगच्छति=अपसरति।

---

१. 'समो गम्यृच्छिभ्याम्।' इत्यात्मनेपदम्।

अतिगच्छति=अतिक्रमते । अवगच्छति=जानाति । अधिगच्छति=प्राप्नोति । निर्गच्छति=निस्सरति । कर्मणि=गम्यते । लुङ्=अगामि ।

णिचि—गमयति—गमयते । हेतुमण्णिजन्ता तत्र प्रयोजको हेतुश्च । कर्तुः प्रवर्तयिता हेतु सञ्ज्ञः कर्तृसञ्ज्ञश्च भवति । यथा—देवदत्तो गच्छति । गच्छन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रेरयति । अत्र देवदत्तः कर्ता । तस्य प्रवर्तयिता यज्ञदत्तः हेतुसञ्ज्ञो भवति कर्तृसञ्ज्ञश्च । हेतुमति च । प्रेरकव्यापारे प्रेरणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । णचावितौ । "इ" मात्र शिष्यते । यथा गमि इति । अयं णिजन्तो धातुः । तस्मात् शपि गमि अ इति स्थिते (सार्वधातुके शपि परे इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् ।) सार्वधातुकेतिगुणे अयादेशे तिपि च गमयति इति रूपं भवति । अत्र 'गमय' इत्येतदङ्गम् । णिचश्च णिजन्ताद्धातोः आत्मनेपदं स्यात्, कर्तृगामिनि क्रियाफले गमयते इत्यपि रूपं भवति । गमिइत्यस्य अनेकाच्त्वात् लिटि आम् प्रत्ययकृञ्भ्वस्त्यनुप्रयोगाभ्यां रूपनिष्पत्तिः । गमयाम्बभूव । गमयाञ्चकार गमयामासेत्यादि । लुङि—अजीगमत्—अजीगमत । सनि—जिगमिषति । यङि—जङ्गम्यते । यङ्लुकि—जङ्गमीति—जङ्गन्ति । कृत्सु—गन्तव्यम् । गमनीयम् । गम्यम् । (पोरदुपधात्) गतः । गच्छन् । गन्तुम् । गमनम् । गत्वा । सङ्गत्य[1]—सङ्गम्य । गत्वरः । जगत् । सर्वत्र गः । पतगः । गौः ॥

अवसीदति=अव—सद् (उपवेशने, प्र० ग० प० प०)+लट् ति । लट्—अवसीदति । सीदति । लोट्—सीदतु ।

लङ्—असीदत् । विधिलिङ्—सीदेत् । लृट्—सत्स्यति । आ० प० लट्मे—मद्यते ।

सम्भावित=सम्—भू+णिच्+क्त ।

वृत्ति—वृत्+क्तिन् ।

विधुरम्=विगता धूर्यस्य इति विधुरम् । बहुव्रीहिः । समासान्तः अच् ।

---

१ 'वाल्यपि' अनुदात्तोपदेशानां वनति तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो वा स्याल्ल्यपि । इति अनुनासिकलोपः । लोपपक्षे ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । इति तुक् ।

अतः=एतद्+तसिल् । पञ्चम्यास्तसिल् अत्रपरमित्यनेन अन्यार्थशब्देन योगे पंचमी । परम्=अन्यः । परैः=शत्रुभिः । त्वयि इति भावे सप्तमी । सुरैः इति 'सम्भावित' अनुक्ते कर्तरि तृतीया । सुरैः इत्यस्य सापेक्षत्वेऽपि इत्यस्य 'सम्भावितवृत्ति' इत्यत्र समासः । कारणसापेक्षत्वे समासस्वीकारात् तथाह— "सापक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः ।"

अतः परं किं विधुरम् इत्यत्र अस्तीति उह्यम् । अत्र मल्लिनाथेन व्याकरण महाभाष्योक्तं यत् उधृनम् 'अस्तिर्भवति परः ।' इत्यादि तस्याशयो यथा—

अस्ति इत्यत्र अस् धातुः स भवतिपरः (लट् प्रत्ययान्तः) अध्याहृतः । भवति पर इत्यस्य लट् प्रत्ययान्त इत्यर्थः ॥७॥

छन्दः—वियोगिनी ।

अलङ्कारनिरूपणम्—

यहाँ प्रथम चरण में—रकार पकार की तथा द्वितीय चरण में गकार की असकृत् आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास नामक अलंकार है ॥७॥

टिप्पणी—

"सुरैरपि" पद में अपि शब्द के द्वारा "का कथा अन्यैः साधारणैः मानवैः ।" यह सम्मुच्चयार्थक भाव प्रकट किया गया है । राजसूय यज्ञ जो युधिष्ठिर ने किया था, इस यज्ञ में सभी माण्डलिक राजाओं ने युधिष्ठिर को कर प्रदान कर, अधीनत्व स्वीकार किया था । माण्डलिक राजाओं को करद बनाने से युधिष्ठिर का पौरुप सर्वमान्य हुआ । सभी ने, देवताओं तक ने युधिष्ठिर की प्रशंसा की । उसके स्तुतिपरक गीत गाये । ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय युधिष्ठिर के पौरुप की धाक ऐसी जमी कि उसकी महिमा का बखान करने में देवताओं ने भी अपने को धन्य माना फिर मनुष्यों की कथा ही क्या है ?

संक्षिप्तभावार्थः—

पुरा महापराक्रमशालिनस्यापि ते (युधिष्ठिरस्य) देवैरपि मुक्तकण्ठैः प्रगीतं पौरुपं सम्प्रति तवक्षतया शत्रोः उपेक्षया विलयं याति किमन्यत् इतः परं कष्टकरं स्यात् ? शत्रोरुपेक्षां मा कुरु । उपेक्षितः शत्रुः उपेक्षिताग्निस्फुलिङ्गवत् विनाशको भवति । यथा स्वल्पमपि ऋणं वृद्धिक्रमेण वर्धते वर्धितञ्च ऋणं सर्वस्वमपहरति । अतः कदापि शत्रोरुपेक्षा न कार्या ॥७॥

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

विधुर (वि०) (विगता धू भार्यनारो यस्मात् प्रा० ब०)—मालतीमा० २।३, ९।११, उत्तररा० ३।१८ ६।४१, किराता० ११।२६ 'मयि च विधुरे भाव कान्ता प्रवृत्तिपराङ्मुख ।'—विक्रम० ४।२०

'विधुरा ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ।—कुमार० ४।३२, शिशु० ६।२९, १२।८,

'सा वै कलङ्कविधुरो मधुराननश्री ।—भामि० २।५। पर (वि०) पृ०+ अप कर्तरि अच् वा। सापेक्ष स्थिति का बोध कराते समय विकल्पसे इस शब्द के प्रथमा, सम्बोधन, पचमी और सप्तमी विभक्ति म सर्वनाम सदृश रूप होते हैं।

'म्लेच्छदेशस्तत पर ।—मनु० २।२३, ७।१५८

बाल्यात्परामिव दशा मदनोऽध्युवास ।—रघु० ५।६३ कुमार० १।३१

'सिकतात्वादपि परा प्रपेदे परमाणुताम ।' रघु० १५।२२

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य पर मन । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स ॥' गीता० ३।४३

'न त्वया द्रष्टव्याना पर दृष्टम ।'—शाकु० २, किराता० ५।२८

'परशतम् ।' 'परिचर्यापर'—रघु० १।९१

+ + +

- 'यह समय शत्रु की उपेक्षा करने का ही है ऐसा समझकर यदि आप उपेक्षा कर रहे हैं तो यह अनुचित है। यह तथ्य भीमसेन के द्वार महाकवि भारवि श्लोक-द्वय से स्पष्ट करते हैं—
- अथोपेक्षाकालत्वादियमुपगेत्याशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तु नदेव तावच्छ्लोक-द्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदय सुमेधसा—
गुरुरस्वन्ततर सुमर्षण ।
न महानपि भूतिमिच्छता—
फल-सम्पत्प्रवण. परिक्षय ॥८॥'

---

१ 'उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्य पथ्यमिच्छता'—माघ० २।१०, माघ ने भारवि क भाव को ग्रहण करन का प्रयास किया है। 'कविरनुहरति छायाम् ।'

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

भूतिम् इच्छता सुमेधसा गुरुः अस्वन्ततरः द्विषताम् उदयः सुमर्षणः (भवति)। महान् अपि फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः न (सुमर्षणः)।

शब्दार्थाः—

भूतिम्=उन्नति को, **इच्छता**=चाहते हुए, **सुमेधसा**=सद्बुद्धिवाले पुरुष के द्वारा, **गुरुः**=बहुत बड़ा, महान्; **अपि**=भी, **अस्वन्ततरः**=क्षयोन्मुख, जिसका पर्यवसान बुरा है; **द्विषताम्**=शत्रुओं का, **उदयः**=उन्नति, **सुमर्षणः**= सहन करने योग्य है; उपेक्षणीय है; (किन्तु) **महान्**=बड़ा, **अपि**=भी, **फल-सम्पत्प्रवणः**=फलसिद्धि के लिये उन्मुख, **परिक्षयः**=ह्रास, **न**=नहीं, **सुमर्षणः** =सहन करने योग्य, (नभवति=नही होता है)।

हिन्दी अनुवाद—

ऐश्वर्य की कामना करने वाले व्यक्ति, क्षय-पर्यवसायी शत्रु की उन्नति को सह लेते हैं किन्तु अभ्युदयकारी शत्रु की वर्तमान कालिक अवनति की भी उपेक्षा नहीं करते ॥८॥

घण्टापथः—

द्विषतामिति। भूतिमुदयमिच्छता। शोभना मेधा यस्य, तेन **सुमेधसा** सुधिया। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः **गुरुर्महान्** अपि **अस्वन्ततरो**ऽत्यन्तदुरन्तः। क्षयोन्मुख इत्यर्थः। **द्विषतामुदयो** वृद्धिः। सुखेन मृष्यत इति **सुमर्षण** सु-सहः। उपेक्ष्य इत्यर्थः। स्वन्तश्चेत् दुर्मर्पण इतिभावः 'भाषायां शासि—' इत्यादिना खलार्थे युच् प्रत्ययः। **महानपि फलसम्पत्प्रवणः** फल-सम्पदुन्मुखः। 'प्रनिरन्तर—' इत्यादिना णत्वम्। परिक्षयो न सुमर्षणः। नोपेक्ष्य इत्यर्थः। अन्यथातूपेक्ष्य इति भावः। नह्युदय एव प्रतीकार्यो न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः। किन्तु स्वन्तत्वास्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः।

सरलार्थः—

(अत्र युधिष्ठिरकृता शत्रोरुपेक्षा, उपेक्षा-कालत्वात् इयमुपेक्षा इत्याशङ्कय न अयमुपेक्षा-काल इति वक्तुं तदेव तावत् युग्मकेन वर्णयति कविः)।

ऐश्वर्याभिवृद्धिकामुकोमतिमान् नृप आपातरमणीया दुरन्ता शत्रूणा वृद्धिम् उपेक्षत, किन्तु मङ्गलपर्यवसाना शत्रुवृद्धि कदापि न सहेत। शुभाशुभफल सम्यक् विविच्य उभयमपि उपेक्षेत प्रतिकुर्याद्वा।

निश्चयेन दुर्योधनस्य नायमस्वन्त काल अपितु उदयोन्मुखैव परिलक्ष्यते। अत कथमपि नोपेक्षणीयस्त्वया शत्रु ॥८॥

समासा —

सुमेधसा=सु (शोभना) मेधा यस्य स (इति बहुव्रीहि) तेन। एतद् पदम् 'सुमर्पण' इत्यस्य कर्तृ कारकम्। अत्र कृद्योगे कर्तरि षष्ठी भवितु नार्हति। न लोकाव्यय निष्ठाखलर्थतृणाम्' इति नियामकसूत्रेण षष्ठी निषिद्धा।

'सुमेधसा' इत्यत्र 'नित्यमसिच् प्रजामेधयो' इति नियमात् बहुव्रीहिसमास समासान्त-मेधा'-शब्दात् 'असिच्' प्रत्ययो जात। अप्रजा दुष्प्रजा, सुप्रजा अमेधा सुमेधा दुर्मेधा इत्यत्रापि बहुव्रीहौ असिच् (अस्) प्रत्यय एव दृष्टो दृश्यते। सजाते असिच् प्रत्यये बहुव्रीहौ 'अप्रजस्' शब्दस्य 'सुमेधस्' शब्दस्य च प्रथमाया एकवचने अप्रजा सुमेधा इत्येव रूपौ भवत।

अस्वन्ततर =सु (शोभन, सुन्दर शिवपर्यवसायी) अन्त (परिणाम) यस्य स स्वन्त। बहुव्रीहि। न स्वन्त इति अस्वन्त। नञ् समास। ततश्च तरप् प्रत्यय। अस्वन्त+तरप्=अस्वन्ततर.। अतिशयेन स्वन्त इत्यर्थ। अत्र प्रकर्ष-द्योतनार्थं तरप् (तर) प्रत्यय। द्वयोर्मध्ये एकोत्कर्षद्योतनार्थं नात्र तरप् प्रत्ययो जात। 'उदय' इत्यस्य विशेषणमेतत्। 'तरप्' प्रत्यय नात्र तुलना सूचक। फलसम्पत्प्रवण =फलम् एव सम्पत्। इति कर्मधारय। तत्र प्रवण। सप्तमी तत्पुरु० अथवा फलस्य सम्पत्, फलसम्पत् इति षष्ठी तत् पुरुष। तत्र प्रवण (सप्तमी तत्पुरुष) सम्पत् शब्द ऐश्वर्यार्थक। गुणोत्कर्षद्योतको वा। फल शब्द लाभ—परिणामपर्यायवाचक ॥८॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

कर्तृवा०—'गुरु अस्वन्तर उदय सुमर्पण (अग्नि, भवति वा)
भाववा०—'गुरुणा अस्वन्ततरेण उदयन सुमर्पणेन (भूयते)
+ + + +
कर्तृवा०—'महान् अपि फलसम्पत्प्रवण परिक्षय न सुमर्पण (भवति)
भाववा०—'महता अपि फलसम्पत्प्रवणेन परिक्षयेण सुमर्पणेन न (भूयते)

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

द्विषत्=द्विष्+शतृप्रत्ययः। वैरिवाचको द्विषत् शब्दः। यदा द्विषच्छब्दोऽयं शत्रुं ज्ञापयति तदा द्विष् धातोः शतृप्रयय; भवति 'द्विषोऽमित्रे' नियमेन। असुहृद् वाचकः अमित्रशब्दः सर्व-विदित एवास्ति।

द्विष्धातुः अप्रीतौ, अदादीगणीयः, सकर्मक;, अनिट् उ० पदी वर्तते। लट्—द्वेष्टि—द्विष्टे। लिट्—द्विद्वेष—द्विद्विषे। लङ्—अद्वेट्—अद्वेड्, अद्विष्ट लुङ्—अद्विक्षत, अद्विक्षत्। क्तप्रत्ययान्तम्—द्विष्टः। कर्मणि—द्विष्यते। **णिचि**—द्वेषयति—द्वेषयते। **सनि**—दिद्विक्षति—दिद्विक्षते। **यङि**—देद्विष्यते। कृत्सु—द्वेष्टव्यः। द्वेषणीयः। द्वेष्यः। द्विष्टः। द्विषन् द्विषती। द्विषाणः। द्वेक्ष्यन्। द्वेक्ष्यती—द्वेक्ष्यन्ती। द्वेक्ष्यमाणा। द्वेष्टुम्। द्वेषणम्। द्विष्टा। प्रद्विष्य। 'द्विषत्' इति शब्दयोगे कर्मणि षष्ठी द्वितीया च भवति। 'द्विषः शत्रुर्वा' अनेन नियमेन यथाचोरं द्विषन्, चोरस्य द्विषन् इति वा भवति। 'मुरस्य मुरं वा द्विषन्' इति सिद्धान्त-कौमुदीकाराः भट्टोजीदीक्षिताः ॥८॥

उदय=उत्—इण्+अच्। 'एरच्' इति अच् प्रत्ययः। एः=इकारान्तात् धातोः अच्=अच् प्रत्ययः भवति इत्यर्थः।

सुमर्षण=सु—मृष्+युच्। (युच् इति खलर्थीयोऽयं प्रत्ययः) अतोत्र युच् प्रत्ययान्त-सुमर्षण-शब्द—योगेन सुमेधसा इति कर्तृकारके षष्ठी विभक्तिर्न जाता।

महत्=मह्+अतृ। मह=पूजायाम्। भवादि;। सकर्मकः। सेट्। उ० प०। महति। मघवा। श्वन्नुक्षन्निति निपातनात् साधुः। महान्, महान्तौ, महान्तः। मही। महिषः।

महिषी=राज्ञी। महतो भावः महिमा।

भूतिः=भू+क्तिन्। भूति शब्दः भस्मवाचकः, सम्पद् (ऐश्वर्य) वाचकश्च।

'विभूति भूतिरैश्वर्य मणिमादिकमष्ट धा।'

'भूतिर्भसित भस्मनि।' इत्यमरः १।४१,६४.

इच्छत्=इष्+शतृ। इच्छन्, इच्छन्तौ, इच्छन्तः, एवं रूपाणि भवन्ति। तृतीयैकवचने इच्छता इति रूपम्।

इच्छता इति पदं सुमेधसा इत्यस्य 'जनेन पुरुषेणवा' इति उह्यमान पदस्य (understood) विशेषणमिदम् ॥८॥

इष् धातु इच्छायाम् । ष० ग० । सकर्मक । सेट् । प० प० । लट्—इच्छति । लिट्—इयेष । लुङ्—ऐषीत् । कर्मणि—इष्यते । णिचि—एषयति—एषयते । सनि—एषिषति । कृत्सु—एषितव्यम—एष्टव्यम् । एषणीयम् । एष्यम् । इष्ट । इच्छन् । इच्छती—इच्छन्तो । एषितुम्—एष्टुम् । एषणम् । एषित्वा—इष्ट्वा । समीष्य । इच्छु । इच्छा । प्रतीच्छति—गृह्णाति । अधीच्छति=सत्करोति । अधीष्ट=सत्कृत । अध्येषणम्=सत्कार. ।। परिक्षय = परि—क्षि+अच् । क्षिधातु=हिंसायाम् । स्वादि ५ ग० । इदन्त छान्दस । क्षिणोति इति लटि रूप भवति ।

अन्यच्च क्षि=क्षय । प्र० ग० । अकर्मक । अन्तर्भावितण्यर्थस्तु सकर्मक । अनिट् । प० प० । लटि—क्षयति रूप भवति । परिक्षय इत्यत्र क्षयार्थक क्षिधातु । लिट्—चिक्षाय । लुङ्—अक्षैषीत् । भावे—क्षीयते । णिचि—क्षाययति—क्षाययते । सनि—चिक्षीषति । कृत्सु—क्षेतव्यम् । क्षयणीयम् । क्षेतु योग्य क्षयम । क्षेतु शक्य क्षय्यम् । क्षीण—क्षित । क्षाम इति क्षै क्षये इत्यस्य रूपम् । क्षित्वा । प्रक्षीय ।

सम्पद्=सम्—पद्+क्विप् ।

पद् धातु गतौ । चतुर्थ गणीय । सकर्मक । अनिट् ।

आ० प० । लट्—पद्यते । लिट्—पेदे । लुङ्—अपादि । क्तप्रत्य०—पन्न ।

प्रवण—प्र+वण्+अच । नान्तो वनशब्द मूर्धन्यणकारे परिणतो भवति । प्र, निद्, अन्तर, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खादिर पीयुक्षा शब्दयोगेषु नस्य णत्व भवति । यथा—प्रवणम् । शरवणम् । किन्तु यदा प्रवण-शरवणादि शब्देन सज्ञाबोधो भवति तदा नस्य णत्व न जायते ।

गुरु=गृ+कु । गुरुशब्द बृहस्पति वाचक तथैव पितृ वाचक, श्रेष्ठ वाचकश्चापिवर्तते ।।८।।

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ।

सक्षिप्त भावार्थ—

भूतिकामुकेन नृपेण शत्रोरुदय एव न प्रतीक्षार्य न च तत् परिक्षय एव उपेक्षणीय ।

क्षयपर्यवसायी उदयोपि उपेक्ष्यः तथैव उदयोन्मुखः ह्रासोऽपि नोपेक्ष्यः। दुर्योधनस्येयमुन्नतिः न—ह्रासोन्मुखी अतः त्वया शत्रोरुपेक्षा न कार्या ॥८॥

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत्।'—रघु० १।१८

'नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी।'—रघु० २।७५

'स वोऽस्तु भूत्यै भगवान् मुकुन्दः।'—विक्रमाङ्क० १।२

'विप्रतीकारपरेण मंगलं निषेव्यते भूति समुत्सुकेन वा।' कुमार० ५।७६

'मृतभूतिरहीनभोगभाक्।'—माघ० १६।७१

'स्फुटोपमं भूति सितेन शम्भुना।'—माघ० १।४

'भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य।'—मेघ० १९

+ + +

● उन्नति और अवनति के काल में कब उपेक्षा करनी चाहिये और कब उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, यह कथन कर चुकने के पश्चात् अब कौन सी विपत्ति उपेक्षणीय नहीं है, इसे कवि भीमसेन के द्वारा ही बतलाते हैं :—

● अथोभयोरपि मध्यएकतरस्योदयक्षययोर्गतिमुक्त्वेदानी युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—

अचिरेण परस्य भूयसीं—
विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती—
कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥९॥

:सुबोधिनीः

अन्वयः—

कृति परस्य क्षययुक्तिम् अचिरेण भूयसीम् आत्मनः च विपरितां विगणय्य उपेक्षते, अन्यथा तत् प्रतिकारं कुरुते।

शब्दार्थः—

कृती=कार्य सम्पादन में कुशल, चतुर, परस्य=शत्रु की, क्षययुक्तिम्=विपद्ग्रस्तता, अचिरेण=शीघ्र ही, भूयसीम्=होने वाली, आत्मनः च=और स्वयं की, विपरीताम्=विपरीत, देर में होने वाली और थोड़ी तथा अल्प मात्रा में; विगणय्य=विचार करके, उपेक्षते=उपेक्षा करते हैं। अन्यथा=

इसके विपरीत अवस्था में, तत्=उसका, प्रतीकार=प्रतीकार कुरुते=करते हैं ॥६॥

हिन्दी अनुवाद—

ऐश्वर्याभिलाषी चतुर व्यक्ति शत्रु के क्षीयमाण अभ्युदय की तो उपेक्षा करते हैं किन्तु अभ्युदयोन्मुख विपद्ग्रस्त शत्रु की वे कथमपि उपेक्षा नहीं करते ॥६॥

घण्टापथ —

अचिरणेति ॥ कृतमनेनेति कृती । कुशलइत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनि प्रत्यय । परस्य शत्रो । क्षययुक्ति क्षययोगमचिरेणाशुभाविनी भूयसीं दुरन्ता च तयोरमन क्षययुक्ति । विपरीता चिरभाविनीमल्पीयसी च विगणय्य विचार्य । 'ल्यपि च लघुपूर्वात्' इत्ययादेश । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्ताव-ल्पीयस्याम्, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थ । तत् प्रतीकार तस्या क्षययुक्ते प्रतीकारमचिरेणाशु कुरुते । एव सति यदा शत्रोरभ्युदय स्वस्य चातिपरिक्षयो यथास्माक तदा किं वक्तव्यम् । सद्य प्रतिकुरुत इत्यर्थात् सिद्धमनुसन्धेयम् ॥६॥

सरलार्थ —

अचिरमेव शत्रूणां दुरन्ता स्थिति भविष्यति, स्वस्य च किमपि नाशुभ चिरेणापि भविष्यति । इति मत्वा विचक्षण औदासीन्य भजते । किन्तु यदा शत्रो विपत् नाशु भविष्यति, कथञ्चित् सत्यपि विपत्पातो यदि सा विपत दुरन्ता यदि न स्यात तर्हि मतिमान्नर नोपेक्षते । अत शत्रो रुमोन्नति स्वस्य-चाति परिक्षयमवलोक्य शत्रोरुपेक्षापरित्यज्य तत् प्रतिकारार्थं यत्नवान् भव ॥६॥

समास —

क्षययुक्तिम्=क्षयेण (विपदा) युक्ति (योग) इति क्षययुक्ति । तृ० तत्पुरु० । ताम् । उपेक्षते इत्यस्या क्रियाया कर्मणि द्वितीया ।

तत् प्रतीकारम्=तस्या प्रतीकार इति तत् प्रतीकार । षष्ठीसमास । तम् ।

अचिरेण=न चिरेण इति नञ् समास ।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'अचिरेण परस्य भूयसीं क्षययुक्तिं कृती उपेक्षते ।'—कर्तृवाच्यम् ।
'अचिरेण परस्य भूयसी क्षययुक्तिः कृतिना उपेक्ष्यते ।'—कर्मवाच्यम् ।
'अथवा तत्-प्रतीकारं कुरुते ।'—कर्तृ० वा०
'अथवा तत्-प्रतीकारः क्रियते ।'—कर्म० वा० ॥९॥

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

भूयसी=बहु+ईयसुन्=भूयस् । भूयस्+स्त्रियां ङीप् ।

विपरीत=वि—परि—इण्+क्त ।

विगणय्य=वि—गण (चुरादि)+णिच्+ल्यप् । गणधातुः संख्याने, दशमगणीयः । सकर्मकः । सेट् । उ० प० ।

लट्—गणयति, गणयते । लिट्—गणयामास, गणयाम्बभूव, गणयाञ्चकार । लुङ्—अजगणत्, अजीगणत् । गणना । गणकः । गणितम् । गणिका ।

आत्मन्=अत्+मनिन् । क्षय=क्षि+अच् (भावे) । युक्ति=युज्+क्तिन् (भावे) ।

युक्धातुः (युजिर्)=योगे, सप्तमगणीयः । सकर्मकः । अनिट् उ० प० । लट्—युनक्ति, युङ्क्ते । लिट्—युयोज, युयुजे । लुङ्—अयुजत्, अयोक्षीत्, अयुक्त । क्तान्तम्-युक्तः । युग्यं च पत्रे युग्यो गौः । प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः । नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः । अन्यत्र योग्यः । युग्मम् । युगम् । युगलम् । अनुयुक्ते =पृच्छति । नियुक्ते—आज्ञापयति ।

उपेक्षते=उप—ईक्ष लट्—ते ।

ईक्षधातुः दर्शने । प्र० ग० । सकर्मकः । सेट् । आ० प० ।

लट्—ईक्षते । राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः—कृष्णाय ईक्षते । पृष्टो गर्गः कृष्णाय शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ॥

लिट्—ईक्षामास, ईक्षाम्बभूव, ईक्षांचक्रे ।

लुङ्—ऐक्षिष्ट । क्तान्तम्—ईक्षितः, ईक्षिता, ईक्षितम् कृती=(कृ+क्त=कृत) कृतम् अनेन इति कृत+इनि 'इष्टादिभ्यश्च' अनेन सूत्रेण ।

प्रतिकार=प्रति—कृ+घञ् । प्रतीकार इत्यपि वैकल्पिकं रूपं भवति । 'उपसर्गस्य घञि अमनुष्ये बहुलम्' इत्यनेन सूत्रेण उपसर्गस्य दीर्घत्वमपि भवति । यथा—अधिकारः अधीकारः इत्यपि रूपे भवतिः ।

अन्यथा=अन्य+(प्रकारार्थे) थाल् । अन्यथा इति अव्ययम् । अन्यप्रकारेण, भिन्नप्रकारेण, नोचेत् विपरीतरीत्या । इत्यर्थे प्रयुक्त भवति ।

कुरुते=कृ+लट् त । अत्र आत्मन पद 'स्वरितञित कर्त्रभिप्राय क्रिया फले' (कर्त्रभिप्राय=कर्तृगामिनि) अनेन नियमेन भवति । अत्र प्रतीकारकारणफलस्य कर्तृगामित्वात् (कर्तुरेव इष्टसाधनत्वेन भुज्यमानत्वात) ञित कृधानोरात्मनेपदम ।

(डु) कृञ् (कृ)=करणे । तनादिगणीय । सकर्मक । अनिट । उ० प० । लट्—करोति, कुरुते । लिट् चकार=चक्रे । लृट्=करिष्यति, करिष्यत । लुङ्—अकार्षीत् अकृत । संस्करोति=अलङ्करोति । परिष्करोति=अलङ्करोति । प्रतिकरोति=परिहरति । अनुकरोति=सदृश करोति । निराकरोति, पराकरोति=प्रत्याख्याति । ऊरीकरोति=अङ्गीकरोति । अप अपकार आत्मन० अपकुरुते । तिरस-परामवे । तिरस्करोति । आविष्करोति । कर्मणि क्रियते, लिटि चक्र । लुङि—अकारि । णिचि—कारयति कारयत । लिटि—कारयाचकार, कारयाचक्रे । लुङि—अचीकरत्—अचीकरत । सनि—चिकीर्षति—चिकीर्षते । यङि—चेक्रीयत । कृत्सु—कर्तव्यम् । करणीयम् । कार्यम् कृत्यम् । कृत । कृतवान् । कुर्वन । कुर्वती । कुर्वाण । करिष्यन् । करिष्यती-करिष्यन्ती । कर्तुम् । करणम । कृत्वा । अलकृत्वा । अलङ्कृत्य । उरीकृत्य । सत्कृत्य । साक्षात्कृत्य । विभाकर, दिवाकर, भास्कर, प्रभाकर, किङ्कर, किङ्करी, कर्मकर (भृत्य) अलकरिष्णु । कृति, क्रिया, कृती, कृत्रिमम्, कर्म, कार्मुकम्, कारु, कर्मठ, कर्मी, क्रतु ॥६॥

छन्द —

वियोगिनी ।

अलकार —

पदार्थहेतुक—काव्यलिङ्गम् ।

सक्षिप्तभावार्थ —

भूतिकामो विचक्षण शत्रो चिरभाविनीमल्पीयसी विपत्ति तथाचात्मन अचिर भाविनीं भूयसी विपत्ति विचार्य सद्य प्रतीकार करोति नोपेक्षते ॥६॥

टिप्पणी—

महाकवि भारवि का राजनैतिक तलस्पर्शी ज्ञान यहाँ सुस्पष्ट प्रतीत होता

है। शत्रु की उपेक्षा कब करनी चाहिये और कब उसका प्रतिकार करना चाहिये इसका विवेचन मनन करने योग्य है।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'विद्या—हैयंगवीनेन विनयेन त्रिभावितम्।
अथ नन्द सदायुष्मन् चिरंजीव सदाशिव ॥

—गुरूणां गुरुः महामहोपाध्याय रघुपतिशास्त्री वाजपेयी। सन् १९०२ ई०

● राजनीति-शास्त्र के विरुद्ध उपेक्षात्मक आचरण करने का फल अनिष्ट होता है यह बतलाते हुए महाकवि भारवि भीमसेन के द्वारा कहते हैं—

● तथाप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—

अनुपालयतामुदेष्यतीं—
प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां—
जन-निर्वाद-भयादिव श्रियः ॥१०॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

उदेष्यतीं द्विषतां प्रभुशक्तिम् अनीहया अनुपालयतां महीभुजां श्रियः जन-निर्वादभयादिव अचिरात् अपयान्ति ॥

शब्दार्थाः—

उदेष्यतीं=उत्तरोत्तर वर्धिष्णु (बढ़ने वाली), **द्विषतां**=शत्रुओं की, **प्रभुशक्तिम्**=राजकोष-राजदण्ड आदि का, तेज (प्रभाव) का, **अनीहया**=प्रतिकार की चेष्टा के अभाव के कारण, **अनुपालयतां**=उपेक्षा करने वाले, **महीभुजां**=राजाओं की, **श्रियः**=राज्यलक्ष्मी, **जननिर्वादभयादिव**=मानो लोकापवाद के भय से, **अचिरात्**=शीघ्र ही, **अपयान्ति**—अन्यत्र चली जाती हैं ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—

जो पृथ्वीपति उत्साह के अभाव में शत्रुओं की वर्धिष्णु प्रभुशक्ति की उपेक्षा करते हैं, उनकी राज्यलक्ष्मी उन्हें मानो जनापवाद (लोक निन्दा) के भय से छोड़ कर अन्यत्र अविलम्ब चली जाती है जैसे षण्ड की पत्नी षण्डपति को छोड़कर चल देती है।

घण्टापथः—

तथापि उपेक्षायाम् अनिष्टम् आचष्टे—अनुपालयतामिति ॥ उदेष्यतीं

वर्धिष्यमाणाम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव । द्विषता प्रभुशक्ति कोष—दण्डज तेज । 'स प्रभाव प्रतापश्च यत्तेज कोश दण्डजम्' इत्यमर । अनीहयानुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणाना महीभुजा श्रिय सपदो जननिर्वाद—भयान्निकृष्टपुरुषानुरागोत्थ लोकापवाद भयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । अचिरादपयान्ति, अपसरन्ति । यथाह—कामन्दक 'स्त्रीभि पण्ढ इव श्रीभिरलस परिभूयते ।' इति । अत पराक्रमितव्यमित्यर्थ ॥१०॥

सरलार्थ —

ये नृपाला वर्धमाना रिपुजनानामुन्नति जानन्नपि तत् प्रतिकारचेष्टाविमुखा सन्त ता सहन्ते तया नृपालाना राज्यलक्ष्मी तान् परित्यज्य गच्छति । यत वीरभोग्या हि राज्यलक्ष्मी । कापुरुषानुरागेण राज्यलक्ष्म्या लोकनिन्दा प्रवर्तते । लोकनिन्दाभयेन भीता राज्यलक्ष्मी कापुरुष नृपाल परित्यजति यथा पण्ढम् अङ्गना ॥१०॥

समासा —

प्रभुशक्ति =प्रभो शक्ति । ष० तत्पु० । ताम् ।

महीभुजाम्=मही भुनक्तीति महीभुक् । उपपद समास । तेषाम् । अत्र शेषे षष्ठी, श्रिय इति अस्य सम्बन्धिपदम् ।

अनीहया=न ईहा इति अनीहा । नञ् समास । तया । करणे तृतीया, प्रकृत्यादित्वाद्वा ।

जननिर्वादभयात्=जनाना निर्वाद (निन्दा) इति जननिर्वाद । ष० तत्पु० । तस्मात् भयम् । पचमी तत्पुरुषसमास । तस्मात्—जननिर्वादभयात् इत्यत्र हेत्वर्थे पचमी जाता ॥१०॥

वाच्य परिवर्तनम्—

'अचिरात श्रिय अपयान्ति ।'—कर्तृवा०

'अचिरात् श्रीभि अपयायते ।'—भाववा०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

उदेष्यतीम्=उदेष्यत्=उत्—इण्+स्यतृ । उदेष्यत्+स्त्रिया ङीप्= उदेष्यती इत्यस्य उदेष्यन्ती इत्यपि वैकल्पिक रूप भवति ।

अनुपालयताम्=अनुपालयत=अनु+पा+णिच्+शतृ । अत्र णिच् प्रत्यये पाधानोर्लकारागम । षष्ठि बहुवचने अनुपालयतामिति रूप जातम् । महीभुजामित्यस्य विशेषण पदमिदम् ।

महीभुजाम्=मही—भुज्+क्विप्=महीभुज् । जकारान्त-पुल्लिग-महीभुज्-शब्दस्य प्रथममेकवचनम्—'महीभुक्' इति भवति। षष्ठ्येकवचने 'महीभुजः' बहुवचने च 'महीभुजाम्' इति रूपं भवति।

प्रभु=प्र+भू+डुः। शक्तिः=शक्+क्तिन्।

ईहा=ईह्+अ (भावे) स्त्रियाम् आकारः। ईहा इत्यस्य चेष्टा, उद्योगः प्रयत्नः उद्यमः पुरुषार्थः इत्येतानि अर्थानि भवन्ति। अत्र 'गुरोश्च हलः' इत्यनेन 'अ' प्रत्ययोजातः।

निर्वाद=निर्—वद्+घञ्। निन्दावाचकः निर्वादशब्दः।

'अवर्णाक्षेप निर्वाद-परीवादाऽपवादवत्।
उपक्रोशो जुगुप्साच कुत्सा निन्दा च गर्हणे॥'

इत्यमरः १।६।१८४।[1]

भय=भी+अच्। श्री=श्रि+क्विप्। अचिरात् इति अव्ययम्।

अपयान्ति इति अत्र क्रियापदम्।=अप—या+लट्—अन्ति। या धातुः =प्रापणे। प्रापणमिह गतिः। सकर्म०। अनि०। प० प०। आकारान्तः। लट्—याति, लिट्—ययौ। लुङ्—अयासीत्। आयाति=आगच्छति।

ग्रामादायत्ति इत्यत्र अपादाने पंचमी। यापोः किद्वे च। ई प्रत्ययः। ययीः =अश्वः। यश्च यनः। यायावरः। कर्मणि—लटि यायते। लिटि याये। लुङि—अयायि। णिचि—यापयति। सनि—यियासति। यङि—यायायते। कृत्सु—यातव्यम्। यानीयम्। येयम्। यातः। यान। याती—यान्ती। यातुम्। यानम्। यात्वा। प्रयाय॥१०॥

छन्दः—

वियोगिनी।

अलङ्कारः—

इत्यत्र—हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः।

संक्षिप्तभावार्थः—

ये भूपाः अनुत्साहवशात् शत्रोरुन्नति सहन्ते तेषां राज्यश्रीः अचिरादेव लोक

---

१. अवैय्याकरणस्त्वन्धो बधिरः कोपवर्जितः।
साहित्यरहितः पङ्गुर्मूकस्तर्कविवर्जितः॥

निन्दामयात् तान अलसान् परित्यजति । राजश्रिवामुर्वैरनुत्साहस्त्याज्य । अल्पापिशुमपर्यवसायिनीशनोरुन्नति प्रतिकार्या ।

टिप्पणी—

'वीरभोग्या खलु राज्यश्री ' सच ही कहा है युवती स्त्री जैसे षण्ड पति को नही चाहती और उसका परित्याग कर देती है तद्वत् अनुत्साही कायर एव शत्रु की उन्नति को सहन वाले राजा जो सदा सन्तुष्ट रहते हैं उन्हें त्याग देती है ।

'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा सन्तुष्टश्च महीपति ।'
'जय हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते ।'
'स्त्रीभि षण्डइव श्रीभिरलस परिभूयते ।'

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये—

'अपि प्रभावान्मथिनान्तकोऽपि प्रभु प्रहर्तुं किमुनान्यहिस्रा ।—रघु० २।६२
'प्रभुर्मल्लोमल्लाय'—महाभाष्यम् ।
'प्रभुर्बुभूपुर्भुवनत्रयस्य य ।'—माघ० १।४९
'दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्म शक्त्या ।'—पचत० १।३६१
'ज्ञाने मौन क्षमा शक्तौ० ।'—रघु १।२२
'राज्य नाम शक्तित्रयायत्तम् ।'—दशकु०

+ + +

● भीमसेन युधिष्ठिर के मन में उत्पत्स्यमान सकल्प विकल्पो का स्वत. ही अनुमित कर कहता है कि क्षीणबल प्रबल के साथ कैसे लड सकता है ।' इस आशङ्का का समाधान महाकवि भारवि भीमसेन के मुख से ही कराते हुए कहता है कि—

● ननु परिक्षीण कथ प्रबलेनाभियुज्यत इत्यत्राह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं
दधतं धाम शिव समृद्धये ।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थित—
प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥११॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

क्षययुक्तम् अपि स्वभावजं शिवं धाम दधतं समृद्धये उत्थितं अनपायं नृपं प्रजाः प्रतिपच्चन्द्रम् इव प्रणनन्ति ।

शब्दार्थाः—

क्षययुक्तम्=परिक्षीण, निर्बल, आशक्त। अपि=भी। स्वभावजम्=प्राकृतिक, जन्मजात, स्वाभाविक। शिवम्=शुभ, मङ्गलकारक, सर्वलोकाल्हादक। धाम=तेज, (चन्द्र के पक्ष में) प्रकाश तथा (राजपक्ष में) क्षात्रतेज, पराक्रम। दधतम्=धारण करने वाले। समृद्धये=उत्कर्ष के हेतु, उन्नति के लिये। (चन्द्रपक्ष में) वृद्धि के लिये। उत्यितम्=उत्साह सम्पन्न (चन्द्रपक्ष में) उदित, उदय को प्राप्त हुए। अतएव अनपायम्=अविनाशी। (चन्द्र पक्ष में) वर्धिष्णु। नृपं=राजा को। प्रजाः=जनता, लोग। प्रतिपच्चन्द्रम्=द्वितीया के चन्द्र को (क्योंकि—प्रतिपच्चन्द्र का अस्तित्व होने पर भी उसका साक्षात्दर्शन द्वितीया को ही सम्भव होता है। अतः दूज के चान्दको) प्रणमन्ति=प्रणाम करते हैं। इव=तद्वत् नृपंप्रति=राजा को (जो किसी परिस्थितिवश क्षीणबल हो गया हो किन्तु प्रजाकल्याण की कामना से उत्साह तेज को धारण करता हो) प्रणमन्ति=नमस्कार करते हैं, झुकते हैं।

हिन्दी अनुवाद—

हे राजन्! जिस प्रकार परिक्षीण प्रतिपच्चन्द्र को वर्धिष्णु होने से लोग प्रणाम करते हैं उसी प्रकार परिस्थिति विशेष से जो राजा क्षीण बल होगया हो किन्तु प्रजाकल्याणार्थ उत्साह-तेज से सम्पन्न हो उस राजा को भी लोग नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं, उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं। उत्साह तेज-सम्पन्न राजा को जन-बल स्वतः ही प्राप्त रहता है अतः शत्रु का प्रतीकार करने में अपने को हीन बल न समझो!

घण्टापथः—

क्षयेति ॥ क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकाल्हादकं धाम क्षात्रं तेजः प्रकाशं च दधतं समृद्धये वृद्धयर्थमुत्थितमुद्युक्तम्। उत्सहमानमितियावत्। अन्यत्र उत्थितम् उदितम् अतएव अनपायम् अविनाशिनं

वर्धिष्यमाणम् इत्यर्थ । नृपं प्रजा प्रतिपच्चन्द्रमिवेयं[1] । प्रतिपच्छब्देन द्वितीया ग्रहणम् । प्रतिपदि तस्यादृश्यत्वादिति । प्रणमन्ति । प्रह्वीभावेन वर्तन्त इति भाव । चन्द्रन्तु नमस्कुर्वन्ति । क्षीणस्याप्युत्साह कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थ 'जय हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते ।' इति कामन्दक ॥११॥

सरलार्थ —

कृष्णपक्षान्ते परिसमाप्तायाम् अमावास्याया शुक्लपक्षारम्भो भवति । दर्शान्ते अत्यन्त क्षीणमपि द्वितीयाया तिथौ उदित (प्रतिपदि चन्द्र-दर्शनाभावात्) प्रत्यह सवर्धिष्यमाण स्वकीय तेजञ्च बिभ्रत चन्द्रमसमवलोक्य मनुष्या प्रणमन्ति, तथैव भाग्यवशात् परिक्षीणमपि स्वाभाविक क्षात्रतेजो दधान माङ्गल्यलाभाय सदोत्साहशील राजान सर्वजना सादर बहुमन्यन्ते प्रणमन्ति च । अत परिक्षीण-शक्तिनाऽपि त्वया सर्वप्रकारेण स्वोन्नत्यै प्रयतनीयम् इत्यथ ॥११॥

समासा —

क्षययुक्तम्=क्षयेण युक्त इति क्षययुक्त । तृतीयासमास । तम् । विशेष-णमिद नृपमित्यस्य चन्द्रमित्यस्य च । स्वभावजम्—स्व भाव इति स्वभाव । कर्मधारय । अथवा स्वस्य भाव इति षष्ठी तत्पुरुष । स्वभावात् जायते यत् तत् । उपपदसमास ।

अनपायम्=नास्ति अपाय यस्य इति अनपाय । बहुव्रीहि । तम् । एत-दपि 'नृपम्' इत्यस्य 'चन्द्रम्' इत्यस्य च उभयोरपि विशेषणम् । नाशइत्यर्थ-अपाय इत्यस्य भवति ।

---

१ अत्र 'प्रतिपच्चन्द्रम्' इत्यस्य द्वितीयायामेवचन्द्रदर्शनत्वेऽपि प्रतिपदग्रहण नवोदितचन्द्रसादृश्येन क्षयानन्तर वृद्धयर्थं राज्ञ पुनरुद्योग कर्तव्य' इति निदर्शनार्थकम् ।
यथा अदृश्यत्वेऽपि ज्योतिषशास्त्रनुसारेण परिसमाप्तायाममावास्याया प्रतिपदि कलाधरश्चन्द्रोनवमुदेति, तथा राज्ञाऽपि राज्यबलक्षयानन्तर पुन. प्रयतितव्यम् । चन्द्रमास्तु प्रतिपदि नवोदयात्पर द्वितीयाया तिथौ प्रथमत. एव दृश्यत्वात् तदाएव जनं वन्द्यते । भूपतिरपि नवोद्यमात् परम् अत्यल्पा-मपि उन्नति गत प्रजाजनं यदा दृश्यते (दर्शनसमकालमेव) तदैव अभिनन्द्यत ।

प्रतिपच्चन्द्रम्=प्रतिपदः चन्द्रः इति प्रतिपच्चन्द्रः । **षष्ठीतत्पुरुषः समासः** । अथवा प्रतिपदि चन्द्रः इति **सप्तमी समासः** । तम् । 'प्रणमन्ति' इति क्रियापदस्य उपमान कर्मकारकमेतत् । 'नृपम्' इति उपमेयं कर्म ।

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण

स्वभावजं=स्वभाव—जन्+ड=स्वभावज । पंचम्याजनेर्डः' इति सूत्रात् । द्वितीयाविभक्तेः एकवचने स्वभावजम् इति रूपं भवति ।

दधत्=धा+शतृप्रत्ययः । लट्—दधति-धत्ते । लिट्-दधौ-दधे । लुङ्—अधात्-अधित । **क्तप्रत्यान्तम्**—हितः, हिता, हितम् । क्तान्तानि रूपाणि त्रिषु लिङ्गेषु भवन्ति ।

धाम=धा+मनिन् । धाम इति दधतम् इत्यस्य कर्मणि द्वितीया । **समृद्धि**=सम्-ऋध्+क्तिन् । **समृद्धये** इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी । समृध्यै इत्यस्य वैकल्पिकं रूपमिदम् ।

अपाय=अप—इण्+घञ् । लट्—एति । लिट्—इयाय ।

लुङ्—अयात् ।

उदित=उत्—स्था+क्त ।

प्रतिपद्=प्रति—पद्+क्विप् ।

चन्द्र=चन्द अथवा चदि+र (औणादिकः) चन्दयति आल्हादयति इति चन्द्रः ।

प्रजा=प्र—जन्+ड । 'उपसर्गेच संज्ञायाम्' इति सूत्रात् 'ड' प्रत्ययः ।

नृप=नृ—पा+क्त । नॄन् पाति रक्षति इति नृपः ।

प्रणमन्ति=प्र—नम्+लट्—अन्ति । 'उपसर्गात् असमासेऽपि णोपदेशस्य' इत्यनेन सूत्रेण णत्वम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'क्षययुक्तम् अपि शिवं स्वभावजं धाम दधतम् उत्थितम् अनपायं नृपं प्रजाः प्रतिपच्चन्द्रम् इव प्रणमन्ति ।' —कर्तृवाच्यम् ।'

'क्षययुक्तः अपिः शिवं स्वभावज धाम दधत् उत्थितः अनपायः नृपः प्रजाभिः प्रतिपच्चन्द्रः इव प्रणम्यते ।' —कर्मवाच्यम् ।

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार —

श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कार ॥११॥

संक्षिप्तभावार्थ —

'भवता उन्नत्यै उत्सहितव्यम् ।

टिप्पणी —

वर्धिष्णु चन्द्र जिस प्रकार वन्दनीय होता है उसी प्रकार उत्साह सम्पन्न राजा क्षीणबल होने पर भी प्रजाजनो के द्वारा आदरणीय होता है। पूर्णचन्द्र क्षय-पर्यवसायी होने से सन्तोषजनक नही होता जितना वर्धिष्णु प्रतिपच्चन्द्र होता है। इस सुप्रसिद्ध उपमान के द्वारा राजा युधिष्ठिर को शत्रु का प्रतीकार करने हेतु उत्साह धारण करने के लिये भीमसेन प्रेरित करता है। प्रतिपच्चन्द्र क्षीणबल होने पर भी केवल वर्धिष्णु होने के कारण जैसे वन्दनीय होता है उसी प्रकार हे राजा युधिष्ठिर ! सम्प्रति आप क्षीणबल होने पर भी यदि लोक-कल्याणार्थ उत्साह धारण करोगे तो आप भी प्रजा के आदरणीय बन जाओगे। राजा दुर्योधन इस समय भले ही बल सम्पन्न हो किन्तु वह पूर्णचन्द्र की तरह उत्साह सम्पन्न न होने से वर्धिष्णु नही है अत प्रजा का समर्थन उसे प्राप्त नहीं है। उत्साह सम्पन्न राजा ही प्रजा को सर्वाधिक प्रिय होता है। यह गंभीर भाव महाकवि भारवि ने बडी खूबी से यहाँ हृदयगम कराया है।

- शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये—

  'निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम्'—ऋतुस० १।६, अमरुश० ६०

  'धनक्षये वर्धति जाठराग्नि '—पचतन्त्र २।१७८

  'तव वर्त्मनि वर्तता शिवम् ।'—नैषध० २।६२, रत्ना० १।२

  'इय शिवाया नियतेरिवायति ।' किराता० ४।२१, १।३८, रघु० ११।३३

  'तुरासाह पुरोधाय धाम स्वाय भुव ययु ।'—कुमार० २।१

  'पुण्य यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य० ।' मेघ० ३३

  भगवद्गी० ८।२१, भर्तृ० १।३३, मुद्राारा० ३।१७, किरा० २।२०, ५४, ५६, १०।६, अमरु० ८६, रघु० ६।६, १८।२२, किरा० २।४७, ।

'धन—धान्य समृद्धिरस्तु।'
'प्रसादाभिमुखे तस्मिन् श्रीरासीदनपायिनी०।'—रघु० १७।४६, ८।१७,
'अनपायिनि संशयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी।'—कुमा० ४।३१
'प्रतिपच्चन्द्र निभोय आत्मजः।'—रघु० ८।६५
'प्रजार्थ-व्रत-कर्षिताङ्गः० रघु० २।७३, प्रजायै गृहमेधिनाम्०।'—१।७, मनु० ३।४२, याज्ञ० १।२६९

+ + +

● 'क्या प्रभुशक्ति से हीन उत्साह की भी कोई उपादेयता है ?'
इस आशंका का समाधान करते हुए कवि भीमसेन के मुख से उत्साह शक्ति की महिमा और उसका प्राधान्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

● ननु प्रभुशक्ति-शून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः
कृत-पञ्चाङ्ग-विनिर्णयो नयः।
स विधेय-पदेषु दक्षतां
नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥१२॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः नयः कोषदण्डयोः प्रभवः खलु। सः (नयः) विधेय-पदेषु दक्षतां लोकः नियतिम् इव अनुरुध्यते।

शब्दार्थः—

कृतपंचागविनिर्णयः=सहायक, साधनोपाय, देश और काल का विभाग, विपत्ति प्रतीकार तथा सिद्धि रूप पाँचों अङ्गों का सम्यक निर्णय कर। नयः= नीतिशास्त्रानुसारी मन्त्रणा। कोषदण्डयोः=द्रव्य और चतुरङ्गसैन्य का। प्रभवः=कारण, हेतु है (भवति=होती है)। विधेयपदेषु=कर्तव्य कर्मों में। दक्षतां=नैपुण्य को (विदधाति=देती है) लोकः=कृषकादिजन। नियतिम्= दैव। इव=सदृश। अनुरुध्यते=अनुसरण करते हैं।

हिन्दी अनुवादः—

सहायक, कार्यसाधन के उपाय, देश और काल का विभाग तथा विपत्ति

प्रतीकार इन कार्य सिद्धि के पाचो अगो का सम्यक् निर्णय करने वाली नीति राजकोश और चतुरङ्गिणी सेना की उत्पादक होती है। यह नीति कर्तव्य-कर्म म नैपुण्य प्रदान करती है। जैसे कृपक वर्ग दैवानुसारी होता है उसी प्रकार प्रभु शक्ति भी उत्साह शक्ति का अनुसरण करती है। तात्पर्य यह है कि कार्य की सिद्धि म मुख्यत उत्साह शक्ति ही कारण होती है ॥१२॥

घण्टापथ —

प्रभव इति ॥ कर्मणामारम्भोपाय पुरुषद्रव्य-सपद्देशकालविभागो विनिपात-प्रतीकार कार्य सिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि। यथाह कामन्दक —'सहाया साधनो-पाया विभागो देशकालयो। विनिपात प्रतीकार सिद्धि पञ्चाङ्गमिष्यते ॥' इति पञ्चानामङ्गाना विनिर्णय पञ्चाङ्ग-विनिर्णय। 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनो-त्तरपदसमास। कृत पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्त। नयो नीति। मन्त्र इति यावत्। कोशोऽर्थराशि। 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययो' इत्यमर। दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम् 'दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञा हिंसाया लगुडे यमे। याम्याज्ञाया। सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती। तयो कोशदण्डयो। प्रभुशक्तेरित्यर्थ। प्रभवत्यस्मादिति प्रभव कारणम्। 'ऋदोरप्'। स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु। 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर। दक्षता क्षिप्रकारित्वम्। उत्साहमित्यर्थ। लोक कृष्यादिप्रवृत्तो जन। नियति दैवमिव 'नियति-नियमे दैवे' इति विश्व। अनुष्यनेनुसरति। रधेर्दैवादिकात्कर्तरि लट्। मन्त्रस्यापि-मूलमुत्साहस्तन्मूलाया प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम् अत स एवाश्रयणीय। यतो नक्त दिव मन्त्रयतम्लस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किंचित्सिध्यतीति।

सरलार्थ —

विशेपत सहायादिपञ्चाङ्गाना निश्चयपूर्वक या नीति मन्त्रणापूर्वक निश्चीयते सैव प्रयुज्यमाना प्रभुशक्ति जनयितु समर्था भवति। यथा कृषि-कर्म-प्रवृत्तो जन दैवमनुसरति यत शस्योत्पत्ति बहुधा पर्जन्याधीना भवति, स निपर्जन्ये यथा शस्योत्पादन भवति, पर्जन्याभावे च शस्योत्पत्तेरप्यभाव भवति। अत कृष्यादि प्रवृत्तो लोक नियतिमनुरुध्यते। तद्वदेव कृत-पञ्चाङ्ग-विनिर्णयो नय एव कोप-दण्डयो प्रभव भवति। पञ्चाङ्ग-निर्णय-रहितो नय कोपदण्डयो प्रभव न स्यात्। नीति उत्साहसम्पन्नस्य नरस्य एव पोपिका भवति। उत्साह शून्य नर नीति न उपकरोति। कृत्यवस्तुषु सिद्ध्यर्थ सर्वथा उत्साह एव अपेक्ष्यते ॥१२॥

समासा:—

कृतपञ्चाङ्गविनिर्णय:=कृत: पञ्चाङ्ग-विनिर्णय: येन यस्य वा इति। वहुव्रीहि:। स:।

पञ्चाङ्गविनिर्णय:=पञ्चानामङ्गानां विनिर्णय: इति पञ्चाङ्गविनिर्णय:। उत्तरपदद्विगुरिति **मल्लिनाथ:**। मल्लिनाथमते 'पञ्चाङ्ग' इति पदं **द्विगुसमास निष्पन्नम्**, ततो विनिर्णयपदेन तु **षष्ठीसमास:**।

पञ्चसंख्याकानि अङ्गानि इति पञ्चाङ्गानि। **मध्यमपदलोपीकर्मधारय:**। अथवा—पञ्च अङ्गानि इति पञ्चाङ्गानि। 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' इत्यनेन सूत्रेण **कर्मधारय:**। 'पञ्चाङ्ग' पदेन संज्ञाया: गम्यमानत्वात्। सहायादीनां पञ्चानामेव पञ्चाङ्गपदवाचकत्वात् संज्ञा एव इदं पदं ज्ञायते। संज्ञा इत्यस्यार्थ: नाम। 'संज्ञास्यात् चेतना नाम' 'नामधेयं च नाम च, **इत्यमर:**। अतएव केषांचित् मते अत्र **कर्मधारय:**।

विधेयपदेषु=विधेयानि (कर्तव्यानि) पदानि (वस्तूनि) इति विधेय-पदानि। **कर्मधारय:**। तेषु। इत्यत्र विषयाधिकरणे सप्तमी ॥१२॥

वाच्य-परिवर्तनम्—

'कृतपञ्चाङ्ग-विनिर्णय: नय: कोपदण्डयो: प्रभव: अस्ति।'—कर्तृवाच्यम्।

'कृत-पञ्चाङ्ग विनिर्णयेन नयेन कोपदण्डयो: प्रभवेण—भूयते।'

भाव—वाच्यम्।

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

प्रभव=प्र—भू+अप्। प्रभवति अस्मादिति प्रभव: अपादाने अप् प्रत्यय:।

विनिर्णय=वि—निर्—नी+अच्। 'उपसर्गादसमासेऽपिणोपदेशस्य' इत्यनेन णत्वम्।

नय=नी+अच्। अत्र वाहुलकात् अच् प्रत्यय:। अन्यथा—'श्रिणी भुवोऽनुपसर्गे' इत्यनेन घञ् भवितुमर्हति।

विधेय=वि—धा+यत्।

दक्ष=दक्ष+अच्। दक्षते इति दक्ष:। तस्य भाव: इति—दक्ष+तल्= दक्षता।

नियति=नि—यम्+क्तिन्। नियति शब्दार्थ: दैव इति। 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधि:।' इत्यमर:।

अनुरुध्यते—अनु—रुध (दिवादि)+लट्—ते। अस्य क्रियापदस्य कर्ता स। कर्म दक्षताम् इति। लोक इति उपमानकर्ता, नियतिमिति च उपमानकर्म।

रुध्‌धातु कामे। दिवादि ४ ग०। सकर्म०। अनिट्। आ० प०।

अनुपूर्वएवाय प्रयुज्यते। अनुरुध्यत=काङ्क्षति। लट्—अनुरुध्यत लिट्—अनुरुरुधे। लुङ—अवरुद्ध।

कर्मणि—अनुरुध्यते। णिचि—अनुरोधयति।

यङि—अनुरोरुध्यते। कृत्सु—अनुरोद्धव्यम्।

अनुरोधनीयम्। अनुरोध्यम्। अनुरुद्ध। अनुरुध्यमान। अनुरोद्धुम्। अनुरोधनम्। अनुरुद्ध्य।

अत्र निश्चयार्थकः खलु शब्द। वाक्यालङ्कारेपि प्रयुज्यते यत्र तत्र अव्ययमेतत् ॥१२॥

छन्द—

'वियोगिनी।

अलङ्कार—

अस्मिन् श्लोके उपमालङ्कार।

'विनिर्णयो नय' अस्मिन् स्थले छेकानुप्रासश्च इत्यपि केचित अलङ्कारविद आमनन्ति। अलङ्कारतत्व-मीमांसा धुरीणा मुसलगावकरोपाह्वा डॉ गजानन-शास्त्रि चरणा विनिर्णय शब्दान्तर्गत 'नय' भाग—स्थितनकारस्य णत्व सत्वात् नास्यालङ्कारस्य विषय इत्येव प्रतिपादयन्ति।

संक्षिप्तभावार्थ—

प्रभुशक्तिरुत्साहमपेक्षते। उत्साहशून्या प्रभुशक्तिस्तु नैव फलति। कार्यसिद्धं उत्साहस्यैव प्राधान्यम्। अहर्निश मन्त्रणाकुर्वाण पर सर्वथा उत्साहरहित पुरु कार्यसिद्धिं वरयते। उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रिण पुरुष समृद्धि कामयते ॥१२॥

टिप्पणी—

- कामन्दकीय नीतिशास्त्र में कार्यसिद्धि के पाच अग बताये गये हैं। (घण्टापथ टीका मे देखिये)
- सभी कार्य प्राय द्रव्य साध्य होते हैं अथवा दण्डसाध्य होते हैं। द्रव्य (कोश) और दण्ड की उत्पादक मन्त्रणा-नीति होती है। किन्तु नीति की सफलता उत्साह-मूलक है। उत्साह के साथ

क्षिप्रकारिता (अदीर्घसूत्रता) का होना अत्यावश्यक है। अन्यथा 'कालः पिबति तद्रसम् ।'

- कृषक गण नियति (दैव) वादी हो सकते हैं क्षात्रधर्मावलम्बी राजा तो नीति वादी होता है। नीति के माध्यम से कार्य सिद्धि के पंचांगों का निश्चय कर, कार्यसिद्धि प्राप्त करने में नैपुण्य प्राप्त किया जाता है। नीति ही राजकोश और दण्ड (चतुरंगिणी सेना) की जननी है।
- नीति का साफल्य उत्साह शक्ति पर ही सर्वथा निर्भर होता है।
- नियतिवादी परतन्त्र होता है और नीति वादी स्वतन्त्र।

राजनीति के गूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित करने में महाकवि भारवि सिद्ध-हस्त हैं।

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'इयं शिवाया नियतेरिवायतिः० ।'—किराता० ४।२१

'नियति वललान्नु० ।'—दशकु० 'नियते नियोगात्० ।'—माघ ४।३४

'नयप्रचारं व्यवहार दुष्टताम् ।'—मृच्छ० १।७

'चलति नयान्न जिगीषतांहि चेतः ।'—किराता० १०।२६, २।३, ६।३८, ।४२ । 'नाट्ये च दक्षावयम् ।'—रत्ना० १।६

'मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे० ।' कुमार०, १।२, रघु० १२।११

+ + +

- क्या असहाय सोत्साह व्यक्ति भी अर्थ सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? इस आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—
- ननु सोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः—
प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।
विनिपात - निवर्तन - क्षमं—
मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥१३॥

बोधिनी:

न्वय:—

अभिमानवतः प्रियम् उच्चैः पदम् आरुरुक्षतः मनस्विनः आत्मपौरुषं विनिपातनिवर्तनक्षमम् आलम्बनं मतम् ।

शब्दार्थ —

अभिमानवत =स्वाभिमानी पुरुष । प्रियम्=इच्छित । उच्चै=उन्नत । पदम्=स्थान राज्यादिक । आरुरुक्षत =आरूढ होता हुआ । मनस्विन = मनस्वी पुरुषो का । आत्मपौरुष=स्वय का पराक्रम । एव=ही । विनिपातनिवर्तनक्षमम्=विपत्ति प्रतीकार करने म समर्थ । आलम्बन=आश्रय । मतम= कहा जाता है ।

हिन्दी अनुवाद—

स्वाभिमान धारण करने वाले मनुष्य को अपने अभीष्ट उन्नत स्थान पर प्रतिष्ठित होते समय उसे अपने स्वय के पुरुषार्थ (पराक्रम) का ही सहारा लेना पडता है । अभीष्ट स्थान की प्राप्ति म आने वाली विघ्न-बाधाओ का निवारण करने म समर्थ, अपने स्वय के पराक्रम का ही सहारा उस लेना पडता है । क्योकि मनस्वी पुरुषो का एकमात्र आलम्बन उनका स्वय का ही एकमात्र पुरुषार्थ होता है । मनस्वी पुरुष सदा स्वावलम्बी होते हैं ।

घण्टापथ —

अभिमानवत इति ॥ अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नत पद स्थान राज्यादिकमारुरुक्षत आरोढुमिच्छत प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्यात्मपौरुष स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्तनक्षममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बन सहकारि मतमिष्टम् । यथा कस्यचित्तुङ्गमारोहत किचित्पतनप्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बन तद्वदितिध्वनि । किं पौरुषादन्यै सहायै शूराणामिति भाव ॥१३॥

सरलार्थ —

य खलु मनस्वीपुरुषोऽस्ति स स्व-प्राणान् व्ययीकृत्यापि स्वाभिमान कदापि न परित्यजति । स यदा आत्मानुरूप पदमारोढुमभिलषति तदा स आत्मबलेनैव प्रयतते । स्वकीय-पुरुषार्थ एव तस्य विनिपात-निवर्तनक्षममालम्बन भवति यथा वेत्रयष्टि हस्ते धृत्वा निर्बल सोपानमधिरोहति रथ्यामाक्रमते वा तद्वत् सबल परसहायेन राज्यादिक स्वाभीष्टपद नाधिरोहति । स सर्वथा स्वपुरुषार्थ नैव सर्व सपादयति । स सर्वदा स्वात्मपौरुषमेव विनिपातनिवर्तनक्षम मन्यते

का पुरुषवत् सः नान्यमवलम्बते । का-पुरुषा एव दैवेनदेयमिति वदन्ति । मनस्वी तु दैवं निहत्य आत्मशक्त्या पौरुषं वितनोति ॥१३॥

समासाः—

विनिपातनिवर्तनक्षमम्=विनिपातस्य निवर्तनम् इति । **षष्ठीसमासः** । विनिपातनिवर्तने क्षमम् इति । **सप्तमीसमासः** । तत् । क्षम इत्यस्य समर्थ इत्यर्थः ।

आत्मपौरुषम्=आत्मनः पौरुषम् इति । षष्ठी समासः । भवति इति उह्यमानक्रियापदस्य कर्तरि प्रथमा विभक्तिः ॥१३॥

वाच्य-परिवर्तनम्—

'आत्मपौरुषं विनिपातनिवर्तनक्षमं मतं (भवति)'

· 'आत्मपौरुषेण विनिपात-निवर्तन-क्षमेण मतेन (भूयते)'

क्रमशः कर्तृवाच्यं भाववाच्यञ्च ।

● **शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण**—

अभिमान—अभि-मन्+घञ् । अभिमान+मतुप=अभिमानवत् । '**मादुपधायाश्च**' इत्यनेन मतुपो मस्य वः । षष्ठ्याः एकवचने अभिमानवतः ।

मनस्विन्=मनस्+विनि । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति सूत्रेण विनिः । मन्+असुन्=मनस् । मनस्विनः इति सम्बन्धे षष्ठी । आत्मपौरुषम् अनेन पदेनसह सम्बन्धात् 'तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि वा षष्ठी । **मतम्** इति वर्तमाने क्तः तदयोगात् । मन+क्त (वर्तमाने) ।

प्रिय+प्री+क्त (कर्तृवाच्ये) प्रीणाति इतिप्रियम् । पदम् इत्यस्य पदस्य प्रियमिति विशेषणम् । विशेषणत्वाच्च प्रियमित्यत्र द्वितीया ।

उच्चैः इति अव्ययम् । पदमित्यत्र द्वितीया विभक्तिः । पदमिति आरुरुक्षतः इत्यस्य कर्मणि द्वितीया । आङ्—रुह्+सन्=आरुरुक्ष । आरुरुक्ष+शतृ=आरुरुक्षत् । मनस्विनः अस्य पदस्य विशेषणत्वादत्र षष्ठी विभक्तिः । आरोढुमिच्छतः=आरुरुक्षतः ।

विनिपात—वि-नि-पत्+घञ् ।

पत्लृ (पत्)—गतौ । 'ग० । अकर्म० । सेट् । प० प० । लट्—पतति । लिट्—पपात, पेततुः, पेतुः । लुङ्—अपप्तत् । अपप्तताम् । अपप्तन् । (नृदि-

त्वादङ् । द्वितीयो लुङ् । पत पुम् । अङि परे पुमागम । 'न्यपप्तन् मुसले गृध्रा ।'—भट्टि० १५।२७ क्तान्तम्—पतित, पतिता, पतितम् ।

निवर्तन=नि—वृत+णिच+ल्युट् ।

वतु (वृत्) धातु वतन । १ ग० । अकर्म० सेट । आ० प० । द्युतादि । वृतादिश्च । लट्—वतते । लिट्—ववृते । लुङ्—अवृतत्, अवर्तिष्ट । क्तान्तम्—वृत्त, वृता, वृत्तम् ।

णिचि—वर्तयति, वर्तयते । लिटि—वर्तयामास । कृत्सु वर्तितव्यम् । वर्तनीयम । वर्त्यम् । वर्तमान । वर्तितुम । वर्तित्वा-वृत्त्वा । आवृत्य । अति-अतिक्रमे-अतिवर्तते ।

निवर्तन=नि-वृत्+णिच्+ल्युट् (अन्) ।

क्षम=क्षम्+अच् (कर्तरि) 'पचाद्यच्' इत्यनेन कर्तरि अच् । लट्—क्षमते । लिट्—चक्षमे । लुङ्—अक्षमिष्ट । घूपादि शमादिश्च दिवादिकस्य तु क्षाम्यति । लिट् चक्षाम । लङ्—अक्षमत् । क्तान्तम्—क्षान्त—क्षान्ता—क्षान्तम् । पौरुष=पुरुष+अण् । आलम्बन=आ—लम्ब+ल्युट् (कर्मणि) । आलम्ब्यते आश्रीयते यत् तत् आलम्बनम् । 'कृत्यल्युटोबहुलम्' इत्यनेन कर्मणि ल्युट् ॥१३॥

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार —

मल्लिनाथेनाऽत्र ध्वनिरेव उक्त । नत्वत्र समासोक्ति । डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी महोदया अत्र अर्थापत्तिरलङ्कार स्वीकुर्वन्ति ।

संक्षिप्तभावार्थ —

मनस्वीपुरुष स्वपुरुषार्थमेवावलम्बन मनुते । स्वाभिमानी पुरुष सदा स्वावलम्बी भवति । पराश्रयण कदापि स स्वाभीष्टपदमारोढु नेच्छति । विनिपात निवर्तनक्षम केवल स स्वपुरुषकारमेव मनुते । स स्वपुरुषार्थमाश्रित्यैव सर्वं सम्पादयति ॥१३॥

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये

'सदाभिमानैकधना हि मानिन ।—माघ १।६७

'प्रियमाचरित लते त्वया मे० ।' विक्रम० १।१७

'मत्प्रियार्थमियायसो:० ।' मेघ० २२

'प्रियंमे प्रियंमे' 'प्रियनिवेदयितारम्—शाकु० ४ ।

'प्रियमण्डना ।'—शाकु० ४।९, 'प्रियारामा वैदेही'—उत्तर० २

'विपदुच्चैःस्थेयम् ।'—भर्तृ० २।२८, 'उच्चैरुदात्तः' पा० सूत्र १।२।२९

'विदधति भय मुच्चैर्वीक्षमाणावनान्ताः ।'—रघु० १।२२

'जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः ।'—कुमार० ५।६४

'तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ।'—रघु० १।३२

'मनस्विनीमानविघातदक्षम् ।'—कुमार० ३।३२

'धिग्धिग्वृथापौरुषम् ।'—भर्तृ० २।८८ 'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।'—पचत० १

'इहहि पततां नास्त्यालम्बो न चापि निवर्तनम् ।'—शा० ३।२

'तवालम्बादम्ब! स्फुरदलघुगर्वेण सहसा ।'—जगन्नाथः

\+ \+ \+

- पौरुप का अस्वीकार करने में जो दोप है उन्हें बतलाते हैं—
- पौरुपानङ्गिकारे दोपमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं—
रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायते—
रगरीयान्न पदं नृपश्रियः ।।१४।।

: सुबोधिनी :

अन्वयः—

अविक्रमं विपदः अभिभवन्ति, आपदुपेतम् आयतिः रहयति, निरायतेः—लघुता नियता, अगरीयान् नृपश्रियः पदं न (भवति) ।

शब्दार्थः—

अविक्रमं=पराक्रमरहित पुरुप को । विपदः=विपत्तियाँ । अभिभवन्ति=बाधक होती हैं । पराक्रम शून्य पुरुप पर ही विपत्तियाँ आक्रमण करती हैं । आपदुपेतम्=विपत्ति ग्रस्त । आयतिः=भविष्य । रहयति=त्याग करता है, उपेक्षा करता है । निरायतेः=शुभोदर्क शून्य अथवा आसन्न विपत्ति वाला

पुरुष। लघुता=गौरवहीनता। नियता=निश्चित होती है। अगरीयान्=हीन चरित्र। नृपश्रिय—राज्य लक्ष्मी का। पद=स्थान, पात्र। न=नहीं। भवति=होता है।

हिन्दी अनुवाद—

विपत्तियाँ पराक्रम शून्य पुरुष पर ही आक्रमण करती हैं। विपद ग्रस्त मनुष्य का भविष्य अन्धकारमय होता है। विपत्ति से घिरने पर उन्नति में बाधा उत्पन्न होती है। नष्ट गौरव पुरुष राज्य लक्ष्मी पाने का पात्र नहीं होता है। ये सभी दोष एकमात्र पौरुष का आश्रय करने से दूर हो जाते हैं ॥१४॥

घण्टापथ —

विपद इति ॥ अविक्रम पौरुषहीन विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति। आपदुपेत विपन्नमायतिरुत्तरकाल। 'उत्तर काल आयति' इत्यमर.। रहयति त्यजति। निरायते। आसन्नक्षयस्येत्यर्थ। लघुता गौरव नियता वश्यभाविनी। न कश्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थ। अगरीयाल्लघीयान्नृपश्रियो राजलक्ष्म्या पदमास्पद न भवति। यद्वा नृपेति पदच्छेद। तस्मात्पौरुष कर्तव्यमेवेत्यर्थ। अत्र पूर्व-पूर्वस्याविक्रमत्वादेरुत्तरोत्तरविपदादिक प्रति कारणत्वात्कारणमालाख्योऽलङ्कार। तथा सूत्रम्—'पूर्व पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला' इति ॥१४॥

सरलार्थः—

य पुरुष पराक्रम त्यक्त्वा का—पुरुषवत् भाग्यमवलम्बते स नाना विपत्तिभि सीदति। विपत्विपन्न पुरुष भविष्यकालेऽपि दु खमेव प्राप्नोति। वर्तमाने तु विपदग्रस्तत्वात् स शान्ति न लभते। अनया रीत्या विक्रमरहित पुमान क्रमश क्षयोन्मुख भवति। आसन्न सकटस्य पुरुषस्य लघुता अवश्यम्भाविनी वर्तते। लघुता गतमेन न कश्चिदपि आद्रीयते। राज्यश्रीरपि एन अवज्ञास्पद मत्वा न आश्रयति।

पुरुषार्थराहित्यमेव सर्वानर्थ मूलम् ॥१४॥

समासा —

अविक्रमम्=नास्ति विक्रम यस्य स अविक्रम इति बहुव्रीहि। तम्। उद्य जनमिति कर्म कारकस्य विशेषणमिदम्। अतोत्र द्वितीया। अभिभवन्ति

इति क्रियापदस्य कर्म जनम् इति उह्यमान पदम्। अविक्रमं जनम् अभिभवन्ति इत्याशयः।

आपदुपेतम्=आपदम् उपेतः। इति आपदुपेतः। सह सुपेति समासः। अथवा—आपदा उपेतः (युक्तः) इति आपदुपेतः। तृतीया समासः। तम्। एतदपि पूर्ववदेव जनम् इति उह्यमानस्य पदस्य विशेषणम्। तत्तु रहयति इति क्रियापदस्य कर्म।

निरायते.=नास्ति आयतिः यस्य सः निरायतिः। बहुव्रीहिः तस्य। लघुता अनेन पदेन सम्बन्धे षष्ठी।

अगरीयान्=न गरीयान् इति। नञ् समासः। नृपश्रियः=नृपस्य श्रीः इति नृपश्रीः। षष्ठीसमासः। तस्याः पदम् इति अनेन सम्बन्धे षष्ठी। ॥१४॥

वाच्य परिवर्तनम्—

'विपदः अविक्रमम् अभिभवन्ति।'—कर्तृवा०

'विपद्भिः अविक्रमः अभिभूयते।'—कर्मवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

विपद्=वि—पद+क्विप्। विक्रम=वि—क्रम्+घञ्। उपेत=उप—इण्+क्त। कर्तरि प्रयोगे क्तप्रत्यये कृते आपदम् उपेतः इति समासवाक्यम्। कर्मणि प्रयोगे च सति प्रत्यये आपदा उपेतः इति वाक्यम्।

आयतिः=आङ्—यम्+क्तिन्। नियत=नियम्+क्त। लट्—यच्छति। लिट्—ययाम। लुङ्—अयंसीत्। रहयति—रह् (चुरादि)+णिच्+लट् ति। रह् धातुः त्यागे।

गरीयस्=गुरु+ईयसुन्।

लघुता=लघु+तल्। लघोर्भावः इति लघुता। लघु=लघि+कु ॥१४॥

छन्दः—

वियोगिनी।

अलङ्कारः—

अत्र कारणमालाऽलङ्कारः।

संक्षिप्तभावार्थः—

सर्वापत्तिमूलं विक्रमशून्यता अस्ति। अतः सर्वविधविपन्निरासाय विक्रमाङ्गीकारः कर्तव्यः ॥१४॥

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कारः।'—विक्रम० १ रघु० १२।८७, ६३

'छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन।'—गीतगो० १

'तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां (मित्राणाम्) विपद्०।' हितो० १।२१०

'स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोभिभवाद्वमन्ति।'—शाकु० २।७

'अभिभव कुत एव सपत्नजः।'—रघु० ९।४

'अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।' गीता० १।४१

'तृणादपि लघुस्तूलादपि याचकः।' सुभा०

'रिक्तः सर्वोभवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।'—मेघ० २०

'लघु सन्देशपदा सरस्वती।'—रघु० ८।७७

'कायस्य इति लघ्वी मात्रा०।' मुद्रा० १

\+ \+ \+

● शत्रु की उपेक्षा करने में जो दोष हैं उन्हें बताने के पश्चात् अभ्युदयावरोधक अनुत्साह का आश्रय अभ्युदयाकाङ्क्षी पुरुष को नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं—

● फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नते—
रवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया
न विषादेन समं समृद्धयः॥१५॥

. सुबोधिनी

अन्वय —

तत् उन्नते प्रतिपक्षं व्यवसायवन्ध्यताम् अवलम्ब्य अलम्। पराक्रमाश्रया समृद्धयः विषादेन समं न निवसन्ति।

शब्दार्थ —

तत्=तो। उन्नते=उन्नति के। प्रतिपक्ष=विरुद्ध, अन्तराय, विघ्नभूत। व्यवसायवन्ध्यताम्=उद्योग शून्यता को। अवलम्ब्य=आश्रय करना। अलम्=उचित नहीं है। पराक्रमाश्रया—पराक्रम के आश्रय से निवास करने

वाली। समृद्धयः=समृद्धियाँ, सम्पत्तियाँ। विषादेन=उत्साह-शून्यवृत्ति के। समम्=साथ। न=नहीं। निवसन्ति=निवास करती हैं ॥१५॥

हिन्दी अनुवादः—

इसलिये उन्नति में बाधक होने वाली उद्योग शून्यता का (अनुत्साह का) आश्रय करना अनुचित है, क्योंकि सर्वप्रकार की समृद्धियाँ पराक्रमी एवं सतत उद्योगशील व्यक्ति को ही संवरण करती हैं। उत्साहरहित (आलसी) मनुष्य का समृद्धियाँ परित्याग करती हैं ॥१५॥

घण्टापथः—

तदिति ॥ तत्तस्मात्। उपेक्षायां दोपसंभवादित्यर्थः। उन्नतेरभ्युदयस्य प्रतिपक्षमन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामुद्योगशून्यतामवलम्ब्यालम्। अवलम्बनेनालमित्यर्थः। 'अलंखल्वोः प्रतिपेधयोः प्राचांक्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः। तस्य ल्यबादेशः। तथाहि। पराक्रम आश्रयः कारणं यासां तास्तथोक्ताः समृद्धयः संपदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति। पौरुपसाध्याः संपदो नानुत्साहसाध्याः। उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१५॥

सरलार्थः—

अनुद्यमशीलः पुरुपः अभ्युदयं न लभते। अतः अभ्युदय-कामुकैः पुरुषैः अभ्युदयान्तरायी उद्योगशून्यता कथमपि नावलम्बनीया। यतः श्रीः वीरमुद्योग-प्रवणं सततोत्साहिपुरुषं कामयते। समृद्धयः पराक्रमवन्तं पुरुषं सामाश्रयन्ति। उत्साहशून्यं का पुरुषं राज्यश्रीः नाभिलपति। अतस्त्वया अनुत्साहस्त्याज्यः। द्रौपदीवचनञ्चानुसरणीयम् ॥१५॥

समासाः—

प्रतिपक्षम्=प्रति (प्रतिकूलः) पक्षः इति प्रतिपक्षः। प्रादिसमासः। तम्।

व्यवसायवन्ध्यताम्=व्यवसायस्य वन्धता इति व्यवसायवन्ध्यता। पष्ठीतत्पुरुषः समासः। ताम्। व्यवसायशब्दस्य उद्योग इत्यर्थः। वन्ध्यता शब्दस्य च शून्यता, रहितता इत्यर्थः।

पराक्रमाश्रया=पराक्रमः आश्रयः (आलम्बनं) यासाम् ताः। बहुव्रीहिः ॥१५॥

वाच्य परिवर्तनम्—

'पराक्रमाश्रया समृद्धय न निवमन्ति ।' —कर्तृवाच्यम्

'पराक्रमाश्रयाभि समृद्धिभि न ·युष्यत ।' —भाववाच्यम्

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

उन्नति=उत्—नम्+क्तिन् । उनते इनि प्रतिपक्षम इ्यनेन सम्बन्धेषष्ठी ।

व्यवसाय=वि—अव—सो+घञ् । सो धातु नाशार्थक । ४ ग० प० प० । लट्—स्यति । लिट—ससौ । लुङ्—असात्, असासीत् । क्तान्तम्—सित , सिता, सितम् ।

वन्ध्यता=वन्ध+यत्=वन्ध्य । वन्ध्य+तल् । लट्=बध्नाति । लिट्—बब·घ । लुट्—अमान्त्सीन् । क्तान्तम्—बद्ध ।

पराक्रम=परा—क्रम्=घञ् । आश्रय=आङ्—श्रि+अच् (कर्मणि-वाच्ये) विषाद=वि—सद्+घञ् । अत्र 'सदिरप्रते इतिपत्वम् । समृद्धि=सम्—ऋध्+क्तिन् । अवलम्ब्य=अव—लम्ब्+क्त्वाच् (ल्यप) ।

छन्द—

वियोगिनी ।

अलङ्कारनिरूपणम्—

यहाँ कार्य-कारण रूप अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार है ।[1]

संक्षिप्तभावार्थ—

उद्योगिन-पुरुषमिह मुपैति लक्ष्मी । दैवेनदेयमिति का पुरुषा वदन्ति । अभ्युदयकामुका पुरुषा उद्योग समाश्रयन्ति । निरुद्योगिन पुरुप श्री नेच्छति ।

टिप्पणी—

अभ्युदयाकांक्षी पुरुष को सतत उद्योग प्रवण रहना चाहिए इस बात को

---

१. 'उनते प्रतिपक्षम' इनि पदसमूहार्थस्य व्यवसायबन्ध्यतावलम्बन—निषेध प्रति हेतुत्वात् पदार्थ हेतुककाव्यलिङ्गम् इत्यपि केचिदामनन्ति । सम्पूर्ण श्लोकेच वैधर्म्येण कारणेन कार्य-समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास म० म० मल्लिनाथेन प्रतिपादित ।

कवि ने बहुत ही रोचक ढंग से कहा है। इस कथन में अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग नामक दो अलंकार स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं ॥१५॥

● **शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—**

'स्तोकेनोन्नति मायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।'—पंचत० १।१५०

'महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नति-कारकः ।'—हितोप० ३

'प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुम् ।' काव्य प्र० १०

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।' हितोप० २।१४

'धात्रातात-धियाऽर्चित, सुर-गजाधीशेन हस्तेवृत,
क्षेत्रेषु प्रथितं, प्रियव्रत—तनूजातेन संरक्षित, ।
शुभ्रांशो ! जगतां सुजीवनमये निन्दस्यथैताहश,
हहो ! पुष्करमाश्रय निजमपि, ज्ञातोऽसि, जाल्मोभवान् ॥'

—श्रीनिवासचम्पू ३।४०

\+ \+ \+

● अनुकूल समय की प्रतीक्षा है, त्वरा (जल्दी) करने की क्या आवश्यकता है ? इस आशंका का निवारण करने हेतु कहते हैं—

● ननु[1] समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते—
कथमाविष्कृत-जिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजा—
श्चिरमास्वाद्य नरेन्द्र-संपदः ॥१६॥

: सुबोधिनी :

अन्वय:

अथ अवधिः प्रतीक्ष्यते चेत् (तदा) आविष्कृत-जिह्मवृत्तिना धृतराष्ट्र-सुतेन नरेन्द्र-सम्पदः चिरम् आस्वाद्य कथं सुत्यजाः ।

---

१. 'प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु ।
गर्हा-समुच्चय-प्रश्न-शंङ्का-सम्भावना स्वपि ॥'

शब्दार्थ —

अथ=अनन्तर, पश्चात्, पूर्वोक्त श्लोक कहने के पश्चात् (पुनः भीमसेन के मुख से महाकवि भारवि कहना आरम्भ करते हुए कहते हैं कि यदि) अवधि= समय, पूर्वकृत निर्णयानुसार वनवास तथा अज्ञातवास समाप्ति काल की अवधि की। प्रतीक्ष्यते=प्रतीक्षा करते हो। चेत्=तो। (तदा=तो) आविष्कृत जिह्म-वृत्तिना=प्रकट कर दी है। कुटिल (शठ) वृत्ति जिसने ऐसे। धृतराष्ट्र-सुतेन=धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने, नरेन्द्र-सम्पद=राजसम्पत्ति। चिरम्= चिरकाल तक। आस्वाद्य=उपभोग करके। कथ=कैसे। सुत्यजा=सरलता से बिना युद्ध किये ही छोड़ देगा ?

अनुवाद —

'यदि हे राजा युधिष्ठिर ! आप पूर्व निश्चयानुसार वनवास काल समाप्ति की प्रतीक्षा करते हैं तो (इस प्रकार प्रतीक्षा मूलक उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि) जिस धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने हम सब के साथ कपट व्यवहार करके, प्रदीर्घ काल तक राज सम्पत्ति का उसके द्वारा निरन्तर उपभोग किये जाने के पश्चात् बिना युद्ध के कैसे उनका परित्याग वह कर देगा ? अर्थात् वह कुटिल दुर्योधन बिना युद्ध में पराजित हुए हम से अपहृत पूर्व सम्पत्ति हम को कथमपि नहीं छोड़ देगा।'

घण्टापथ —

अथेति ॥ अथावधि काल प्रतीक्ष्यतेचेत्। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। आविष्कृतजिह्मवृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहारेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्र सपदो राज्यसपद। नरेन्द्रति वा पदच्छेद। चिर चतुर्दश[1]-वर्षाण्यास्वाद्यानुभूय कथ सुत्यज। नानास्वादेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेश बिना न त्यक्ष्यन्त एवेत्यवधिप्रतीक्षण व्यर्थमित्यर्थ ॥१६॥

सरलार्थ —

अथ त्रयोदश-वर्षान्ते वनवासात् प्रत्यागतोऽहम् राज्य पुनर्ग्रहीष्यामीति

---

१ अत्र 'त्रयोदश' वर्षाणि इत्युक्तिरेव समीचीना, यत द्वादशवर्षात्मक वनवासः एकवर्षात्मकश्चाज्ञातवास इत्येव कृतसमयस्य स्वरूप वर्तते।

पुरा त्वया तेन सह परिसमाप्तायामक्ष-क्रीडायामवधिः कृतः सोऽवधिः, प्रतीक्ष्यते त्वया चेत् तदपि तन्नोचितमिति मन्ये। यतः खलः दुर्योधनः कपटाक्षक्रीडया सम्पूर्णमेव राज्यं धनं च अपहृतवान्। सः चिरकालपर्यन्तं राज्यसुखम् उपभुज्य अनायासेन कथमपि तन्न प्रत्यावर्तयिष्यति। राज्यस्य पुनरावर्तनार्थं युद्धन्तु सर्वथा अपरिहार्यमेव। यावच्च सः नाशक्यपराजयः भविष्यति, तत् पूर्वमेव अभियोज्यः सः।

नीतिज्ञाः समय-परिरक्षण न कुर्वन्ति। येन केनापि मिषेणतद् भगं कुर्वन्ति। समय-करणन्तु भङ्गार्थमेव भवति। प्राप्ते अवसरे शत्रुः आक्रमितव्यः। इत्याशयः ॥१६॥

समासाः—

आविष्कृत-जिह्मवृत्तिना=जिह्मावृत्तिः इतिः। कर्मधारयः। आविष्कृता जिह्मवृत्तिः। येन। सः बहुव्रीहिः। तेन। 'धृतराष्ट्रसूतेन' अस्य पदस्य विशेषणमेतत्।

धृतराष्ट्र-सुतेन=धृतराष्ट्रस्य सुतः इति। षष्ठीतत्पुरुषः समासः। तेन। 'सुत्यजाः' इत्यस्य 'अनुक्ते कर्तरि तृतीया' अत्र कृद्योगे कर्तरि षष्ठी नास्ति। खल्-प्रत्ययान्तयोगे षष्ठी निषेधात्। 'नलोकाव्यय निष्ठा खलर्तृणाम्, इत्यनुशासनात् ॥१६॥

नरेन्द्रसम्पद;=नरेषु इन्द्रः इव इति नरेन्द्रः। सप्तमी तत्पुरुषः। अथवा नराणामिन्द्रः इति नरेन्द्रः। ष० तत्पु०। तस्य सम्पदः इति। ष० तत्पु० ॥१६॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

'अथ चेत् (त्वया) अवधिः प्रतीक्ष्यते।'—कर्मवा०

'अथ चेत् (त्वम्) अवधि प्रतीक्षसे।'—कर्तृवा०

'नरेन्द्र-सम्पदः कथं सुत्यजाः (भवन्ति)—कर्तृवा०

'नरेन्द्र-सम्पद्भिः (अथवा हे नरेन्द्र सम्पद्भिः) कथं सुत्यजाभिः (भूयते)।'
—भाववा०

नरेन्द्र-सम्पदः=नरेषु इन्द्रः इव इति नरेन्द्रः। सप्तमी तत्पुरुषः। अथवा नराणामिन्द्रः इति नरेन्द्रः। ष० तत्पु०। तस्य सम्पदः इति। ष० तत्पु० ॥१६॥

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अवधि=अव—धा+कि। प्रतीक्ष्यते=प्रति—ईक्ष्+लट्-ते (कर्मणि)।

आविष्कृत=आविस—कृ+क्त (कर्मणि)। आविस् इत्यव्ययम्। आविस् (आ+अव्+इस् इत्यस्य प्रकटत इत्यर्थः। प्राय अस्, भू, और कृ धातु से पूर्व यह प्रयुक्त होता है। जैसे—'आचार्यक विजयिमान्मथमाविरासीत्।' मातङ्ग लीला १।२६, 'आविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्क।'—शाकु० ४।१

'तेषामाविरभूद ब्रह्मा०।' कुमार २।२, रघु० ६।५५, जिह्म=हा+मन्। वृत्ति=वृत+क्तिन्। वृत्ति इत्यस्य शील इत्यर्थ। 'वृत्तिर्वर्तनजीवन' इत्यमर Conduct

'धृतराष्ट्र' शब्द सज्ञावाचक। सज्ञावाचकत्वात् अत्र समासो नास्ति। अन्यत्र—धृत (पालित, रक्षित) राष्ट्र (राज्य वा) येन स धृतराष्ट्र इति कथञ्चित् बहुव्रीहि कर्तुं शक्यते।

सुत्यज=सु—त्यज्+खल। त्यजधातु हानौ। प्र० ग०। सकर्मक। अनिट। प० प०। लट्—त्यजति। लिट—तत्याज। लुङ्—अत्याक्षीत्। क्तान्तम्—त्यक्त, त्यक्ता, त्यक्तम्। कर्मणि—त्यजते। णिचि—त्याजयति, त्याजयते। सनि—तित्यक्षति। यङि—तात्यज्यते। कृत्सु—त्यक्तव्य, त्यजनीय, त्याज्य, त्यक्त, त्यजन, त्यागी, त्याग, त्याजक, त्यक्तुम्, त्यक्त्वा, सन्त्यज्य। आस्वाद्य=आङ्—स्वाद्+णिच्+ल्यप्। स्वाद् धातु आस्वादन। प्र० ग०। सकर्मक। सेट। आ० प०। स्वादते लटि। दशमगणेपि स्वादधातु वर्तते। स च उभयपदी वर्तते। स्वादयति-स्वादयते। एवं लटि रूपाणि भवन्ति। प्रथमगणे आस्वादनार्थे स्वर्द धातुरपि वर्तते। लटि—स्वर्दते इति रूप भवति अयमात्मनेपदी धातुरस्ति। चिरम्=चिरकाल व्याप्य इत्यर्थ। अत्र व्याप्त्यर्थे (अत्यन्तप्रयोगे) द्वितीया विभक्ति। चिरमिति अव्ययमपि वर्तते ॥१६॥

छन्द —

वियोगिनी।

अलङ्कार —

अर्थापत्ति।

सक्षिप्तभावार्थ —

दुर्योधन त्रयोदशवर्षपर्यन्त राज्यसम्पद अनुभूय पश्चात् अपि कथ सुखेन युद्ध विना त्यक्ष्यति? जिह्मवृत्ति ज्ञातास्वाद दुर्योधन समयमनुसृत्य

परिसमाप्तावधौ राज्यं युद्धं विना प्रत्यर्पयिष्यतीति वृथा बुद्धिः दुराशा मात्र-मेतत् । अतः अवधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ॥१६॥

टिप्पणी—

टीकाकार म० म० मल्लिनाथ ने 'चिरं' का अर्थ चतुर्दश वर्ष लिखा है किन्तु ऐसा लिखना भ्रमवश है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी १४ वर्ष वनवास में रहने का प्रभाव बुद्धि में होना नितान्त स्वाभाविक है इसी कारण यहाँ पाण्डव वनवास की अवधि १४ वर्ष भ्रमवश लिखी गई होगी। पाण्डवों को १२ वर्ष वनवास तथा १ वर्ष अज्ञातवास में रहने की (अक्षक्रीड़ा के पश्चात् हुए समय के अनुसार) अवधि निश्चित हुई थी यह चर्चा महाभारत में बहुचर्चित है।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'स्मरशापाऽवधिदां सरस्वतीम् ।'—कुमार० ४।४३
'एषतेजीविताऽवधिः प्रवादः ।'—उत्तररा० १
'शेषान् मासान् विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा ।'—मेघ० ८९
'अयि रोषमुरीकरोषि नोचेत् किमपि त्वां प्रतिवारिवे वदामः । भामिनी० १।४४
'हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमिकैतवम् ।'
उपचार पदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥'—कुमार० ४।९
'सन्निधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमितिचेन्न ।'—शतपथ ब्राह्मण

\+ \+ \+ \+

● हे राजन् ! भाग्य के प्रभाव से अवधि की समाप्ति पर वह स्वयमेव राज्य लौटा देगा, ऐसा मान लिया जाय तो भी हमें (पसन्द) रुचिकर नही है। इसका कारण बताते हुए भीमसेन कहते हैं कि—

● अथवा तदा दैववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यतिचेत्तथापि तत् कथं रोच-येमहीत्याह—

द्विषता विहितं त्वयाथवा
यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ ! तवानुजन्मनां
कृतमाविष्कृत पौरुषैर्भुजैः ॥१७॥

सुबोधिनी :

अन्वय —

अथवा द्विषता विहितं आत्मनः पदं यदि पुनः लब्धा, हे जननाथ ! तव अनुजन्मनाम् आविष्कृतपौरुषं भुजैः कृतम् ।

शब्दार्थ —

अथवा=अन्य पक्ष में, विकल्प से । द्विषता=शत्रु ने । विहित=लौटाया हुआ, पर्यर्पित किया हुआ । आत्मनः=अपना । पदं=राज्य । पुनः=फिर से । त्वया=तुम्हारे द्वारा । लब्धा=प्राप्त करना । यदि=तो । हे जननाथ=हे राजन् ! तव=तुम्हारे । अनुजन्मनां=छोटे भाइयों के । आविष्कृतपौरुषं= अभिव्यक्त पराक्रम शाली । भुजैः=भुजाओं ने । कृतम्=क्या किया ? उनके होने से क्या लाभ ? उनका होना न होना एक जैसा ही होगा अर्थात् भुजपराक्रम व्यर्थ होगा ।

हिन्दी अनुवाद—

हे राजन् ! यदि शत्रु आपके राज्य-सम्पत्ति को पुनः आपको सौंप दे और आप उसे स्वीकार कर लें तो आपके छोटे भाइयों की इन पराक्रमशाली भुजाओं का क्या होगा ? ये कहाँ काम आवेंगी ? इन भुजाओं का बल-विक्रम व्यर्थ हो जायेगा ॥१७॥

घण्टापथ —

द्विषतेति ॥ अथवा द्विषता विहितं पुनः पर्यर्पितमात्मनः पदं राज्यं त्वया लब्धा लप्स्यते यदि । लभेः कर्मणि लुट् । हे जननाथ, तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृतपौरुषं प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतम् अलम् अस्मद्भुजैर्न किंचित्साध्यमित्यर्थः । राज्यदानादानयोर्द्विषतामेव स्वानन्येऽस्मद्भुजवैफल्यात् । 'क्षत्रियस्य विजितव्यम्' इति शास्त्रात्क्षात्रेणैव राज्यं ग्राह्यमिति भावः । कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्यमानापि' इति ॥१७॥

सरलार्थ —

हे जननाथ ! यदि वा दैवपक्षमनुसृत्यापि जिह्माग्रणी दुर्योधनः त्रयोदशवर्षा-

नन्तरं कपटेनाहृत राज्यं पुनः तुभ्यमेव प्रत्यर्पयेत् तथापि न प्रीतिकरम्। यतः स्वभुजवीर्यैः शत्रुं विजीत्यैव राज्यग्रहणं क्षत्रियाय गौरवकरं भवति।

बाहुवीर्येणैव हृतं राज्यमुद्धर्तुं नेच्छसि चेत् तवानुजन्मनाम् एभिः आविष्कृत-बलपौरुषैः भुजैः किम्? अस्माकं त्रिलोक-विश्रुतवलवीर्यशालिनां पौरुषं व्यर्थम्। व्यर्थत्वाच्च धिःकारयोग्यम् ॥१७॥

समासाः—

जननाथ=जनानां नाथः इति जननाथः। प० तत्पु०। तत् सम्बोधने जननाथ! इति एकवचनान्तं रूपम्।

अनुजन्मनाम्=अनु जन्म येषां ते अनुजन्मानः इति। बहुव्रीहिः। तेषाम्। भुजैः इति पदेन सह सम्बन्धात् षष्ठी। अनु इति अव्ययम्। अनु इत्यस्य पश्चादित्यर्थः।

'नु पृच्छायां विकल्पेच, पश्चात् सादृश्ययोरनु।' इत्यमरः ३।१४५६

आविष्कृत-पौरुषैः=आविष्कृतं पौरुषं यैः ते आविष्कृत पौरुषाः। बहुव्रीहिः। तैः। भुजैः इत्यस्य पदस्य विशेषणमेतत् ॥१७॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

'यदि त्वया द्विषता विहितम् आत्मनः पदं लब्धा।'—कर्मवा०

'यदि त्वम् द्विषता विहितम् आत्मनः पदं लब्धा'।'—कर्तृवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

द्विषत्=द्विष्+शतृ। द्विषत् इत्यस्य रिपुः इत्यर्थः। 'रिपौ वैरिसपत्नारि द्विषद् द्वेषण दुर्हृदः। द्विड् विपक्षऽहिताऽमित्रदस्यु-शात्रव-शत्रवः॥' इत्यमरः २।८।७७६

द्विषधातुः अप्रीतौ। अदादिगणीयः। सकर्म०। अनिट्। उ० प०। लट्—द्वेष्टि-द्विष्टे। लिट्—दिद्वेष—दिद्विषे। लुङ्—अद्विक्षत्-अद्विषत। क्तान्तम्—द्विष्टः, द्विष्टा, द्विष्टम्।

---

१. लभ् धातु आत्मने पदी है, कर्तृवाच्य में लुट् लकार में 'लब्धा' रूप होता है और कर्मवाच्य में भी 'लब्धा' ही रूप होता है।'

२. लुङि पंचमी विधा।

कर्मणि—द्विष्यते। लुङि—अद्वेपि। णिचि—द्वेपयति द्वेपयते। सनि—दिद्विक्षति-दिद्विक्षते।

यङि—देद्विष्यते। कृत्सु—द्वेष्टव्य। द्वेषणीय। द्वेष्य। द्विष्ट। द्विषन्। द्विषती। द्विषाण। द्वेक्ष्यन्। द्वेक्ष्यती—द्वेक्ष्यन्ती। द्वेक्ष्यमाणा। द्वेष्टुम्। द्वेषणम्। द्विष्ट्वा। प्रद्विष्य।

विहित—वि—धा+क्त। विहित इत्यस्य कृत इत्यर्थः। किन्त्वत्र समर्पित इत्यर्थो बोद्धव्य।

लब्धा=लभ्+लुट् ता। लब्धा इत्यस्य लप्स्यते इत्यर्थः। कर्मवाच्ये सिद्धपदमेतत्। अस्य क्रिया-पदस्य कर्ता 'त्वया' कर्म च 'पदम्' ज्ञेयम्।

पुन इति अव्ययम्।

आत्मन्=अत्+मनिन्। आत्मन इत्यत्र सम्बन्धार्थे षष्ठी। पदम् इत्यस्य वस्तु इत्यर्थः। अत्र राज्यरूप वस्तु इत्यर्थो ज्ञेय। पदम् इत्यस्य स्थानमपि अर्थो भवति। राज्यरूप स्थानमिति, 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु।' —इत्यमर ३।३।१३०१

भुज=भुज्+क्त। भुज्यते अनेन इति करणवाच्ये 'क'प्रत्यय। भुजे इत्यत्र 'गम्यमानसाधन क्रियापेक्षयाकरणत्वात् तृतीया।' इति मल्लिनाथ।[1]

वारणार्थक कृतमिति अव्यययोग तृतीया इत्यपि केचित् आमनन्ति। कृतम्=अलम्। 'कृतमिति निवारण-निषेधयो।' इति गणव्याख्याने। आविष्कृत=आविस्—कृ+क्त। पौरुष=पुरुष+अण्। अत्र सम्बन्धार्थक अण् प्रत्यय ॥१७॥

छन्द —

वियोगिनी।

अलङ्कार —

अर्थापत्ति और परिकर नामक दो अलङ्कार हैं।

---

१ उक्तञ्च न्यासोद्योते—
"न केवल श्रूयमाणैव क्रिया निमित्त कारकभावस्यापि तु गम्यमाना-
I

संक्षिप्तभावार्थः—

क्षत्रियः शत्रुं विजीत्यैव राज्यं लभेत । यतः 'वीरभोग्या वसुन्धरा' वीरः स्वपराक्रमेणैव राज्यमर्जयति अतः शत्रुं निहत्यैव राज्यं भुङ्क्ष्व ॥१७॥

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अथवाकृतवाग्द्वारे वंशेस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।'—रघु० १।४
'अथवा मृदुवस्तु हिंसितुम् ।—रघु० ८।४५
'दीर्यं किं न सहस्रबाहमथवा रामेण किं दुष्करम् ।'—उत्तरराः ६।४०
'रन्ध्रान्वेषण-दक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ।'—रघु० १२।११
'त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।'

रघु० ३।४५

'ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिः ।'—रघु ६।३१
'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः ।'—उपनि०
'कृतं वपुषि नवयौवनेन पदम् ।—काद० १२७
'कृतं हि मे कुतुहलेन प्रश्नावकाशया हृदि पदम् ।'—काद० १३३
'अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ।'

—कुमार० ५।२१

\+ \+ \+

● सामादि उपायों से ही यदि कार्य सिद्धि होती है तो युद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? मनु ने भी शत्रु को सामादिक उपायों से जीतने का विधान कर युद्ध करने से रोका है, फिर आग्रह क्यों इस आशंका का समाधान करते हुए—स्वपुरुषार्थार्जित कार्य सिद्धि का महत्व वर्णन करते हुए भीमसेन कहता है कि—

● ननु साम्नैव कार्य-सिद्धौ किं क्षात्रेण ? यथाह मनुः[1] 'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारी न युद्धेन कदाचन ।' इति—तत् किमाग्रहेण—इत्याशङ्क्याह—

---

१. मनुस्मृति ७।१९८
एतद् मनुवचनन्तु अशूरविषयकमिति ।' मल्लिनाथः ।

मद-सिक्त मुखैर्मृगाधिप
करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगत
न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥१८॥

सुबोधिनी

अन्वय —

मृगाधिप स्वयं हतै मदसिक्त-मुखै करिभि वर्तयते। तेजसा जगत् लघयन महान् अन्यत भूति न इच्छति खलु ॥

शब्दार्थ —

मृगाधिप =सिंह (पशुओं का राजा)। स्वयम्=अपने आप। हतै = मारे हुए। मदसिक्तमुखै =मदस्रावी मुखों वाले। करिभि =गजों से। वर्तयते=जीवन निर्वाह करते हैं। तेजसा=तेज से। जगत्=संसार को। लघयन्=तिरस्कृत करते हुए। महान्=बलवान्। अन्यत.=दूसरे से। भूति —ऐश्वर्य को, बड़प्पन को। न इच्छति खलु=सचमुच नहीं चाहते हैं।

हिन्दी अनुवाद—

हे राजन्! सिंह भी मदोन्मत्त गजेन्द्रों को मारकर ही खाता है। पशु में भी इतना स्वाभिमान होता है कि वे भी अन्य हत पशुमांस से अपना जीवन निर्वाह नहीं करते हैं। अपने स्वयं के तेज प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् को प्रभावित करने वाला व्यक्ति क्या दूसरे के द्वारा दी जाने वाली सम्पत्ति की इच्छा कर सकता है? महान् व्यक्ति कभी भी दूसरे के द्वारा दिये गये ऐश्वर्य का उपभोग नहीं करता है ॥१८॥

घण्टापथ —

मदेति ॥ मृगाधिप सिंहो मदसिक्तमुखै। मदवर्षिभिरित्यर्थः। स्वयं स्वेनैवहतै करिभिर्वर्तयते वृत्तिं करोति। तैरेव जीवतीत्यर्थः। चौरादिकाद्वृतेर्लट्। भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदनियमादिति। तथाहि। तेजसा प्रभावेण। 'तेजोबले प्रभावे च ज्योतिष्याग्निपि

रेतसि' इति वैजयन्ती। जगल्लघयँल्लघूकुर्वन्महां स्तेजस्व्यन्यतोऽन्यस्मात्पुरु-पाभ्दूर्ति वृद्धि नेच्छति खलु। नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम्। मनुवचनं श्वशूरविषयमिति भावः। विशेषेण वक्ष्यमाण-सामान्य-समर्थन-रूपोऽर्थान्तरन्यासः।

सरलार्थः—

हे राजन्! मृगाधिपोसिंहः पर-मारित-पशुं न भक्षयति। सः स्वयं हत्वा मदोन्मत्त गजराजं जीवन-निर्वाहं करोति। तथैव मनस्वीपुरुषोऽपि अन्यप्रदत्त-मैश्वर्यं न भुनक्ति। सोऽपि स्वपुरुषार्थेनैव एश्वर्यं सम्पादयति। अन्य-प्रदत्तमैश्वर्यमयशस्करं मनुते। न च स अन्यस्योन्नतिं सहते, महीयसां प्रकृतिः खलु एतादृशी वर्तते। का कथा अविक्रमार्जित-राज्यस्य, कापुरुषएवान्यदत्त-मिच्छति।

अतः स्व पौरुषं प्रकाश्यैव शत्रुतः स्वराज्यं त्वया ग्राह्यम्। तदेव शोभनम् ॥१८॥

समासाः—

मदसिक्त-मुखैः=मदेन सिक्तम् इति मदसिक्तम्। (तृतीया तत्पु०) मदसिक्तं मुखं येषां ते मदसिक्तमुखाः। (बहुव्रीहिः)। तैः। करिभिः इत्यस्य विशेषण-मेतत्।

मृगाधिपः=मृगाणामधिपः इति। प० तत्पु०।

वाच्य-परिवर्तनम्—

'मृगाधिपः वर्तयते कर्तृवा०। 'जगत् लघयन् महान् अन्यतः भूतिं न —कर्तृवा०

'मृगाधिपेन वर्त्यते।' भाववा० जगत् लघयता महता अन्यतः भूतिः न इच्छति।'इष्यते।'—कर्मवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

मद=मद्+अप्। 'मदोऽनुपसर्गे' इत्यनेन अप्। माद्यति अनेन इति मदः।

सिक्त=सिच्+क्त। सिच्धातुः सेचने। ६ ग०। उ० प० लट्—सिञ्चति —सिञ्चते। लिट्—सिषेच—सिषिचे। लुङ्=असिचत्, असिचत, असिक्त। क्तान्तम्—सिक्तः सिक्ता, सिक्तम्।

अधिप=अधि पा+क (मतान्तरेडः)। पाधातुः रक्षणे। २ ग०। सकर्म०।

अनिट् । प० प० । लट्—पाति । लिट्—पपौ । लुट्—पास्यति । लुङ्—अपासीत् । कर्मणि—पायते । णिचि—पालयति-पालयते । कृत्सु—पातव्य । पानीय । पेय । पान । पातृ । पाती-पान्ती । पातुम । पात्वा । परिपाय । पातक । पति । पत्नी । पिता । पति=भूपं ।

करिन्=कर+इनि अस्त्यर्थे । कर अस्ति अस्य इति करी ।

'शुण्डिहस्ताग्रयोः करः ।' इत्यमर ३।३।१२०२ ।

'मतङ्गजो गजो नाग कुञ्जरो वारण करी ।' इत्यमर २।८।८०० ।

अत्र कर शब्द शुण्डावाची (An elephant's trunk) कर=शुण्डिका ।

वर्तयते=वृत (चुरादि)+णिच्+लट्-त । इत्यत्र भौवादिकवृत्धातोर्णिचि कृते परस्मैपदमस्तिव 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात ।' इत्यनेन अणिजन्त काले परस्मैपद भवति । यथा—मृगाधिपस्य आत्मा वर्तते (अणिजन्त)। मृगाधिप करिभि आत्मान वर्तयति (णिजन्त)। अत्र णिजन्तप्रसङ्गे मृगाधिपस्य आत्मा कर्ता, मृगाधिपस्य प्राणित्वात् तदात्मन प्राणित्वम्, अत वृत् धातो अकर्मकत्वात् अणिजन्तकाले प्राणिकर्तृकत्वाच्च णिजन्ते सति परस्मैपद भवितुमर्हति । इत्यत्र आत्मनेपदप्रयोगात् चौरादिकस्य वृतो धातो पदमिदम् ज्ञेयम् । स्वयम् इति अव्ययम् । हृतं इत्यत्र च 'अनुरुं वर्तेरितृतीया विभक्ति । स्वयमात्मना इत्यर्थो ज्ञेय । हत=हन्+क्त । हनधातु हिंसागत्यो । २ ग० । सकर्मक । अनिट् । प० प० । वधादेशे सेट् । लट्—हन्ति, हत , घ्नन्ति । लिट्—जघान, जघ्नतु । जघ्नु लुङ्—अवधीत् । आत्मनेपदे—लट्-आहते । लिट्—आजघ्ने । लुट्—आवधिष्ट । कर्मणि—हन्यते । लिट्—जघ्ने । लुङ्—अघानि । पक्षे—अवधि । णिचि—घातयति-घातयते । सनि—आ-आजिघांसते । जिघांसति । यङि—जेघ्नीयते, जङ्घन्यते । कृत्सु—हन्तव्य । हननीय । वध्यः । घात्य । हत । घ्नत् । घ्नती । हनिष्यत् । हनिष्यती—हनिष्यन्ती । हन्तुम् । हननम् । हत्वा । प्रहत्य । ब्रह्महत्या । जघ्निवान्—जघन्वान् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । घातुक । प्र प्रहतो, प्रहन्ति । परा—पराहतो—पराहन्ति । अप अपहतो, अपहन्ति ।

लघयन्=लघुकुर्वन् इत्यर्थ । लघु+णिच्+शतृ=लघयत् । प्रथमाया विभक्तौ लघयन् इति रूप भवति । 'तत् करोति—तदाचष्टे' इत्यनेन णिच् प्रत्ययो जात । तेजस्=तिज्+असुण् । तेजसा इत्यत्र करणे तृतीया । जगत्=गम्+क्विप् । लघयन् इत्यस्य कर्मणि द्वितीया भूति=भू+क्तिन् । अन्यत =अन्य+तसिल् । पञ्चम्यास्तसिल् । अपादाने पञ्चमी ॥१८॥

संक्षिप्तभावार्थः—

हे राजन् युधिष्ठिर ! मनस्विनः तव अपि शत्रोः अनुकम्पया पुनः राज्यलाभः सर्वथा अकीर्तिकरः। त्वया स्व-पौरुषेणैव पुनः स्वराज्यं ग्राह्यम्। अन्यथा ते दिगन्तकीर्तिः न शिष्यति ॥१८॥

छन्दः—

वियोगिनी।

अलकारः—

अत्र म० म० मल्लिनाथ मते अर्थान्तरन्यासः। अलङ्कारतत्वविदां डॉ० गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरमहोदयानां मते तु 'त्वयापि स्वयमेव स्व-विक्रमेण स्व-कीयम् अपहृतं राज्यं शत्रोः मूर्धनि पदं निधाय ग्राह्यम्। इति प्रस्तुतस्य गम्य-मानत्वात् अत्र अप्रस्तुतप्रशसापि वर्तते ॥१८॥

टिप्पणी—

'मदसिक्तमुखैः' यह विशेषण मन्दोन्मत्त गजेन्द्र का विनाशक होने का सूचक है और मृगाधिप पद का ग्रहण करने से राजाओं में सिंह सदृश तू (युधिष्ठिर) मदोन्मत्त गजराजवत् महापराक्रमी भीष्म-द्रोणादिक का विनाशकर राज्य को पुनः पा सकता है। इसका सूचक है।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'केशरी-निष्ठुर-क्षिप्त-मृगयूथो मृगाधिपः।'—माघ २।५३
'मृगाधिराजस्य वचो निशम्य०।' रघु० २।४१
'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतम्।'—कुमार० २।५५
'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।'—सुभा०
'स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन।'—रघु० २।५६
'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयं भुवा।'—मनु० ५।३९
'स्वयमेवोत्पद्यन्त एवं विधाः कुलपांसवो निःस्नेहाः पशवः।"—कादम्बरी
—रघु० १।१८
'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रत्।
'सूर्य आत्मा जगतस्तुस्थुषश्च।'—ऋग्वेद० १।११५
'इदं विश्वं जगत्सर्वमजगच्चापि यद्भवेत्।'—महाभा०
'जगतः पितरौवन्दे।' रघु० १।१

+ + +

● युद्ध में विजय निश्चित नहीं होती है और अन्य उपायान्तरों में पराजय की आशंका नहीं होती इस आशंका का समाधान करते हुए भीमसेन कहता है कि—

● ननु युद्धात् पाक्षिको लाभ उपायान्तरैस्तु तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमान - धनस्य गत्वरैरसुभि —
स्थानु यशश्चिचीषत ।
अचिराशु विलास - चचला—
ननु लक्ष्मी फलमानुशगिकम ॥१६॥

: सुबोधिनी :

अन्वय —

अभिमानधनस्य गत्वरै असुभि स्थास्नु यश चिचीषत अचिराशुविलास चञ्चला लक्ष्मी आनुषङ्गिक फल ननु ।

शब्दार्थ —

अभिमानधनस्य=मानी का, मनस्वीपुरुष का, मान (सम्मान) को ही धन समझने वाले का । **गत्वरै** =क्षणभगुर, विनाशी, विनाशशील । **असुभि** = प्राणो से । **स्थास्नु**=स्थायी । **यश** =यश, कीर्ति । **चिचीषत** =संग्रह करने की इच्छा करने वाले का । **अचिराशुविलास चचला**=बिजली की चमक जैसी क्षणिक, (अत्यल्प टिकने वाली) । **लक्ष्मी**—सम्पत्ति । **आनुषङ्गिक फलम**= गौणफल है । ननु—अव्यय पृच्छार्थक है ॥१६॥

हिन्दी अनुवाद—

स्वाभिमानी पुरुष, विनाशी प्राणो से भी अधिक चिरस्थायी यश को प्राप्त करना चाहते हैं । यदि यश के साथ अचिराशुविलास चचला-लक्ष्मी-का भी लाभ हो जाता है, तो वह गौण लाभ मानते हैं । मनस्वी पुरुष यशोलाभ ही मुख्य लाभ मानते हैं और तदर्थ प्रयत्नशील भी होते हैं ॥१६॥

घण्टापथ —

अभिमानेति ॥ अभिमानधनस्य वैरनिर्यातनमात्रनिष्ठस्य । अतएव गत्वरैर्गमनशीलैरस्थिरै । 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपात । असुभि प्राणै करणै । 'पुंसि भूम्न्यसव प्राणा' इत्यमर । स्थास्नु स्थिरम । 'ग्लाजिस्थश्चग्स्नु' इति

-नस्नुप्रत्यः। यशश्चिचीषतश्चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः। चिनोतेःसन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः। अचिरमंशवो यस्याः सा चिरांशुर्विद्युत्तस्या विलासः स्फुरण तद्वच्चञ्चला। क्षणिकेत्यर्थः। लक्ष्मीः संपदनुषङ्गादागतमानुषङ्गिकम-न्वाचयशिष्टमल्प फलम्। मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलमभ्युच्चयस्तु लक्ष्मारिति मानिनामिदमेव श्लाघ्यमित्यर्थः। अत्रास्थिर-प्राणत्यागेन स्थिरयशः स्वीकाराभिधानान्न्यूनाधिक-विनिमयाख्यः परिवृत्त्यलंकारः। तदुक्त काव्यप्रकाशे—'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' इति ॥१६॥

सरलार्थः—

युद्धपरिणामस्तु अनिश्चितः। अतः उपायान्तरालम्बनम् एव श्रेयस्करम् इत्याशङ्क्यते चेत् तदपि उचित न भाति, यतः समरे नश्वरान् प्राणान् त्यक्त्वा चिरस्थायिनं यशः ये उपार्जयन्ति ते एव जीवनस्य मुख्यं फलं प्राप्नुवन्ति। अचिरस्थायी लक्ष्मीस्तु आनुषङ्गिकं फल वर्तते। गौणफलावाप्तये युद्धोद्योगं विचक्षणाः न कुर्वन्ति। युद्धन्तु मुख्यतः यशोलाभार्थं वैरनिर्यातनार्थमेव भवति। युद्धे विजयेन लक्ष्मी-लाभो भवति तत्तु आनुषङ्गिको लाभः। अतः प्राणान् अपि पणीकृत्य यशोलाभार्थं वैरनिर्यातनार्थंच शत्रुणा सह योद्धव्यम्। युद्ध जयेन यदि लक्ष्मीलाभोऽपि भवति तर्हि स भवतु का हानिः ? ॥१६॥

समासाः—

अभिमान-धनस्य=अभिमानः एव धनं यस्य सः अभिमानधनः। बहुव्रीहिः। तस्य।

अचिरांशुविलासचञ्चला=अचिरम् अंशवो यस्याः सा अचिरांशुः। बहुव्रीहिः। तस्याः अचिरांशवाः विलासः अचिरांशुविलासः (ष० तत्पु०) न इव चञ्चला इति 'उपमानानि सामान्य वचनैः' इत्यनुसृत्य तत्पुरुषः। अचिरांशु-रित्यस्य विद्युदित्यर्थः। विलास इत्यस्य स्फुरण इत्यर्थो ज्ञेयः ॥१६॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

'लक्ष्मीः आनुषङ्गिकं फलं भवति।'—कर्तृवा०

'लक्ष्म्या आनुषङ्गिकेण फलेन भूयते।' भाववा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अभिमान=अभि—मन्+घञ्। गत्वर=गम्+क्वरप्। निपातनात्

साधु असुशब्द प्राणवाचक नित्य बहुवचने प्रयुज्यते । पुल्लिङ्गश्चाय शब्द । असुभिरित्यत्र करणे तृतीया । स्थास्नु=स्था+गस्नु । स्थिरार्थकश्चाय स्थानु शब्द । यश इत्यत्पदस्य विशेषणमिदम् ।

यश=अश्+असुन् । अश्नुते व्याप्नोति यत् तद् यश । चिचीषत इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ।

चिचीषत=चि+सन् (इच्छार्थे)+शतृप्रत्यय । तत्र षष्ठ्या एक-वचनम् । 'जनस्य इति उह्यमान-पदस्य विशेषणमिदम ।

(चिञ्) चिधातु चयने । १० ग० । सकर्म० । सेट् । उ० प० । ज्ञपादि वान्मित्वम । चिस्फुरोर्णौ । इति आत्वपक्षे पुक् । चयति—चयते । णिजभाव-पक्षे चयति=चयते । लट्—चिनाति—चिनुते । लिट्—चिचाय, चिच्ये, चिकाय, चिक्य । लुङ्—अचैषीत, अचेष्ट । क्तान्तम्—चित , चिता, चितम् ।

विलास=वि—लस्+घञ् । चञ्चल=चञ्च्+अलच ।

पक्षे—चञ्च्—ला+क । स्त्रियामाकार ।

लक्ष्मी—लक्ष+ई, धातोरन्त च मुडागम । उणादि—क प्रत्ययोऽयम् ।

अनुषङ्ग=अनु—सनज्+घञ् । 'उपसर्गात् सुणोति' इत्यनेन षत्वम् । अनुषङ्ग+ठक्=आनुषङ्गिक । अनुषङ्गात्प्राप्तम् इति आनुषङ्गिकम् । अनु इत्यव्ययम् । अत्र अवधारणार्थक ननु इत्यव्ययम् ॥ १९ ॥

संक्षिप्तभावार्थ —

मानरक्षा मनस्वी पुरुषाणा प्रमुख कर्तव्यमस्ति । मानरक्षार्थं ते प्राणानपि व्ययी कुर्वन्ति यत प्राणा क्षण भगुरा । तथैव लक्ष्मी अपि नश्वरा तस्या कृते मानीपुरुषा युद्ध न कुर्वन्ति । किन्तु मान-रक्षार्थं ते युद्धमपि कुर्वन्ति युद्धे जयेन यदि लक्ष्मी लप्स्यते तर्हि तदानुषङ्गिक फलमिति ते मन्यन्ते । यत अत्र जगतीतल केवल यशएव चिरस्थायी वर्तते ।

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार —

परिवृत्त्यलङ्कार ।

टिप्पणी—

महाकवि भारवि ने वस्तु विनिमय करते हुए किस बात का महत्व है इसे बहुत ही प्रभावी ढंग से निरुपित किया है। महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में इस विषय पर विवेचन किया है 'एकान्त विध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु' दोनों महाकवियो का वर्णन नैपुण्य प्रशंसनीय है। तुलना कीजिए ॥१९॥

- शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'सदाभिमानैकधना हि मानिनः।'—माघ० १।६७

'गत्वर्यो यौवनश्रियः।'—किरातार्जु० ११।१२

'मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।'—भर्तृहरि० २।२८

'विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि।'—मनु० ७।३४

'यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।'—रघु० ३।४८

'यशः शरीरे भव मे दयालुः।' रघु० २।५७

'अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थात् यशोधनानां हि यशोगरीयः।'

—रघु० १४।३५

'तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान संरुणद्धि।'—भर्तृ० २।१७

'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।'—शाकुन्त० १।२०

'इयं गेहे लक्ष्मीः'—उत्तर रा० १।३८

'तामेकभार्या परिवाद-भीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य।

वक्षस्य संघट्ट-सुखं वसन्ती रेजे सपत्नी रहितेव लक्ष्मीः॥'—रघु० १४।८६

\+ \+ \+

- 'अल्प मान-सम्मान के लिये प्राण कैसे त्यागे जा सकते हैं? क्योंकि—जीवित रहते हुए मनुष्य सैकडों भली बातों को देख सकता है।' इस आशङ्का का समाधान करते हुए भीमसेन कहता है कि—

- 'नन्वल्पस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्तुम्, यतः-'जीवन्नरो-भद्र शतानि पश्येत्' इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं
चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः
सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥२०॥

सुबोधिनी :

अन्वय —

जन भस्मना चयम् आस्कन्दति ज्वलित हिरण्यरेतस न । अत मानिन अभिभूति-भयात असून् सुखम् उज्झन्ति, (किन्तु) धाम न (उजझन्ति) ।

शब्दार्थ —

जन =लोग । भस्मना=राख क । चयम्=समूह को । आस्कन्दति= लाघत हैं । ज्वलित=प्रज्वलित, धधकत हुए । हिरण्यरेतस=अग्नि का, अगारा का । न=नही । अत =इसलिय । मानिन =मनस्वीजन । अभिभूति-भयात् =पराभव की आशङ्का म । असून=प्राणान्=प्राणो का । सुख=सुखपूवक । उज्झन्ति=परित्याग कर देते हैं । (किन्तु) धाम=तज, प्रभाव को । न= नही । उज्झन्ति=त्यागने हैं ॥२०॥

हिन्दी अनुवाद —

मनुष्य राख के ढर को लाघ जाना है किन्तु जलती हुई आग का लाघने का साहस नही कर पाता । अत मानधन मनस्वीजन पराभव की आशङ्का से प्राणा को सुखपूवक त्याग दते हैं किन्तु तेजस्वी का उल्लघन नही करन हैं ।

घण्टापथ —

ज्वलितमिति । जनो भस्मना चय पुञ्जमास्कन्दति पादादिनाक्रमति । अदाहकत्वादिति भाव । ज्वलित ज्वलन्तम् । कर्तरिक्त । 'मतिबुद्धि—'इत्यादि-सूत्रे चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । हिरण्य रेतो यस्य त हिरण्यरेतसमग्नि नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भाव । अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात्प्राणलाभेन तजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयादसूनेव सुखमक्लिष्टमुज्झन्ति त्यजन्ति । धाम तजस्तु नोज्झन्ति । मानहानिकराज्जीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वरमित्यर्थ । पूर्ववदर्थान्तरन्यास ॥२०॥

सरलार्थ —

यावदग्नि उद्धिप्तो भूत्वा ज्वलति तावत् न कोऽपि जन तम् उल्लङ्घि-तुमपि इच्छति, किन्तु भस्मचयावशेषनागत पावके जना पादाभ्या दलितु न विभ्यन्ति । तजस्विना एव सर्वत्र सम्मान हेतुरस्ति । तजस्वितामावे न कोऽपि समानयति मर्वे निरङ्कुशत्यैव दरीदृश्यन्त । तजोहीनता एव असम्मानकारण-

मस्ति । एवं मत्वा मानिनः स्वकीय-यशोरक्षार्थं सुखेन प्राणान् त्यजन्ति । तेजः क्षये असम्मानो माभूदित्याशयेन प्राण-त्यागमपि ते वरं मन्यन्ते । किन्तु ते कदापि यशोहानिं तेजसः क्षयं वा न सहन्ते । अतः सम्मान-रक्षार्थं प्राणानपि पणीकृत्य स्वपौरुष-प्रदर्शनं कर्तव्यमेव ॥२०॥

समासाः—

हिरण्यरेतसम् = हिरण्यं (सुवर्णम्) रेतो यस्य सः—हिरण्यरेताः । बहुव्रीहिः । तम् । आस्कन्दति अस्याः क्रियायाः कर्म-पदमेतत् । हिरण्यरेता इति अग्नेरपरं नाम । वीर्यवाचकोरेतःशब्दः । 'अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम् ।' इतिश्रुतिः । अतएवोच्यते—'आरोग्यं भास्करादिच्छेत् धनमिच्छेत् हुताशनात् ।'

संस्कृत भाषा अखिल विश्व की भाषाओं में सर्वाधिक समृद्ध भाषा है । संस्कृत भाषा में अग्निवाचक ३४ शब्द हैं । 'हिरण्यरेता' यह भी अग्नि के अनेक नामों में से एक है ।

'हिरण्यरेता हुतभुग् दहनो हव्यवाहनः'—इत्यमरः १।१।६२

अभिभूति-भयात्=अभिभूतेः भयम् इति पंचमी तत्पु० समासः । तस्मात् । इत्यत्र हेत्वर्थे पञ्चमी । विकल्पे तृतीया विभक्तिरपि भवति, अभिभूति-भयेन इति ॥२०॥

वाच्य-परिवर्तनम्—

'जनः ज्वलितं हिरण्य-रेतसं न आस्कन्दति ।'—कर्तृवा०

'जनेन ज्वलितः हिरण्यरेताः न आस्कन्द्यते ।'—कर्मवा०

'जनः भस्मनां चय आस्कन्दति ।'—कर्तृवा०

'जनेन भस्मनां चयः आस्कन्द्यते ।'—कर्मवा०

'मानिनः असून् उज्झन्ति ।'—कर्तृवा०

'मानिभिः असवः उज्झ्यन्ते ।'—कर्मवा०

'मानिनः धाम न उज्झन्ति ।'—कर्तृवा०

'मानिभिः धाम न उज्झ्यते ।'कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

ज्वलित=ज्वल+क्त (कर्तरि) । लट्—ज्वलति ।

लिट्—अज्वाल । लुङ्—अज्वालीत ।

चय=चि+अच् । 'चय' इत्यस्य समूह इत्यर्थ ।

आस्कन्दति=आङ्—स्कन्द्+लट् ति । लिट्—चस्कन्द । लुङ्—अस्कान्त्सीत, अस्कदत । क्तान्तम्—स्कन्न । अत्र स्कन्दिर (स्कन्द) धातु गति-शोषणायो प्र० ग० । सकर्मक । अनिट् । प० प० । स्कन्दति इति लटि रूप भवति । आङ् उपसर्गपूर्वकस्य स्कन्दिर्धातो लटि आस्कन्दति इति रूप भवति ।

अभिभूति=अभि—भू+क्तिन् । 'सुखम्' उज्झन्ति इति क्रियाया विशेषणम् अत द्वितीया विभक्ति ।

उज्झन्ति=उज्झ+लट्—अन्ति । परित्यजन्ति इत्यर्थ ।

धामन्=धा+मनिन् । लट्—दधाति, धत्त । लिट्—दधौ, दधे । लुङ्—अधात्, अधित । क्तान्तम्—हित ।

मानिन=मान+अस्त्यर्थ इनिप्रत्यय । मन्+घञ् । मान । 'असून्' इति उज्झन्ति इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ।

असुशब्द नित्य बहुवचने पुल्लिङ्गे च प्रयुज्यते इत्यवधेयम् ।

'बलवानपि निस्तेजा कस्य नाभिभवास्पदम् ।
नि शङ्क दीयते लोकै पश्य भस्म चये पदम् ॥'

समानार्थक श्लोकोऽयम् ।

संक्षिप्त-भावार्थ —

मनस्विन पराजय भयात् यशासि रक्षन्त स्व-प्राणान् तदपेक्षया सुख परित्यजन्ति । मनुष्य भस्मचय लीलयैव धाक्रामति पर प्रज्वालितं ज्वलनमाक्रमितु मनसापि न प्रवर्तन का कथा पद्भ्यामाक्रमणस्य ? अत तेजस्विता परिरक्षणाय पराक्रमो विधेय । विक्रमेण शत्रु जेय, नोचेत् यथा जनै भस्मचय लङ्घ्यते तथैव शत्रुरस्मान् लङ्घयिष्यति ॥२०॥

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार —

यहाँ विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन वर्णित होने से अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार है ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'वक्क वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितोजनः ।'—शाकु० २।१८
'तत्तस्य किमपिद्रव्यं यो हि यस्य प्रियोजनः ।'—उत्तररा० २।१६
'अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्य प्रतिवक्तुमर्हसि ।'
—कुमार० ५।४०

'भगवन्परवानय जनः प्रतिकूला चरितं क्षमस्व मे ।'—रघु० ८।८१
'पश्यानङ्ग शरातुरं जनमिमं त्रातापि नोरक्षति ।—नागा० १।१
'एवं जनो गृह्णति ।'—मालवि० १
'सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।'
—शाकु० ५।१७

'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा० ।'—माघ १।२
'मृदां चयः ।'—उत्तररा० २।६, 'कचानां चयः ।'—भर्तृ० १।५
'चमरीचयः ।'—माघ० ४।६०

+ + +

● अथवा पराक्रम करने में प्रयोजन की चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या है ? तेजस्वी पुरुष तो स्वभावतः ही पराक्रमी होते हैं । इस तथ्य को भीमसेन के मुख से महाकवि भारवि सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

● अथवा किमत्र प्रयोजन-चिन्तया । किन्तु तेजस्विनामयं स्वभावएव यज्जिगीषुत्वमित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्
ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः
सहते नान्य समुन्नतिं यया ।।२१।।

: सुबोधिनी :

अन्वयः

मृगाधिपः किं फलम् अपेक्ष्य ध्वनतः पयोधरान् प्रार्थयते । महीयसः सा खलु प्रकृतिः, यथा अन्यसमुन्नतिं न सहते ।

शब्दार्थ —

मृगाधिप =सिंह। किम=क्या। फलम=फल की। अपेक्ष्य=कामना करके। ध्वनत =गर्जना करते हुए। पयोधारान=जलधर मेघों की ओर। प्रार्थयते=प्रार्थना—(आक्रमण) करता है। महीयस =बड़ों की। सा=वह। प्रकृति =स्वभाव। खलु=सचमुच। (होता है)। यया=जैसे, (स्वभाव) से। अन्य समुन्नति=दूसरे की उन्नति को। न=नहीं। सहते=सहन करते हैं।

हिन्दी अनुवाद—

वनराज सिंह क्या किसी फल (प्रयोजन) की अपेक्षा से गर्जते हुए मेघों (बादलों) पर झपटता है? नहीं, बड़ों की स्वाभिमानियों की (चाहे वे मनुष्य हों या पशु) वह प्रकृति है। उनका कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दूसरों की उन्नति को सहन नहीं कर सकते। स्वाभिमानी पुरुष दूसरों की अपनी जैसी उन्नति (उत्कर्ष) को देखना पसन्द ही नहीं करते। अन्य की (शत्रु की) समुन्नति न सहना ही मनस्विता है। शत्रु का आतङ्कित करने में किसी प्रयोजन की आवश्यकता ही नहीं होती है अतः हे राजन! आप चुप न बैठो, अपने पराक्रम से शत्रु का शीघ्र विध्वंस करो।

घण्टापथ —

किमिति॥ मृगाधिपः सिंहः किं फलं प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः। धरन्तीति धराः। पचाद्यच्। पयसां धरास्तान्पयोधरान्मेघान्प्रार्थयतेऽभियाति। 'याञ्चायामभिधाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः। यद्वावरुणद्धीत्यर्थः। प्रा अर्थयते। 'प्रा स्याद्याञ्चावरोधयोः' इत्यभिधानात्प्रा अवरोधेन। प्रा इति। तृतीयान्तम्। आकारान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागात् 'आतो धातोः' इत्यालोपः। तथाहि। महीयसो महत्तरस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्यान्यसमुन्नतिं परवृद्धिं न सहते। महतः परभञ्जनमेव पुरुषार्थ इत्यर्थः। पूर्ववदलङ्कारः॥२१॥

सरलार्थ —

सजलजलदानां गम्भीरां गर्जनां श्रुत्वा मृगेन्द्रः केन प्रयोजनेन जलदाभिमुखमूर्ध्वमुत्प्लुत्य पुनरपि गर्जति। जलद-कृतां तां गम्भीरगर्जनां स न सहते। परकृतगर्जनामसहमानः मनस्वी तदभिमुखं तमाक्रान्तुमभिद्रवति। यतः बलवतां मानिनाम्प्रकृतिरेव एव विधा वर्तते। यत् ते परेषाम् (शत्रूणाम्) उन्नतिं न सहन्ते। अतस्त्वया परस्य शत्रोः दुर्योधनस्य उन्नतिः न सोढव्या युद्धोद्योगश्च कर्तव्य ... ॥

समासाः—

पयोधरान्=धरन्ति इति धराः, पयसां धराः इति पयोधराः। ष
तत्पु०। तान्। धर=धृ+अच्।

मृगाधिपः=मृगाणामधिपः इति। ष० तत्पु०।

अन्यसमुन्नतिम्=अन्यस्य समुन्नतिः इति। ष० तत्पु०। ताम् ॥२१॥

वाच्य-परिवर्तनम्—

'मृगाधिपः ध्वनतः पयोधरान् प्रार्थयति।'—कर्तृवा०

'मृगाधिपेन ध्वनन्तः पयोधराः प्रार्थ्यन्ते।'—कर्मवा०

'सा प्रकृतिः भवति।' कर्तृवा० 'तया प्रकृत्या भूयते।'—भाववा०

'यया (महीयान्) अन्यसमुन्नतिं न सहते।'

'यया अन्य समुन्नतिः (महीयसा) न सह्यते।'

क्रमशः कर्तृवाच्यात् कर्मवाच्ये परिवर्तितम्।

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

समुन्नति=सम—उत्—नम्+क्तिन्। समुन्नतिपदस्योत्कर्षइत्यर्थः
ध्वनत्=ध्वन्+शतृप्रत्ययः। ध्वनतः इति पयोधरान् इत्यस्य विशेषणमिदम्।

प्रार्थयते=प्र—अर्थि+लट्—ते। प्रार्थयते इत्यस्य घण्टापथव्याख्या
द्रष्टव्यम्। 'याञ्चायामभियानेच प्रार्थना कथ्यते बुधैः।' इति केशवः। प्रार्थयते
इति पदमत्र अभियाति इत्यर्थं प्रकटयति।

प्रकृति=प्र—कृ+क्तिन्। अधिपः=अधि—पा+क। मतान्तरे 'ड'
प्रत्ययः। महीयस्=महत्+ईयसुन्। प्रकृतिः इत्नेन पदेन सम्बधात् महीयस
इत्यत्र सम्बन्धे षष्ठी। महीयसः इति षष्ठ्याः विभक्तेः एकवचनम्।

यया=यत्सर्वनामशब्दस्य स्त्रियां तृतीयायां विभक्तौ एकवचनम्। अत्र
हेतौ तृतीया विभक्तिः।

यया प्रकृत्या हेतुना इत्यर्थः ॥२१॥

संक्षिप्त-भावार्थः—

मनस्विनां पुरुषाणां स्वभाव एव यत् ते परेषामुन्नतिं कदापि न सहन्ते।
मृगेन्द्रोऽपि जलद-गर्जनां श्रुत्वा तान् प्रति गर्जन् अभियाति। सोऽपि अन्योन्नतिं न
सहते। जलदान् प्रति अभिगमने नास्ति किमपि तत् प्रयोजनम्। महीयसः सा
प्रकृतिः खलु। त्वयापि परस्य (शत्रोः) समुन्नतिः कदापि न सोढव्या ॥२१॥

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार —

यहा अर्थान्तर न्यासनामक अलकार है ।

टिप्पणी—

यहा 'पयोधर' पद का प्रयोग सजल मेघ का ही द्योतक मानना चाहिये । सजल मेघ का गर्जन गभीर होता है और वही सिंह के कोप को उद्दीप्त करने मे समर्थ होता है ॥२१॥

- शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'उदेति पूर्वं कुसुम तत फलम् । —शाकु० ७।३०
'त्याजितं फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपं । —रघु० ४।३३
'वनान्तरादुपावृत्तं समित्कुश फलाहरं ।'—रघु० १।४९
'अत्युत्कटैं पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ।'—हितो० १।८३
'फलमस्योपहारस्य मद्य प्राप्स्यसि पश्य माम् ।'—रघु० १२।३७
'श्र्वने हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।'—नैषध० २।४८
'परेङ्गितज्ञान फलाहि बुद्धय ।'—पचत० १।४३
'गणनाफलमिदम् ।' 'फलाशन ।' 'फलपरम्परा'
'फलानुमेया प्रारम्भा सस्कारा प्राक्तनाइव ।'—रघु० १।२०
'भवन्ति नम्रास्तरव फलागमैं ।'—शाकुन्त० ५।१२
'नानाफलै फलति कल्पलतेव विद्या ।'—भर्तृ० २।४०
'पद्मपयोधरतटी० ।'—गीतगो० १
'विपाण्डुभिर्म्लानितया पयोधरं ।'—किराता० ४।२४
करीव सिक्त पृषतै पयोमुचां शुचि व्यपाये वनराजि पल्वलम् ।'
—रघु० ४।३

+ + +

- भीमसेन अपने वक्तव्य का उपसहार करते हुए कहता है कि—
- निगमयति—(उक्तार्थोपसहरण निगम उच्यते)—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे—
नृप निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां—
त्वदनुत्साह-हता विपत्तयः ॥२२॥

:सुबोधिनीः

अन्वयः—

हे नृप ! तत् प्रमादजम् तमः निर्धूय विक्रमे, एव मति कुरु। विद्विषां विपत्तयः त्वदनुत्साह-हताः इति एतत् ध्रुवं अवेहि ।

शब्दार्थः—

हे नृप=हे राजन् ! युधिष्ठिर !। तत्=वह । प्रमादजंतमः=प्रमाद, (यथा समय पराक्रम प्रकट न करने की भूल) भूल से उत्पन्न हुआ तम अर्थात् मोह को । निर्धूय=दूरकर । विक्रमे=पौरुष में । एव=ही । मति=बुद्धि । कुरु=करो । (अर्थात्—अकर्मण्यतारूप प्रमाद का त्याग कर पराक्रम का आश्रय करो ।) विद्विषां=शत्रुओं की (शत्रुकृत) । विपत्तयः=विपत्तियाँ । त्वदनुत्साह-हताः=तुम्हारे अनुत्साह के कारण नष्ट हुई हैं । इति एतत्=यह । ध्रुवं=निश्चय से । अवेहि=जानो ॥२२॥

हिन्दी अनुवाद—

हे राजन् युधिष्ठिर ! अकर्मण्यता-प्रमादरूपी अन्धःकार को दूर कर पराक्रम का आश्रय लो । पराक्रम-वैफल्य की आशंका न करो क्योंकि शत्रु की साम्प्रतिक उन्नति केवल आपकी उत्साह हीनता के कारण ही है । शत्रु द्वारा हमारे लिए उत्पन्न की गई विपत्तियाँ तो आपके अनुत्साह और अकर्मण्यता के कारण ही हैं । और शत्रु जो सुख पा रहा है उसमें केवल आपकी उदासीनता कारण है । यह निश्चित समझो और उदासीनता छोड़कर पौरुष का अवलम्बन करो ।

घण्टापथः—

कुरु तदिति ॥ हे नृप, तत्तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः । 'यत्तद्यतस्तो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादजं तमो मोहं निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुष-

एव मतिं कुरु । विक्रममवाप्नुहि, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्य-शङ्का कार्येत्याह ध्रुवमिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहताः तवानुत्साहेनाव्यवसायेनहताः प्रतिरुद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद्ध्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्यं निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥२२॥

सरलार्थः—

हे राजन् ! युधिष्ठिर ! पूर्वोक्त-समयेऽपि त्वया पराक्रम-प्रकाशनाभावात् अनवधानजन्यो मोह एव व्यक्तीकृतः । ईदृश्यनवधानता सर्वजनाश्रयभूते राजनि त्वयि न शोभते । अनवहितस्त्वं कथं लोककल्याणार्थं शासनं करिष्यसि ? अतः अनुत्साहरूपं तमस्त्यक्त्वा पौरुषे मतिं कुरु । आत्मनः विक्रमशीलतां त्वं प्रकाशय ।

ध्रुवं सत्यमिदं यत् तवानुत्साहेनैव शत्रुः एतावत्कालपर्यन्तं निर्विघ्नतया राज्यसुखमनुभवन्ति । अन्यथा प्रागेव ते समस्ताः शत्रवः विपद्येरन् ॥२२॥

समासः—

नृप=नॄन् पाति (रक्षति) इति नृपः । उपपद समासः । तत् सम्बोधनं हे नृप !

प्रमादजम्=प्रमादात् (अनवधानात्) जायते यत् तत् । उपपदसमासः ।

त्वदनुत्साहहताः=न उत्साहः इति अनुत्साहः । नञ् तत्पु० । तव अनुत्साहः इति त्वदनुत्साहः । ष० तत्पुरु० । तेन हतः इति त्वदनुत्साह-हताः । तृतीया तत्पु० ।

वाच्य परिवर्तनम्—

'विक्रमे मतिं कुरु ।'—कर्तृ वा०

'विक्रमे मतिः क्रियताम् ।'—कर्मवा०

'विद्विषां विपत्तयः त्वदनुत्साहहताः (भवन्ति)'—कर्तृ वा० । 'एतद् ध्रुवं अवेहि !'—कर्तृ वा०

'विद्विषां विपत्तिभिः त्वदनुत्साहहताभिः (भूयते)'—भाव वा० एतद् ध्रुवम् अवेयताम् ।—'कर्मवाच्यम् । (अत्र कर्ता त्वया कर्म च एतद् अवगम्यताम्)

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

प्रमादजम्=प्र-मद्+घञ् । 'पञ्चम्यामजातौ' इत्यनेन जन्धातोर्डः । प्रमाद—जन+ड ।

मति=मन्+क्तिन् । विक्रम=वि-क्रम्+घञ् । विक्रमेइत्यस्मिन् पदे विषयाधिकरणे सप्तमी ।

निर्धूय=निर्—धू+ल्यप् । तमः=तम्+असिच् ।

अवेहि=अव—इण्+लोट्-हि । अवेहि इत्यस्य जानीहि इत्यर्थो ज्ञेयः ।

विद्विष=वि—द्विष्+क्विप् ।

लट्—द्वेष्टि, द्विष्टे । लिट्—दिद्वेष, दिद्वेषे ।

लुङ्—अद्विक्षत्, अद्विष्ट । लङ्—अद्वेट्, अद्विष्ट ।

क्तान्तम्—द्विष्टः, द्विष्टा, द्विष्टम् ।

विपत्ति—वि—पद्+क्तिन् । उत्साह—उत्—सह्+घञ् ।

एतत्—इति अवेहि इति क्रिया पदस्य कर्म ज्ञेयम् । ध्रुवम् इति अवेहि इत्यस्य क्रियापदस्य च विशेषणम् । द्वितीयाविभक्तेरेकवचनम् । नपुंसकलिङ्गे प्रथमा-द्वितीया-विभक्तौ रूपाणि समानि भवन्ति । एतद् इति प्रथमायां रूपं तथैव द्वितीयायां विभक्तौ अपि एकवचनस्य रूपमस्ति ॥२२॥

संक्षिप्त-भावार्थः—

अनुत्साह-प्रमादजं तमः निर्धूय पौरुषे एव स्वमतिं स्थिरी कुरु । उपायान्तर-चिन्तनं मा कुरु । अस्मत्कृते शत्रुकृताः समस्ता विपत्तयः तव अव्यवसायेन समुद्भूता इति ध्रुवम् । अथवा विद्विषां विपत्तयः अर्थात् शत्रूणां कृते याः विपत्तयः ताः तव अनुत्साहेनैव विनाशिताः । तव अनुत्साहः शत्रोः कृते उपकारकः । कर्म प्रवणोभव इत्यर्थः ।

छन्दः—

वियोगिनी ।

अलंकारः—

यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है ।

टिप्पणीः—

यहाँ नृप पद सम्बोधन वाचक है । इस पद से सम्बोधन करने का हेतु यह है कि सब प्रजाजनों के रक्षक राजा को इस प्रकार प्रमादी होना उचित नहीं है । राजा रक्षक है वही यदि प्रमाद करेगा तो समस्त प्रजाजन संकट-

ग्रस्त (खतरे मे पड़ेंगे।) होंगे। इस भाव की अभिव्यक्ति करने के हेतु महाकवि भारवि ने नृप शब्द का सम्बोधन मे प्रयोग किया है ॥२२॥

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'ज्ञातु प्रमादस्खलित न शक्यम्।'—शाकुन्त० ६।२६

'अहो प्रमाद।'—मातग ली०, उत्तररा० ३,

'अहो परिजनस्य प्रमाद।'—स्वप्नवास०

'इति ध्रुवेच्छामनुशासतीसुताम्।'—कुमारस ५।५

'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन। सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्न कण्ठी कथमप्युवाच॥'—कुमारस० ७।८५

'हिरण्य भूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा ध्रुव लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥—मनु० ७।२०८

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुव जन्म मृतस्य च।'—गीता० २।२७

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुव परिषेवत।'—चाणक्य सू० ६३

ध्रुवा स्मृति' 'ध्रुवानीति'

धृत्युत्साह समन्वित'—गीता १८।२६

'मन्दोत्साहकृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन'—शाकुन्त० २

'ममोत्साह-भङ्ग' मा कृथा।'—हितो०

'हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचित।'—अमरुश० १०

तम शब्द का चमत्कृतियुक्त प्रयोग—

'तम करि हरि सोम प्रपीड्य भुङ्क्ते तम।
चकोरान् स-तमस्-कान्, यत्, तद् युक्त तमसोऽप्यवै॥—इतिकोशावतस।

+ + +

● हे राजन् युधिष्ठिर! हमारे पराजय की शङ्का न करो, ऐसा भीमसेन विश्वास दिलाता हुआ उसके कारणो को कहता है।

● न च न पराजशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितां—
श्चतुरस्तोय-निधीनिवायत।
प्रसहेत रणे तवानुजान्—
द्विषता क शतमन्युतेजस ॥२३॥

:सुबोधिनी:

अन्वय:—

दिग्विभावितान् आयतः चतुरः द्विरदान् इव, चतुरः तोयनिधीन् इव, रणे दिग्विभावितान् शतमन्युतेजसः तव अनुजान् द्विपतां कः प्रसहेत ॥२३॥

शब्दार्थ:—

दिग्विभावितान्=दसों दिशाओं में प्रसिद्ध। आयतः=आने वाले, आते हुए। चतुरः=चार। द्विरदान्=दिग्गजों। इव=तुल्य, सदृश। चतुरः=चार। तोयनिधीन्=समुद्रों की। इव=तरह। रणे=युद्ध में। दिग्विभावितान् शतमन्युतेजसः=सर्वत्र प्रसिद्ध इन्द्र सदृश तेजस्वी। तव=तुम्हारे। अनुजान्=छोटे भाइयों को। कः=कौन। प्रसहेत=सह सकता है। ॥२३॥

हिन्दी अनुवाद:—

हे राजन्! आपके हम चारों भाई दिग्गजों की तरह हैं। चारों समुद्र जैसे सर्वत्र चारों दिशाओं में प्रसिद्ध हैं। शत्रुओं के द्वारा सर्वथा अजेय हैं। तेज में देवेन्द्र सदृश पराक्रमी हैं। अतः शत्रुओं में कौन ऐसा पराक्रमी वीर है जो हमें युद्ध में सहन कर सकता है? अर्थात् कोई भी युद्ध में हमें जीतना तो दूर रहा हमारे सभी अजेय पराक्रमी बन्धुओं के समक्ष खड़ा भी नहीं हो सकता है ॥२३॥

घण्टापथ:—

द्विरदानिति ॥ दिग्विभावितान्दिक्षु प्रसिद्धांस्तानायत आगच्छतः आङ्पूर्वादिण्धातोः शतृप्रत्ययः। चतुरो द्विरदान्दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणांश्चतुरस्तोयनिधीनिव, रण आयतो दिग्विभाविताञ्छतमन्युतेजस इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान्द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत। सोढुं शक्नुयादित्यर्थः। 'शकिलिङ्च' इति शक्यार्थे लिङ्। अतो निःशङ्कं प्रवर्तस्वेति भावः ॥२३॥

सरलार्थ:—

हे राजन् युधिष्ठिर! दशदिक्षु प्रथिताः चतुरो दिग्गजाः यदि कामपि दिश लक्षीकृत्य अभिगच्छेयुः अथवा चत्वारः सागराः प्रबलेन स्वजल-प्रवाहेन धरामण्डलं प्लावयेयुः तदा कोऽपि तेषां सागराणां वेगं संरोद्धुं न शक्नुयात्, तथा पराक्रमे देवेन्द्रसदृशाः अजेयाः लब्धयशस्काः दुराधर्षा स्ते भ्रातरः यदा रणे शत्रोरुपरि प्रधाविष्यन्ति तदा शत्रु-वर्गेषु कोऽस्ति वीरः यः तेषां भयानकमा

क्रमण मरोद्धु शक्नुयात् ? सर्वथा अप्रतिभटास्ते भ्रातरः । अत मनसि पराभव-शङ्का मा कुरु । निःशङ्कतया शत्रुभिः सह युद्धे प्रवर्तस्व ॥२३॥

समासा —

द्विरदान्=द्वौ रदौ (दन्तौ) येषां ते द्विरदा (गजा) । बहुव्रीहि । तान् । द्विरदान् इति अनुजान् इत्यस्य उपमान वाचक पद वर्तते ।

दिग्विभाविभावितान्—दिक्षु विभाविता इति दिग्विभाविता । सप्तमी तत्पु० । तान् । द्विरदान् इत्यस्य विशेषणमिदम् । तथैव तोयनिधीन, अनुजान् इति पदद्वयस्यच विशेषणमिदम् । तोयनिधीन्=निधीयते एषु इति निधय । तोयानां (जलानां) निधय इति । ष० तत्पु० । तान् । अनुजान् इत्यस्य उपमान-मिदम् । शतमन्युतेजस =शत मन्यव (क्रतव —यज्ञ) यस्य स । शतमन्यु (देवेन्द्रस्य विशेषणपरकम अपर नाम । शतक्रतु इत्यपि देवेन्द्रस्य सज्ञा प्रसिद्धा ।) बहुव्रीहि । शतमन्यो तेज इव तेज. येषां ते शतमन्यु तेजस-(बहुव्रीहि) इत्यत्र उपमानपूर्वपद. बहुव्रीहि. । उत्तरपद-लोपश्च । तान् । अनुजान् इत्यस्य विशेषणपदमिदम् । य शतं अश्व-मेधं (यज्ञं) यजते स देवानामिन्द्रित्व लभते । अनेन हेतुना इन्द्रस्य शतक्रतु शतमन्युश्चेति नाम प्रथितम् । '''''शत शतमन्युर्दिवस्पति ।'— इत्यमर १।१।४८ 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमर. ३।३।१३६२, ॥२३॥

वाच्य परिवर्तनम्—

'द्विरदान् इव दिग्विभावितान् चतुर तोयनिधीन् इव आयत नव शतमन्यु-तेजस: अनुजान् क प्रसहेत ।' —कर्तृवा०

'द्विरदा इव दिग्विभाविता चत्वार तोय निधय इव आयान्तः तव शत-मन्युतेजस अनुजाः केन प्रसह्येरन् ।' —कर्मवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

निधय =नि—धा+कि=निधि । इकारान्ते स्त्रीलिङ्ग निधि शब्दस्य षष्ठ्येकवचनम् ।

विभावित =वि—भू+णिच्+क्त । (कर्मणिक्त) प्रसिद्धइत्यर्थं । विपूर्वक-णिजन्त भू धातु प्रसिद्धार्थक अस्ति ।

आयत =आङ्—इन्+शतृप्रत्यय: ।

द्विरदान्, तोयनिधीन्, अनुजान् च इति त्रयाणामिदं विशेषणम् । अतः अत्र द्वितीया—विभक्तेः बहुवचनम् ।

दिग्गजसागरानुज-पक्षत्रये आयत् इत्यस्य अर्थान्तरं भवति ।

दिग्गजपक्षे—आक्रामकत्वम् उद्धतत्वञ्च ।

सागरपक्षे—उत्तालतरङ्गत्वम्, अमर्यादत्वञ्च ।

अनुजपक्षे—युयुत्सुत्वम् ।

प्रसहेत=प्र—सह्+विधिलिङ्—ईतः । अत्र शक्यार्थे विधिलिङ् ।

अनुज—अनु—जन्+ड । अनुज इत्यस्य लघुभ्राता इत्यर्थः । अन्येष्वापि दृश्यते' इति 'ड' प्रत्ययः ।

द्विषताम्=द्विष्+शतृप्रत्ययः=द्विषत् । निर्धारणार्थे षष्ठी । निर्धारणे विकल्पेन सप्तमी-विभक्तिरपि भवति । द्विषत्सु इति सप्तमी ॥२३॥

संक्षिप्त-भावार्थः—

निःशङ्कतया शत्रुभिः सह योद्धव्य मिति ।

छन्दः—

वियोगिनी ।

अलङ्कारः—

बहूपमान वर्णन से यहाँ मालोपमा नामक अलङ्कार है ।

डॉ० ब्रह्मानन्द के अनुसार अर्थापत्ति नामक अलङ्कार है ।

टिप्पणीः—

भीमसेन शत्रु के साथ युद्ध करने का द्रौपदी का आग्रह अनुमोदित करते हुए हम सभी भाई युद्ध में तुम्हारी सहायता करेंगे । हम सभी तुम्हारे अनुज आज्ञाधारी हैं ऐसा विश्वास दिलाता है ॥२३॥

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजियेः—

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।'—रघु० ४।४, मेघ, ५९,

'वागर्थाविव संपृक्तौ० ।'—रघु० १।१ 'पश्यामीव पिनाकिनम् ।' शाकुन्त० १।६

'लिम्पन्तीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।'—मृच्छ० १।३४

'विना सीता देव्याकिमिव हि न दुःखं रघुपतेः ।'—उत्तररा० ६।३०

'अथ स ललितयोषिद् भ्रूलता चारुशृङ्ग, रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचर मधुहस्तन्यस्त चूताङ्कुरास्त्र, शतमख' मुपतस्थे प्राञ्जलि' पुष्प-
धन्वा ॥'—कुमार० २।६४

\+ \+ \+

- भीमसेन शुभाकांक्षा के महान परिणाम का कथन करते हुए कहता है कि—
- आशीर्वाद-व्याजेन फलितम् आह—

ज्वलतस्तव जातवेदसः
सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।
विदधातु शमं शिवेतरा
रिपु-नारी-नयनाम्बु-सन्ततिः ॥२४॥

सुबोधिनी

अन्वय —

तव चेतसि सततं ज्वलतः वैरिकृतस्य जातवेदसः शिवेतरा रिपुनारी=(शत्रु स्त्रि) नयनाम्बु सन्ततिः शमं विदधातु ।

शब्दार्थ —

तव=तुम्हारे । चेतसि=चित्त में । सततं=निरन्तर । ज्वलतः=प्रज्व-लित । वैरिकृतस्य=शत्रु के द्वारा उत्पादित । जातवेदसः=क्रोधरूप अग्नि को । रिपुनारी=शत्रुओं के स्त्रियों की । शिवेतरा=अमङ्गल । नयनाम्बुसन्तति=नेत्रों से गिरने वाली आंसुओं की । अजस्र धारा । शमं=शान्ति । विदधातु=करे ।

हिन्दी अनुवाद —

हे राजन् युधिष्ठिर ! आपके हृदय में शत्रु द्वारा निरन्तर प्रज्वलित क्रोधाग्नि की शान्ति शत्रुओं की विधवा स्त्रियों की आंखों से निरन्तर झरने वाली आंसुओं की झड़ी करें ।

(भीमसेन की कामना इस वचनावली से सुस्पष्ट है । वनवास जन्य असह-नीय कष्टों ने भीमसेन के मुख से मुखरिता प्राप्त की है । भीमसेन भी धीरो-

---

१ 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ।' इत्यमरः २।७।१३

दात्त एवं गंभीर स्वभाव का है किन्तु शत्रुकृत अपमान और असंख्य कष्टों से विवश होकर उसे ऐसा निर्णय लेकर कहने के लिये वाध्य होना पड़ा है। बड़े भाई की आज्ञा शिरोधार्य कर वनवास स्वीकार करने वाला भीमसेन जब ऐसा कह रहा है तब उसका कारण भी वैसा ही अवश्य होना चाहिये।)

घण्टापथ:—

ज्वलत इति ॥ **तव चेतसि सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदसः** । क्रोधाग्नेरित्यर्थः । **शिवेतरा**शिवामङ्गला वैधव्य दुःखजनकत्वादिति भावः । **रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिर्वै**रिवनिताश्रुप्रवाहः **शमं विदधातु** । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शान्त्यसंभवादवश्यं तद्वधस्त्वया कर्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणोजातवेदस एवोपनिबन्धादतिशयोक्तिरलकारः । तदुक्तम्—'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कवेः प्रौढोक्तिजीविता ॥' इति । तत्रापि कोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाव्यवसायाद्भेदेऽभेदरूपा । तत एवाम्बुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तथा च यथाम्बुसेकेनाग्निः शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध-इत्यौपम्यं गम्यते ॥२४॥

सरलार्थः—

भीमसेनः युधिष्ठिरं प्रति कामयति यत्—अस्माभिः सह रणे अखिलशत्रूणां विनाशात् तेषां शत्रूणाम् अङ्गनाः सततम् प्रवहमानम् अश्रुप्रवाहं मुञ्चन्तु । तैः अर्यङ्गनानयनाम्बुभिः तव हृदिस्थः शत्रुभिरुत्पादितः प्रज्वालितश्च क्रोधाग्निः शाम्यतु । यथा अन्योप्यग्निः जलेन शाम्यति तद्वत् तव-क्रोधाग्निः वैरिविनाशात् वैधव्य प्राप्ताभिः तेषाम् अङ्गनाभिः अभिमुञ्चितैः अमङ्गलैः अश्रुजलैः शाम्यतु ॥२४॥

समासाः—

शिवेतरा—शिवात् (मङ्गलात्) इतरा (अपरा) इति । पंच० तत्पु० ।

वैरिकृतस्य—वैरिभिः कृतः इति वैरिकृतः । तृतीया तत्पु० । तस्य । 'जातवेदसः इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः—रिपूणां नार्यः इति रिपुनार्यः । ष० तत्पु० । नयनानाम् अम्बूनि इति नयनाम्बूनि । ष० तत्पु० । रिपुनारीणां नयनाम्बूनि इति रिपुनारीनयनाम्बूनि । ष० तत्पु० । तेषां सन्ततिः (समूहः अजस्रप्रवाहोवा) ष० तत्पु० । 'व्यदधातु' इत्यस्याः क्रियायाः कर्तृकारकमिदम् ॥२४॥

वाच्यपरिवर्तनम् —

'शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बु सन्तति शम विदधातु ।'—कर्तृवा०
'शिवेतरया रिपु-नारी-नयनाम्बु-सन्तत्या—
'शम विधीयताम ।—कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

वैरम्=वीरस्य इदम् (कर्म) इति वैरम् । वीर—अण । वैरम् अस्य अस्ति इति वैरी । वैर+(अस्त्यर्थे) इनिप्रत्यय । वैरम् ।

ज्वलत्=ज्वल+शतृप्रत्यय ।

जातवेदस=जात—विद्+असुन् । जात विन्दति जाठराग्निरूपेण प्राप्नोति य. स जातवेदा =अग्नि ।

सर्वान् एव जन्तून् जाठरानलरूपेण समाश्रयति इति तस्य अग्ने इदम् (जातवेद) अग्नि अभिधानम् ।

सततम्—इत्यत्र क्रिया विशेषणत्वात् द्वितीया विभक्ति । सम्—सन्+क्त =सतत अथवा सन्तत ।

चेतस्=चित्-असुन् । चेतसि इति अधिकरणे सप्तमीविभक्ति । चेतति जानाति वस्तुजातम् अनेन इतिचेत ।

विदधातु=वि-धा+लोट्—तु आशीर्वादार्थे । लोट् । आशिषि लिङ लोटौ ।

शम=शम्+घञ् । नयन नी+ल्युट् ।

रिपु=रप्+कु । रपति (व्यक्त भाषते) विरुद्धम् इति रिपु । 'रिपेरिच्चोपधाया' इत्यनेन उपधायामिकार ।

सन्तति=सन्—तन्+क्तिन् । लट्—तनोति, तनुते ।

लिट्=ततान, तेने । क्तान्तम—तत ।

संक्षिप्तभावार्थ —

हे राजन् ! सर्वशत्रुविनाशानन्तर तव कोपाग्नि शत्रो. विधवाश्रुभि शाम्यतु ॥२४॥

छन्द —

वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ उपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी:—

यहाँ जल सिञ्चन के साथ शत्रुवध का सादृश्य गम्य है।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये

'चेतः प्रसादयति।'—भर्तृ० २।२१

'गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चातसंस्तुतं चेतः।' शाकु० १।३४

'शौर्यं वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलम्।'—भर्तृ० २।३९, गीता० ३।२७, रघु० १२।१०४

'सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।' रा० च०

'जातवेदो मुखान्मायी, मिषतामाच्छिनत्ति नः।'—कुमार० २।४६

माघ—२।५१, रघु० १२।१०४, १५।७८

\+ \+ \+

● भीमसेन को अत्यधिक क्रुद्ध जानकर धर्मराज युधिष्ठिर उसको सान्त्वना देते हैं।

● महीपतिः भीमसेनम् उपसान्त्वयितुम् उपचक्रमे।

इति दर्शितविक्रियं सुतं—
मरुतः कोपपरीत मानसम्।
उपसान्त्वयितुं महीपतिः—
द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे॥२५॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—इति दर्शितविक्रियं कोपपरीतमानसम् मरुतः सुतम् महीपतिः दुष्टं द्विरदम् इव उपसान्त्वयितुम् उपचक्रमे।

शब्दार्थः—इति=इस प्रकार। दर्शित विक्रियं=कटु भाषण के द्वारा अभिव्यक्त (किया है) मानसिक क्रोध विकार (जिसने उसको) वाले को। कोपपरीतमानसम्=क्रोधाक्रान्त चित्त। मरुतः सुतम्=वायु-पुत्र भीमसेन को। महीपतिः=राजा युधिष्ठिर। दुष्टं द्विरदमिव=बिगडेल हाथी की तरह। (मत्वा—समझ कर) उपसान्त्वयितुम्=सांत्वना देने हेतु। उपचक्रमे=प्रवृत्त हुए।

हिन्दी अनुवाद—जब राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन म बढा हुआ क्रोध उसके कठोर भाषण से जाना तो भीमसेन उन्हें बिगड हुए क्रोधोन्मत्त हाथी की तरह जान पडा और प्रत्युत्पन्नमति युधिष्ठिर ने समझ लिया कि यदि युक्ति से तथा सामोपचार से इसे सान्त्वना न देने पर यह काबू से बाहर होकर हाथ से निकल जावेगा क्योकि क्रोधोन्मत्त व्यक्ति म विचार शक्ति नष्ट हो जाती है। अत समजस राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन के कठोर भाषण का उत्तर कठोर शब्दो से देना उचित न समझकर सौम्य शब्दो से ही समझाना प्रारम्भ किया। क्योंकि ठण्डा लोहा ही गरम लोहे को काट पाता है।।२५।।

घण्टापथ—इतीति ।। इत्युक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन स कोपपरीत मानस कोपाक्रान्तचित्तम्। इद विशेषणद्वय द्विरदेऽपि योज्यम्। मरुत सुत भीम महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्ट द्विरदमिव। एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते। उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्त। 'प्रोपाभ्या समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्। राजा तावदुपकारविशेषापेक्षणा कथचिदवशो जन शनै शनै द्विरदवद्वशीकरणीय, न तु त्याज्य इति भाव ।।२५।।

सरलार्थ—पूर्वोक्त श्लोके भीमसेनोक्त्या भीमसेनस्य अनेक क्रोधाख्य मनोविकार प्रादुर्भूत इति राजा युधिष्ठिरेण परिज्ञातम्। युधिष्ठिर धीरोदात्त नायक। शान्त गभीर स्वभाववान् स। अत यथा उन्मत्तगजवशीकरण निपुण कुशल हस्तिपक क्रोधान्ध गज स्ववशमानयति सान्त्वोपचारै। तथैव महीपति युधिष्ठिर कठोर भाषणेन दर्शितस्वान्त भीमसेन सामोपचारै परिसान्त्वयितुमुपचक्रमे ।।२५।।

समासा—दर्शित विक्रियम्=दर्शिता विक्रिया येन स। दर्शितविक्रिय। बहुव्रीहि। तम्। 'मरुत सुतम्' इत्यस्य विशेषणमिदम्।

कोपपरीतमानसम्=कोपेन परीतम् इति कोपपरीतम्। तृतीया तत्पु०। कोपपरीत मानस यस्य स। बहुव्रीहि। तम्। इदमपि 'मरुत सुतम्' इत्यस्य अपर विशेषणम।

महीपतिः=मह्या पति इति। ष० तत्पु०।

द्विरदम=द्वौ रदौ यस्य स इति द्विरद। बहुव्रीहि। तम्। 'सुतम्' इत्यस्य उपमानमिदम् ।।२५।।

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'महीपति उपचक्रमे।'—कर्तृवा०

'महीपतिना उपचक्रमे ।—भाववा०'[1]

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

दर्शित=दृश्+णिच्+क्तप्रत्ययः ।

विक्रिया=वि—कृ+श (भावार्थे) ।

सुत=सु+क्त । मरुत=मृ+उति । 'मृगोरुति' इत्यनेन सूत्रेण उति प्रत्ययः । यथा—मरुत्, गरुत् इतिरूपौ मृ, गृ, धातोः उति प्रत्यये कृते सिध्यतः । परीत—परि-इण-क्त । मानस—मनस्+अण् (स्वार्थे) मनएव मानसम् । मन+असुन=मनस् ।

कोप=कुप्+घञ् । लट्—कुप्यति । लिट्—चुकोप । लुङ्—अकुपत ।

उपसान्त्वयितुम्=उप—सान्त्व (चुरादि)+णिच्+तुमुन् प्रत्ययः ।

रद—रद्यते खण्ड्यते अनेन इति रदः (दन्तः) । रद्+अप् । दुष्ट=दुष्+क्त प्रत्ययः ।

लट्—दुष्यति । लिट्—दुदोष । लुङ्—अदुषत् । णिच्—दूषयति ।

उपचक्रमे=उप+क्रम+लिट्—ए ।

क्रमु (क्रम) पादविक्षेपे । प्र० ग० । सकर्मकः । सेट । प० प० । 'अनुपसर्गाद्वा' इति क्रमो विकल्पेनात्मनेपदं भवति । आरम्भार्थे 'उप' पूर्वकः 'प्र' पूर्वकश्च क्रमधातुः आत्मनेपदी यथा—प्रक्रमते—उपक्रमते वा अध्येतुम् । आरमतेइत्यर्थः ।

संक्षिप्त भावार्थ—महीपालन क्षमेण नृपतिना युधिष्ठिर रेण अवश्यो जनः द्विरद इव शनैः शनैः सान्ववादैः वशीकरणीयः न तु स त्याज्या इति भावः ॥२५॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ श्लेषयुक्त उपमा अलंकार है । डॉ० ब्रह्मानन्द के अनुसार यहाँ श्रौती पूर्णोपमा है ।

टिप्पणी—

यहाँ भीमसेन का नाम ग्रहण टाल कर उसे मरुतसुत (वायुपुत्र) कहने का

---

१. 'उपचक्रमे' क्रमु (पाद विक्षेपे) धातु का लिट् लकार का प्रयोग है जो कर्तृवाच्य और भाववाच्य में एकसा ही होता है ।

तात्पर्य यह है कि वायु जिस प्रकार वात्या (आंधी) आदि रूपों में क्षण क्षण में अपने रूप बदलता है। 'पितुश्चरित्रं पुत्र एवानुकुरुते' इस नियम के अनुसार तत पुत्र वृकोदर होने से (वायु संसर्गजन्य गुण-दोषों से तत्काल प्रभावित होता है उसी प्रकार द्रौपदी सान्निध्य से) वह भी कुपित हो गया है। यह अभिव्यञ्जित करने हेतु मरुत सुतम् कहा गया है।

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिये—

'राम रामेति रामेति कुजन्तं मधुराक्षरम्।' रामा०

'यमस्विपामित्यवधारितं पुरा' ''' अमादमुं नारदइत्यबोधिस।

—माघ १।३

'अवैमि चैनामनघेति।'—रघु० १४।४० 'दिलीप इति राजेन्द्र।'

—रघु० १।१२

'ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति।'—माघ १।१३

'वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि।'—उत्तररा० १

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।'—मालवि० १।२

'इति प्रथमोद्धं' 'इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्याम्।'—किराता० ११।८०

'रामाभिधानो हरिरित्युवाच।'—रघु० ११।१

'गौरश्व पुरुषो हस्तीति जाति।'

'इति पाणिनि' 'इति मनु।'

+ + +

● राजा युधिष्ठिर भीमसेन को प्रथम स्तुति के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए कहते हैं—

प्रथम तावत्स्तुत्यादिभि प्रसादयति—

अपवर्जित विप्लवे शुचौ
हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां
मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥२६॥

· सुबोधिनी

अन्वय—अपवर्जित विप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे तव गिरां विस्तरे मति आदर्श इव विमला अभिदृश्यते ॥२६॥

शब्दार्थ—अपवर्जित-विप्लवे=युक्तिसम्मत । शुचौ=शब्द-सौष्ठव युक्त (दर्पण पक्ष में) लौहशुद्धियुक्त । (अतएव) हृदयग्राहिणि=मनोरम । माङ्गलास्पदे=हितकारी होने से मङ्गलजनक । (दर्पण पक्ष में) माङ्गलिक वस्तु होने से हितकर, शुभ; माङ्गल्य जनक । तवगिरां=तुम्हारी वाणी को । विस्तरे=विस्तर में, प्रपञ्च में । मतिः=बुद्धिः । आदर्शे=दर्पण की तरह । विमला=निर्मल, स्वच्छ । अभिदृश्यते=दिखलायी देती है ॥२६॥

हिन्दी अनुवाद—भीमसेन से युधिष्ठिर कहते हैं कि—जिस प्रकार निर्मल लौह आदि से विनिर्मित सुन्दर और माङ्गलिक दर्पण में प्रतिविम्ब सुस्पष्ट दिखाई देता है, तद्वत् पवित्र और निर्मल तुम्हारी वाणी में तुम्हारी निर्मल बुद्धि सुस्पष्ट दिखाई पड़ती है ॥२६॥

घण्टापथः—अपवर्जितेति ॥ विप्लवः प्रमाणवाधः । अन्यत्र वाह्यमलसंक्रमः । सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नपवर्जितविप्लवे । शुचौ । सौशब्द्यं लोह शुद्धिश्च शुचित्वम् । तद्वतीत्यर्थः । अतएव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे । एकत्र हितार्थ प्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गल वस्तुत्वच्च श्रेयस्करे । 'रोचन चन्दनं हेम मृदङ्ग दर्पणं मणिम् । गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः । इति पुराण-वचनात् । तव गिरां विस्तरे वाक् प्रपञ्चे । 'प्रथने वाव शब्दे' इति घञ् प्रतिषेधात् । ऋदोरप' इत्यप् । अतएव 'विस्तारो विग्रहो व्यासः सतु शब्दस्य विस्तरः ।' इत्यमरः । मतिस्त्वद् वुद्धिरादर्शे दर्पण इव । 'दर्पणे मुकरादर्शौ ।' इत्यमरः । विमला विशदाभिदृश्यते । वाग्वैशद्यादेवमति वैशद्यमनुमीयते । तत् पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः ॥२६॥

सरलार्थः—यथा माङ्गल्ये विमले दर्पणे प्रतिविम्बं सुस्पष्टं प्रतीयते तथैव तव युक्तियुक्तत्वात् हितकरे मनोरमे च सम्भाषणे सुन्दर शब्दमयत्वाच्च तव मतिरपि निर्मला दरीदृश्यते ।

यतः कोऽपि निर्मलबुद्धेरभावात् एवं निगदितुं न प्रभवति ।

सम्भाषणे वक्तुः निर्मलाबुद्धिः प्रतिफलति । भाषणं वक्तः बुद्धेः प्रतिविम्बं वर्तते । दर्पणे यथा द्रष्टुः प्रतिविम्बं निर्मल दर्पणत्वात् एवं सुस्पष्टं प्रतीयते तथैव वक्तः बुद्धेः प्रतिविम्ब निर्मलत्वादेव द्रष्टुं शक्यते ।

समासाः—अपवर्जित विप्लवे=अपवर्जितः (परित्यक्तः) विप्लवः (प्रमाण वाधः, मलसंक्रमश्च) यस्मिन् इति अपवर्जित विप्लवः । वहुव्रीहिः । तस्मिन् । विप्लवः=युक्तिशून्यमित्यर्थः । दर्पणपक्षेच—मलिनः ।

हृदयग्राहिणी=हृदयं गृह्णाति य स हृदयग्राही। (उपपद समास)। तस्मिन्। 'सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये' इत्यनेन णिनि प्रत्ययो जात।

हृदय=ग्रह्+णिनिप्रत्यय=हृदयग्राहिन्।

मङ्गलास्पदे=मङ्गलस्य आस्पदम् इति। ष० तत्पु०। तस्मिन्। विस्तरे तथा आदर्शे इत्युभयो विशेषणमिदम् ॥२६॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'विमला मति अभिदृश्यते।'—कर्मवा०

'विमला मतिम् अभिपश्यामि।'—कर्तृवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—अपवर्जित=अप—वर्जि+क्त (कर्मणि)। विप्लव=वि—प्लु+अप्। लट्—प्लवते। लिट्—पुप्लुवे। लुङ्—अप्लोष्ट। क्तान्तम्—प्लुत, प्लुता, प्लुतम्।

विमला=विगत मल यस्या सा। बहुव्रीहि। निर्मला इत्यर्थ।

गिर्=गॄ+क्विप। 'गिर्' इत्यस्य वाक्यइत्यर्थः।

मति=मन+क्तिन्। आदर्श=आङ्—दृश्=घञ् (अधिकरणे)। आ (सम्यक) दृश्यते अत्र इति आदर्श। आदर्श इत्यस्य दर्पण इत्यर्थ।

अभिदृश्यते=अभि—दृश्+कर्मणि लिट्—ते।

विस्तर=वि—स्तॄ+अप्। आसनार्थेव विष्टर। अन्यत्र विस्तर। वि—स्तॄ+घञ् विस्तार।

'विस्तारो विग्रहो व्यास सतु वाक्यस्य विस्तर।' इत्यमर

सक्षिप्त भावार्थ—हे भीमसेन तव वाग्वैशद्यात् एव तव निर्मलबुद्धिस्त्व मया अनुमीयते॥ निर्मलादर्शे एव यथा द्रष्टृ प्रतिविम्बं प्रतिफलति तथैव वक्तु निर्मला धी तस्य भाषणे प्रतिबिम्बमेति। त्वत्कृत भाषण नि॰ सशय तव बुद्धे: निर्मलत्व ज्ञापयति ॥२६॥

छन्द—वियोगिनी

अलङ्कार—श्लेषानुप्राणित उपमालङ्कार। बुद्धि का प्रतिबिम्ब सादृश्य यहाँ गम्य है।

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'... सकलहसगण शुचि मानसम्।

'... "सकलह सगण शुचिमानसम्॥'—किराता० ५।१३

'व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान् ।'—किराता० १८।२६
'प्रभवति शुचिर्विम्बोद्ग्राहे मणि नं मृदां चयः ।'—उत्तररा० २।४
'........कृत्वा प्रतिनिधि शुचिः ।'—रघु० १।८१
'मतिरेव बलाद् गरीयसी ।'—हितो० २।८६
'अल्प विषया मतिः ।' रघु० १।२
'मम तु मतिर्न मनाग पैतु धर्मात् ।'—मामि० ४।२६
'विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।'—मर्तृ० २।९१
'बहुमति मधिकां ययावशोकः ।'—किराता० १०।६
'सुविस्तरतरा वाचो माव्य भूता भवन्तु मे ।'—माघ २।२४
'अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।'—मुद्रा० १
'विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकाम विस्तारफलं हरिण्यः ।'—रघु० २।११

+ + +

● भीमसेन के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर अब दो पद्यों में करते हैं। युधिष्ठिर भीमसेन को प्रिय मधुर एवं आकर्षक वचनों (चाटूक्तियों के द्वारा) से वश में करने का प्रयत्न करते हैं।

● अथ युग्मेनाह[1]—

स्फुटता न पदैरपाकृता—
न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरा—
न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥२७॥

: सुबोधिनी :

अन्वय—पदैः स्फुटता न अपाकृता, अर्थगौरवं च न स्वीकृतम् इति न। गिरां पृथगर्थता रचिता। सामर्थ्य च क्वचित् न अपोहितम्। अन्वय में चार वाक्य हैं, चार क्रियापद हैं सबमें कर्ता 'पदैः' है।

---

१. 'द्वाभ्यां (श्लोकाभ्यां) 'युग्म' मिति प्रोक्तम् ।'
श्लोकार्थ जहाँ दो श्लोकों से मिलकर पूर्ण होता है। दो मे मिलकर पूरा एक वाक्य बने। दोनों का एक अन्वय हो।

शब्दार्थ—पदै=शब्दों के सुप तिङन्त रूपों ने। स्फुटता=सुस्पष्टता। न अपाकृता=दूर नहीं की। अर्थ गौरव=शब्दार्थ के गौरव को। न स्वीकृतम् इति न=स्वीकार नहीं किया हो ऐसा नहीं है अपितु सर्वदा सर्वत्र स्वीकार ही किया है। गिरा=वाणी को, अवान्तर वाक्या और पदों को। पृथगर्थता=भिन्नार्थता पुनरुक्ति दोष से रहित। रचिता=बनायी,। सामर्थ्यंच=और परस्पर पद सापदयता, शब्दशक्ति, अर्थ बोधन की क्षमता। क्वचित्=कहीं भी। न अपोहितम्=नहीं छोडा ॥२७॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! तुम्हारे भाषण में सभी वाक्य अत्यन्त सुस्पष्ट हैं। उनमें अर्थगाम्भीर्य भी प्रचुर मात्रा में है। कहीं पर भी पुनरुक्ति (पिष्ट पेषण) दोष श्रवणगोचर नहीं हुआ।

घण्टापथ—स्फुटतेति ॥ उपपत्तिरितिच ॥ पदै सुप्तिङन्त शब्दै स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता। अर्थगौरव अर्थभूयस्त्व च न न स्वीकृतम्। स्वीकृतमेवेत्यर्थ। वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिवर्तनार्थं नञ्द्वयम्। 'संभाव्यनिषेध निवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामन। गिरा पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता। अपुनरुक्तार्थतेति यावत् रचिताकृता। तथा क्वचिदपि। सामर्थ्यं गिरामन्योन्यसाकाङ्क्षत्व नापोहित न वर्जितम्। अन्यथा दशदाडिमादिशब्दवदेक-वाक्य ता न स्यात्। यथाहु—'अर्थैकत्वादिक वाक्य सापेक्ष चेद्विभागे स्यात्' इति नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथ षष्ठी समास। 'पूरण गुण—' इत्यादिना प्रतिषेधात्। नैष दोष। ये शुक्लादय शब्दा गुणे गुणिनि च वर्तन्ते। यथा पटस्य शौक्लय शक्ल पट इतिच तेषामेवात्र निषेधात् य पुन स्वतो गुणमात्र वचना यथा गौरव प्राधान्य रसो गन्ध स्पर्श इत्येवमादय तेषामनिषेधात्। तथा 'तत्स्थैश्च गुणै षष्ठी समस्यते इति वचनाद्बहुलमभियुक्त प्रयोगदर्शनाच्च। बलाकाया शौक्लय-मित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमास। अत एवाह वामन—'पत्र पीतिमादिषु गुणवचनसमासो वालिप्यात्' इति ॥२७॥

सरलार्थ—हे भीमसेन ! यत् त्वया उक्तम् अर्थवत्ता तत्र सर्वत्र अस्ति। वर्तमानेऽपि अर्थ वैशद्ये वाक्ये अर्थ गौरवमन्यत्र प्राय न दृश्यते। किन्तु त्वदुक्तिषु नाय दोष। त्वदुक्तिषु अर्थप्रकर्ष अनुभूयते। प्रदीर्घे भाषणे प्राय वदतो व्याघात पुनरुक्तता वा सम्भवत्येव किन्तु त्वया सावधानतया इमौ दोषद्वयौ निवारितौ। त्वदुक्तिषु सर्वत्र वाक्याना परस्पर साकाङ्क्षत वर्तते। वाक्यना साकाङ्क्षता

विरहा भावात् अर्थबोधनसौलभ्यं सञ्जातम् । वाक्यानां परस्पर (अन्योन्य) सम्बन्धेन तेषां साकांक्षता कुत्रापि न खण्डिता तेन भाषणस्य अर्थबोधन क्षमता वृद्धिगंता । अत्र तत्र वाक्चातुर्यं भाषाप्रमुत्वं व्यनक्ति । नात्र संशयः ॥२७॥

समासाः—अर्थगौरवम्=अर्थस्य गौरवम् इति (ष० तत्पु०) ।

पृथगर्थता=पृथक् अर्थः यासां ताः । पृथगर्थाः । बहुब्रीहि । तासां भावः इति पृथगर्थता । इति भावे तल् प्रत्ययः ॥२७॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

१. 'पदैः गिरां स्फुटता न अपाकृता ।'—कर्मवा०
   'पदानि गिरां स्फुटतां न अपाकृतवन्ति ।'—कर्तृवा०
२. 'पदैः गिराम् अर्थगौरवं च स्वीकृत न इति न ।'—कर्मवा०
   'पदानिगिराम् अर्थगौरवं च स्वीकृतवन्ति न इति न ।'—कर्तृवा०
३. 'पदैः गिरां[1] पृथगर्थता रचिता ।'—कर्मवा०
   'पदानि गिरां पृथगर्थतां रचितवन्ति ।'—कर्तृवा०
४. पदैः गिरां सामर्थ्यं न अपोहितम् इति न ।'—कर्मवा०
   'पदानि गिरां सामर्थ्यं न अपोहितवन्ति ।'—कर्तृवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—स्फुटता=स्फुट्+क (कर्तृवाच्ये)=स्फुट । स्फुट+तल् प्रत्ययः (भावार्थे)=स्फुटता । स्फुटानां भावः इति स्फुटता ।

अपाकृता=अप+आङ्-कृ+क्त (कर्मणि) । परित्यक्ता इत्यर्थः ।

शब्द का संस्कृत साहित्य में अन्यत्र प्रयोग देखिए—

'गिर वचस्यवसिते तस्मिन् ससर्ज गिरमात्म भूः ।'—शाकु० १

'भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।'—शाकु० १

'प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ।'—किराता० १।२५

माघ २।१५, याज्ञ० १।७१

---

१. गिराम् षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है ।
   मूल शब्द 'गिर्' है । स्त्रीलिंग, (गृ+क्विप्) प्रथमा एकव: गीः । अर्थ-भाषा भाषण, शब्द । इसी अर्थ का आकारान्त 'गिरा' शब्द भी है (गिर+क्विप+टाप्) इसके रूप रमा शब्दवत् होते हैं । भारवि प्रयुक्त शब्द 'गिर्' है गिरा नहीं ।

गौरव—गुरु+अण् (भावार्थ) । स्वीकृत=स्व-च्वि+कृ+क्त । अस्व स्व कृतमिति 'अभूततद्भावेच्वि ।' 'अस्यच्वौ' इत्यनेन अकारस्य ईकार सजात । 'ऊर्व्यादिच्विडाचश्च' इत्यनेन गति सज्ञा, ततश्च गतिसमास ।

सामर्थ्य—समर्थ+ष्यञ् । समर्थाना भाव इति सामर्थ्यम् ।

सामर्थ्य इत्यस्यशब्दस्य एकता, बलञ्च अर्थौ स्त ।

अपोहित=अप—ऊह+क्त । (कर्मणि) लट्—ऊह्यते । लिट्=ऊहाञ्चक्रे लुङ्=औहिष्ट । उपसर्गपूर्वक ऊह धातु उभयपदी वर्तते । यथा—समूहति—समूहते ॥२७॥

सक्षिप्त भावार्थ—राजा युधिष्ठिर क्रुद्ध भीमसेन सौम्य शब्दै वशीकर्तुं प्रयतते । हे भीमसेन ! त्वया एतावत्कालपर्यन्त यदुक्त तत् सर्व सुस्पष्ट वर्तते, सर्वत्र अर्थस्फुटता अस्ति । घटे सागर इव सर्वत्र अर्थगौरवोदपि दरीदृश्यते । क्वचिदपि मनोद्वेग कारिण्यापुनरुक्ता पिष्टपेषण न कृतम् तथैव सर्वत्र वाक्येषु सापेक्षता वर्तते न कुत्रापि वदतोव्याघात श्रवणगोचरतागत । न च अर्थ बोधन क्षमा शब्द शक्ति क्वचिदपि न्यूनता गता विलुप्ता वा । सक्षेपेन समग्र तव भाषण सुन्दर निर्दिष्टञ्च वर्तते ।

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—एक कारक का अनेक क्रियाओ से अन्वय दीपकालङ्कार है ।

टिप्पणी—

- वाक्य म एकाधिक निषेधार्थक 'न' होने पर उसका अर्थ निषेध न होकर स्वीकार होता है । (यही प्रक्रिया अन्य भाषाओ मे भी स्पष्ट है) यहाँ 'पदै गिराम् अर्थ गौरव स्वीकृत न इति न' इस वाक्य मे 'न' दो बार प्रयुक्त हुआ है, अत उसका अर्थ पदो के द्वारा वाणीका गौरव स्वीकार नहीं किया गया ऐसा नही अपितु स्वीकार किया गया है । केवल एक 'न' का प्रयोग होने पर उसका निषेध परक ही अर्थ होता है । जैसाकि मनुस्मृति मे मांस भक्षण मद्यपान आदि का निषेध करते हुए 'न मास भक्षणे दोष न च मद्ये, इस मनु वचन का अर्थ मास भक्षण और मद्यपान करने मे दोष बताकर निषेध करने मे ही है क्योकि इसमे भी एकाधिक 'न' कार का प्रयोग हुआ है ।

  मनुवचन का अर्थ मास भक्षण मे और मद्य पीने मे दोष नहीं है ऐसा करना भूल है । अन्यथा अर्थ की सगति नही होगी ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिए—

'सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् ।'—रघु० ३।११

'स्व विक्रमेगौरवामादधानम् ।'—रघु० १४।१८, १७।३६

'कार्यगौरवेण'—मुद्रा० ५

'तथापि यन्मचयापि ते गुरुरित्यस्ति गौरवम् ।'—माघ० २।७१

'प्रयोजनापेक्षितयो प्रभूणाप्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ।'—कुमा० ३।१,

—अमरु० १०

'कोऽर्थी गतो गौरवम् ।'—पंच० १।१४६

'माता गौरवेणाति रिच्यते ।'—मनु० २।१४५

'यच्चार्यंतो गौरवम् ।'—मा० लीला० १।७

+ + +

राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहता है—

युधिष्ठिर : भीमसेनं प्रति कथयति—

उपपत्तिरुदाहृता बलात्
अनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः
प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२८॥

:: सुबोधिनी :

अन्वयः—बलात् उपपत्तिः उदाहृता, अनुमानेन आगमः न क्षतः च । अनीदृगाशयः कः इदृक् इदं प्रसभं वक्तुम् उपक्रमेत ।

शब्दार्थः—बलात्=अपनी शक्ति से । उपपत्तिः=युक्ति, तर्क । उदाहृता=प्रस्तुत किये हैं । अनुमानेन=अनुमान से तर्कादि के द्वारा । आगमः=शास्त्र । न=नहीं । क्षतः=खण्डित (किया) हुआ । च=और । अनीदृगाशयः=ऐसा अभिप्राय । कः=कौन (सा मनुष्य) । इदृक्=ऐसा । इदं=यह । प्रसभं=हठपूर्वक । वक्तु=बोलने के लिये । उपक्रमेत=आरम्भ करेगा, तत्परता दिखावेगा ?

हिन्दी अनुवाद—(राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहता है) हे भीमसेन ! तुमने अपनी शक्ति के अनुरूप ही सशक्त तर्क अपने भाषण में प्रस्तुत किये हैं ।

उपस्थित किये गये तर्कों के द्वारा शास्त्रमत का खण्डन भी नहीं हुआ। अतः वे तर्क शास्त्र के अविरोधी है। अतः तुम्हारा कथन शास्त्र सम्मत ही है। तुम्हारे भाषण को क्षत्रियोचित न कहने का सामर्थ्य कौन रखता है ? कोई भी इसे क्षात्रधर्म विरुद्ध नहीं कह सकता है ॥२८॥

घण्टापथ —उपपत्तिरिति ॥ किञ्च बलाब्दलमाश्रित्य। कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या। उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता। परं रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः। उचित चैतन्महावीरस्येति भावः। तथानुमानेन युक्त्यागम शास्त्र च न क्षतो न हतः किन्त्वागमाविरुद्ध मेवोक्तम्। अन्यथा तद्विरोधादनुमानस्यैव प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादिति भावः। ईदृगित्थं क्षात्रयुक्तिमिदं वचनमविद्यमान ईदृगाशय इत्थं क्षात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः। 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः क प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत। न कोऽपीत्यर्थः इत्थं वक्तुमुपक्रमितैव नास्ति। वक्तातु दूरापास्त एवेति भावः केचिदतच्छ्लोकद्वयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति। तदसत् हितोपदेशमात्रतत्परस्यातिवत्सलस्य राज्ञो मत्सरिण इव म्रु भी क्रमरि विधेय सर्वानर्थमूलभूतनिन्दातात्पर्य कल्पना नौचित्यादिति ॥२ ॥

सरलार्थ—हे भीमसेन ! त्वया—क्षात्रधर्म मनुसृत्य अभियाय युद्धमेव श्रेयस्करमिति पक्षमाश्रित्य विविधाभिः युक्तिभिः तर्कैः सुष्ठु प्रतिपादितः स्वाशयः। शास्त्रमतमपि न विलङ्घितन्त्वया। यदुक्तं तत् सर्वं शास्त्र सम्मतमिति मन्ये।

त्वद्दते कोन्य एवं वक्तु पारयति ? एवं शास्त्रसम्मत तर्क-युक्ति समन्वित भाषण कर्तुं न कोऽपिप्रभवेदित्यर्थः। एतादृशे भाषणे तव अद्वितीयता सुनिश्चिता विद्यते ॥२८॥

समास—अनीदृगाशयः =इदृगाशयः यस्य स ईदृगाशयः। न ईदृक् आशयः यस्य स इति अनीदृगाशयः। नञ् समास।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'उपपत्ति उदाहृता (त्वया)।' कर्मवा०

'उपपत्तिम् उदाहृतवान् (त्वम्)।' कर्तृवा०

'अनुमानेन आगम न क्षत।' (त्वया) कर्मवा०

'अनुमानेन न आगमं क्षतवान्।' (त्वम्) कर्तृवा०

'अनीदृगाशय क उपक्रमेत।' कर्तृ० वा०

'अनीदृगाशयेन केन उपक्रम्येत।' कर्म० वा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—उपपत्ति=उप—पद्+क्तिन्। उपपत्ति इत्यस्य युक्ति इत्यर्थः।

उदाहृत=उत्=आङ्-हृ+क्त। उदाहृता=कथिता। लट्—हरति-हरते। लिट्—जहार, जह्रे। लुङ्—अहार्षीत्-अहृत। क्त—हृतः, हृता, हृतम्।

बलात्=बलम् आश्रित्य इति ल्यबलोपे पंचमी विभक्तिः।

अनुमान=अनु—मा+ल्युट्। आगम=आङ्—गम्+अप्। आगम=शास्त्र। क्षत्=क्षण+क्त। लट्—क्षिणोति क्षेणोति। लिट—चक्षेण। लुङ्—अक्षेणीत्।

आत्मनेपदे—लट्—क्षिणुते-क्षेणुते। लिट्—चिक्षिणे। लुङ्—अक्षित—अक्षेणिष्ट। कर्मणि—क्षिण्यते।

णिचि—क्षेणयति। कृत्सु—क्षेणितव्यम्। क्षेणनीयम्। क्षेण्यम्। क्षितः। क्षिण्वन्—क्षेण्वन्। क्षिण्वती-क्षण्वती। क्षिण्वानः—क्षेण्यवानः क्षेणितुम्। क्षेणनम्। क्षिणित्वा—क्षेणित्वा। प्रक्षित्य—प्रक्षिण्य। क्षितिः। क्षिणु धातुः=हिंसायाम्। ८ ग०। सकर्म०। सेट्। उ० प०।

ईदृक=इदम्—दृश्+क्तिन् (अन्यमतेन क्विप्)। इदम् इव दृश्यते इति ईदृक्।

आशय=आङ्—शी+अच्। शीङ (शी) धातुः=स्वप्ने। अकर्म०। सेट्। आ० प०। ईकारान्तः। लट्—शेते[1]। लिट्—शिश्ये। लुङ्—अशयिष्ट। भावे—शय्यते। लुङ्—अशायि। णिचि—शाययति[2]। क्तान्तम्—शयितः, शयिता, शयितम्। शानच्—शयानः।

उपक्रमेत=उपक्रम्+विधिलिङ्—ईत। 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यनेन आत्मनेपदम्। अस्मिन् स्थले शक्यर्थे विधिलिङ्। उपक्रमितुं शक्नुयात् इत्यर्थः।

वक्तुम्=वच्+तुमुन्प्रत्ययः। 'शक धृष०।' इत्यनेन तुमुन् प्रत्ययो-जातः।

प्रसभम्=अव्ययमेतत्। अत्र क्रिया विशेषणत्वात् द्वितीयैकवचनं भाव्यम्। उपक्रमेदित्यस्य विशेषणमिदम् ॥२८॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—यहाँ अर्थापत्ति नामक अलंकार है।

---

१. 'शीङः सार्वधातु के गुणः।'
२. 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृका' दिति परस्मैपदम्।

संक्षिप्त भावार्थ—हे भीमसेन ! क्षात्र धर्मे विपरीता इयं त्वदुक्तिरिति क कथयितुं शक्नुयात् ? न काऽपि इत्यर्थः ।

त्वयास्वाभिप्रायपुष्ट्यर्थं ये तर्का प्रस्तुता निःसंशयं ते शास्त्रसम्मता एव । याभिः युक्तिभिश्च त्वया क्षत्रियोचितं कर्म कर्तुं प्रेरितोऽहम अप्रतिहता स्ता । नास्त्यत्र संशयलवलेश ।

नकोऽपि एवं वक्तुं प्रभवदिति ।।२८।।

● टिप्पणी—

यह श्लोक निन्दा परक नहीं समझना चाहिए । युधिष्ठिर जैसे सरल हृदय एवं मातृवत्सल व्यक्ति का अभिप्राय अन्यथा नहीं हो सकता ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'भवेद् भीष्मद्रोणधृतराष्ट्र बल कथम् ।'—वेणी सं० ३।२४,४३, रघु, १६।३७, गीता० १।१०

'बलान्निद्रा समायाता ।'—पचत० १

'समय एव करोति बलाबलम् ।'—माघ ६।४४

उपपत्तिमदूर्जित वचः ।'—किराता० ८।१

'स्वार्थोपपत्ति प्रति दुर्बलाश ।'—रघु० ५।१२

'तात्पर्यानुपपत्तितः ।'—भाषापरिच्छेद

'असंशयं प्राक् तनयोपपत्ते ।'—रघु० १४।७८,

'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।'—गीता २।६०

'स्यात्साहसत्वन्वयवत प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।'—मनु० ८।३३२

+ + +

यदि ठीक कहा है तो वैसा ही करो' इस आशङ्का का समाधान करते हुए भीमसेन के प्रति युधिष्ठिर कहते हैं कि—

यदि साधूक्त तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथापि मे—
हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितु क्षमा सुख—
न विधेयेषु विशेष सम्पद ।।२९।।

: सुबोधिनी :

अन्वय—तथापि अवितृप्ततया मे हृदयं निर्णयम् एव धावति। विधेयेषु विशेषसम्पदः सुखं अवसाययितुं न क्षमाः।

शब्दार्थः—तथापि=फिर भी। अवितृप्ततया=संशययुक्त होने से, असन्तुष्ट होने से। मे हृदयं=मेरा हृदय। निर्णयम् एव=निर्णय की ओर ही, संशय निरसनकारी सिद्धान्त पक्ष की ओर ही।

धावति=दौड़ता है, अनुसरण करता है।

विधेयेषु=सन्धि-विग्रहादि कार्यों में।

विशेष सम्पदः=समृद्धि बाहुल्य।

सुखम्=अनायास, विना कष्ट के।

अवसाययितुम्=अपने स्वरूप का बोध कराने हेतु। न क्षमाः=समर्थ नहीं हैं।

हिन्दी अनुवाद—यद्यपि आपने जो कहा वह युक्ति सङ्गत है तथापि मेरा चित्त सन्तुष्ट नहीं हो रहा है, और वह कर्तव्य निर्णय की ओर ही दौड़ रहा है, क्योंकि विशेष संपत्तियाँ सन्धि-विग्रहादि कर्तव्य कार्यों में सहजरीत्या अपने स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ हैं।

घण्टापथः—अवितृप्ततयेति॥ तथापि त्वया सम्यङ्निर्णीयेऽपि मे हृदयमवितृप्तयासतुष्टतया। अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः। निर्णयमेव धावत्यनुसरति। अपेक्षत इति यावत्। अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः। निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति। विधेयेषु संधिविग्रहादिकर्तव्यार्थेषु या विशेषसंपदोऽवान्तरभेदभूमानस्ताः सुखमक्लेशेनावसाययितुम्। पुरुषान्प्रत्यानुकूल्येन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः। स्यतेर्ण्यन्तादणि कर्मकर्तृकात्तुमुन्। णेरणाविति सूत्रस्यायं विषयः। क्षमन्त इति क्षमाः। पचाद्यच्। शक्ता न भवन्ति। 'क्षमंशक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। विधेयमात्रस्य सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्बाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्यार्थः। अत्र निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः। तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थतत्वे काव्य लिङ्गमुदाहृतम्' इति॥२९॥

सरलार्थः—यद्यपि त्वया विविधैः तर्क-युक्ति समन्वितैः वाक्यैः कर्तव्यार्थः सुचारुतया प्रतिपादितः तथापि तेन मे हृदयं संशय निवृत्तं न जातम्। प्रतिक्षणं

मे मनसि युद्धे जय भवेन्नवा इत्येषा शङ्का वर्तते । अस्या चिन्ताया अपनोद-नाभावात् अतृप्त मे मन शङ्कानिरास पूर्वक सिद्धान्त निर्णय मेव अपेक्षते ।

सन्धि-विग्रहादि कार्याणि अनायासेन ज्ञातु शक्यन्ते किन्तु देशकालपात्रादि भेदे न तेषा विपुला अवान्तर कार्य भेदा अपि सन्त्येव ।

अतिसूक्ष्मत्वात्, बहुभेदत्वाच्च ते दुर्ज्ञेया । इदानीमपि तदवान्तरकार्याणा याथातथ्येन स्वरूप बोधना भावात् सिद्धान्तज्ञान सर्वथा दु शक सजातम् । सिद्धान्तज्ञानाभावेन मे हृदय व्याकुलम् ॥२६॥

समासा —अवितृप्ततया—न वितृप्तता इति । अवितृप्तता । नञ् समास । तया । अत्र हेत्वर्थे तृतीया । विकल्पेन पञ्चम्यपि भवति ।

विशेष सपद—विशेषाणाम् (अवान्तर सूक्ष्मकार्याणाम्) सम्पद (समृद्धय) बाहुल्यानीत्यर्थ । इति विशेष सम्पद । ष० तत्पु० । 'भवन्ति' इति उक्तक्रि-याया कर्तृकारकम् ।

वाच्य-परिवर्तनम्—

'हृदय निर्णयमेव धावति ।'—कर्तृवा०

'हृदयेन निर्णय एव धाव्यते ।'—कर्मवा०

'विशेष-सपद क्षमा न (भवन्ति)—कर्तृवा०

'विशेष सपद्भि क्षमाभि न (भूयते)—भाववा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

वितृप्त—वि—तृप्+क्त । वितृप्त+तल् (भावार्थ)=वितृप्तता । वि इत्युपसर्गस्य विशिष्ट इत्यर्थ । लट्—तृप्यति । लिट्—ततर्प । लुङ्—अतार्प्सीत् अत्राप्सीत, अतृपत्, अतर्पीत ।

निर्णय=निर्—नी+अच् । 'उपसर्गादसमासेपिऽणोपदेशस्य' अनेन णत्वम् ।

धावति=धाव्+लट्—ति । लिट्—दधाव । लुङ्—अधावीत्, धावित । क्षम —क्षम्+अच् (कर्तरि) । स्त्रिया प्रथमाया एक वचने क्षमा ।

सुखम्=इत्यत्र क्रिया विशेषणे द्वितीया । अवसाययितुम् इत्यस्या क्रियाया विशेषणमिदम् ।

विधेय=वि—धा+यत् (कर्मणि) । विधेयेषु इत्यत्र 'विषयाधिकरणे' सप्तमी विभक्ति ।

विशेष=वि—शिष्+घञ् । (विगत: शेषो यस्मात् स: । प्रा० ब०)

सम्पद्=सम्—पद्+क्विप् ।

अवसाययितुम्=अव—सो+णिच्+तुमुन् ।

संक्षिप्त भावार्थ—भीमसेन ! यद्यपि त्वया द्रौपदीमापणस्याशय: सम्यक् प्रतिपादित: तथापि मच्चित्तमद्यावधि सन्तुष्टं नास्ति । कार्याकार्य विषये कमपि निर्णयमन्वेषयति ।

अवसरप्राप्तं समयोचितञ्च क्रमेणद् विषये विचारयामि । यत: हि राजकर्तव्यविशयेषु सन्धि-विग्रहादिषु प्रमुखभूता: समृद्धय: आत्मस्वरूपं सुगमयारीत्या स्पष्टीकर्तुं सर्वथा अक्षमा: सन्ति ॥२६॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग ।

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभि:
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीयं,
भूयिष्ठमन्यमन्यविषया न तु दृष्टिरस्या: ॥'

—शाकुन्त० १।३१

'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस: ।'—गीता० १।३७, माघ, १६।८२

'प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितंतथापीदं न लक्षये ।'—शाकुन्त० ५

'वदं महत्या म्रियते पिपासया तथापि नान्यस्य करोत्युपासनाम् ।'

—चातकाष्टक २।६

'वपु: प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत् ।'—रघु० ३।२४

'तथापि शस्त्रव्यवहार निष्ठुरे० ।'—रघु० ३।६२

'हृदये दिग्धशरैरिवाहत: ।'—कुमार सं० ४।२५ 'अयोहृदय:'—रघु० ६।६

'वाणभिन्न हृदया निपेतुषी० ।'—११।१६

'सन्देह निर्णयो जात: ।'—शाकु० १।२७

'........दण्डपारुष्यनिर्णय: ।........विधि दण्ड विनिर्णये ।'

—मनु० ८।३०१, ४०६, ६।२५०, याज्ञ० २।१०

'सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाऽभ्युपगमादोपाय ।'—मालती० १

+ + +

विचारोत्तर कार्य करने के लाभ तथा अविवेक से किये जाने वाले कार्यों से होने वाली हानि को धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेन को बतलाते हुए कहते हैं कि—

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियाम्—
अविवेक परमापदा पदम् ।
वृणते[1] हि विमृश्य[2] कारिण
गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पदः ।।३०।।

सुबोधिनी :

अन्वय—क्रिया सहसा न विदधीत, अविवेक आपदा पर पदम् । गुणलुब्धा सम्पद स्वयम एव विमृश्य कारिण वृणुतेहि ।

शब्दार्थ—क्रिया=कार्य । सहसा=एकाएक, बिना विचार किये । न=नहीं । विदधीत=करे । अविवेक =अविचार । आपदा=विपत्तिका । पर=श्रेष्ठ । पद=स्थान । (अस्ति=है) गुणलुब्धा =गुणो पर मुग्ध, सद्गुणो मे रममाण । सम्पद =धन-धान्य—गृहक्षेत्रादिस्थावरजगम सम्पत्ति । स्वयमेव= स्वय ही । विमृश्यकारिण=सोच-समझ कर कार्य करने वाले को । वृणते= वरण करती है ।।३०।।

हिन्दी अनुवाद—बिना सोचे-समझे कोई कार्य नही करना चाहिये । अविवेक (कार्याकार्य विचार शून्यता) अनेक आपत्तियो का कारण होता है । निश्चित रूप से सर्वविध सम्पत्तियाँ गुणवान् विवेकी पुरुष का स्वय ही वरण करती हैं । अर्थात् यदि कोई बलात् राज्यादि सम्पत्ति अपने वश मे कर लेता है तो सम्पत्ति

---

१ पूर्वग्वालियर राज्य सभा प्रधान पण्डिताना महामहोपाध्याय सदाशिव शास्त्रिमुसलगावकर महोदयाना स्वकीय ग्रन्थ सग्रहालयस्य ग्रन्थे वृणुते इति पाठ ।

२ 'विमृश्यकारिणम्' इत्यत्र तालव्यशकारान्तमृशधातो पाठोऽपि दृश्यते ।

स्वयं उसका परित्याग कर देती है। सोच-समझकर कार्य करने वाले पुरुष को ही सम्पत्ति अपना स्वामी बनाना पसन्द करती है। अन्य (अविमृश्यकारी) को नहीं चाहती है।

घण्टापथ—सहसेति ॥ क्रियत इति क्रियां कार्यं सहसा। अविमृश्येत्यर्थः। 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयो इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम्। न विदधीत न कुर्वीतकुतः। अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमत्यन्तमापदां पदं स्थानम्। कारणमित्यर्थः। व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति गुणलुब्धा गुणगृघ्नव इति स्वयंवरहेतूक्तिः। सम्पदः श्रियः। विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी। 'उपपदमतिङ्' इति समासः। तं स्वयमेव वृणते भजन्तेहि। 'वृङ् संभक्तौ' इति धातुः। तस्मद्विमृश्यैव प्रवर्तितव्यमित्यर्थ। अत्र सहसा विधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्याम द्रुपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्वै धर्म्येणार्थान्तरन्यासः। द्वितीयार्थेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम्॥३०॥

सरलार्थ—पूर्वापरम् अनालोच्य किमपि कार्यं सहसा न करणीयम्। अविविच्य कार्यं करणेन महती विपत् पदे-पदे (अनुपदं) सम्भवेत्। यश्च पूर्वापरं सम्यक् समालोच्य कार्यं कुर्यात् सम्पदः तस्य गुणाकृष्टाः स्वयम् एव आगत्य तम् शस्त्रपतो तस्य आश्रयमभिलपन्ति वा यतः श्रीः गुणानुरक्ता अस्ति। श्रिया स्वयमेव सः विमृश्यकारी अन्विश्यते। नतु विमृष्य कारिणा सम्पदः अन्विष्यन्ते।

सन्धिविग्रहादिकार्याणां सम्यक् ज्ञानेनैव विधेयकार्येषु प्रवर्तितव्यम्। कार्याकार्य विवेकाभावे सन्धि विग्रहादिकार्येषु कदापि न प्रवर्तितव्यम्। यतः विशेषज्ञानेन विना कार्याकार्य विवेकः न सम्पत्स्यते। विवेकिषु श्रीः स्निह्यति। अविवेकिनञ्च परित्यजति॥३०॥

समासा—अविवेकः=न विवेकः इति अविवेकः। नञ् समासः। 'भवति' इति उद्यमान क्रियापदस्य कर्तृ पदमेतद् अतः अत्र प्रथमा।

गुणलुब्धा=गुणेषु लुब्धाः इति गुणलुब्धाः। सप्तमीतत्पु०।

विमृष्य कारिणम्=विमृष्य करोति यः सः विमृष्यकारी उपपदसमासः। तम्।॥३०॥

वाच्य परिवर्तनम्:—

१. 'सहसा क्रियां न विदधीत्।'—कर्तृ वा०

२. 'अविवेकः परम् आपदांपदं (भवति)।—कर्तृ वा०

२ 'गुणलुब्धा सम्पद स्वयमेव विमृष्यकारिण वृणते ।'—कर्तृवा०
१ 'सहसा क्रिया न विधीयेत ।'—कर्मवा०
२ अविवेकेन परेण आपदा पदेन (भूयते) ।'—भाववा०
३ 'गुणलुब्धाभि सम्पद्भि स्वयमेव विमृष्यकारी व्रियते ।'—कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

विमृष्य=वि-मृष्+ल्यप्=विमृष्य । विमृष्य—कृ+णिनिप्रत्यय = विमृष्यकारिन् ।

क्रिया=कृ+श । विवेक=वि-विच्+घञ् । आपद्=आङ्पद+क्विप । लुब्ध=लुभ्=क्त । लुभ् धातु गार्ध्ये । गार्ध्यम्—आकाङ्क्षा । ४ ग० सकर्मक । सेट् । प० प० । पुपादि ।

लट—लुभति, लुभ्यति, लोभति । लिट्—लुलोभ ।

लुङ्—अलोभीत्, अलुभत । क्तप्रत्यान्तम्—लुब्ध । लुब्धा, लब्धम् ॥

स्वयम्=अव्ययम् । प्रकृत्यादित्वात तृतीया ।

वृणते=वृ+लट्—अन्ते । भजन्ते इत्यर्थ । वृञ् धातु (वृ) वरणे । ' ग० । सकर्मक । सेट् । उ० प० । लट्—वृणोति, वृणुते । लिट्—ववार वव्रे लुङ्—अवारीत्, अवृत । कर्मणि—व्रियते । णिचि—वारयति, वारयते ।

विदधीत्=वि—धा+विधिलिङ्—ईत । 'विध्यर्थेलिङ्' सहसा—इ अव्ययम् । विदधीत इति क्रियापदस्य विशेषण मिति कृत्वा द्वितीया ॥३०॥

संक्षिप्त भावार्थ—विमृष्य एव कार्ये प्रवर्तितव्यम् । अविमृष्य कारिण सम्पद परित्यजन्ति । गुणानुरागिण्याश्रिवा विमृष्य कारी (विवेकी पुरुष) स्वयमे व्रियते । विवेकी पुरुष सम्पद न अन्विष्यते प्रत्युत स—विवेकी पुरुष राजश्रिय मृग्यते ॥३०॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—म० म० मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विमृष्यकारित्व रू कारण का आपद् रूप व्यतिरेक कार्य के द्वारा समर्थित होने से वैधर्म्य प्रतिपादि अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार है तथा द्वितायार्ध म साधर्म्य के द्वारा समर्थि होने से भी अर्थान्तर न्यास है ।

अलङ्कारतत्व मीमासक डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगावकर महोदय—'गुणलुब्धा स्वयमेव विमृष्य कारिण वृणुते' इत्यनेन अप्रस्तुतायाः स्वयंवरायाः कामिन्या प्रतीते समासोक्तिर्व्यङ्ग्या' मानते हैं ।

टिप्पणी—तर्कशास्त्र में अन्वय व्यतिरेक के द्वारा पुष्ट तर्क की प्रतिष्ठा है। महाकवि भारवि युधिष्ठिर के मुख से अब भीमसेन के द्वारा प्रस्तुत तर्कों का खण्डन करते हुए तर्कशास्त्रोक्त अन्वय व्यतिरेक की कसौटी पर अपने तर्कों को खरा सिद्ध करते हैं।

अन्वय और व्यतिरेक की सुबोध परिभाषा इस प्रकार है—'तत् सत्वे तत् सत्ता—अन्वयः।' 'तद् असत्वे तद् असत्ता—व्यतिरेकः।'

यहाँ विवेक के अभाव में परमापत् प्राप्ति है। वही संपत्ति की असत्ता (अभाव) है। यही व्यतिरेक का स्वरूप है।

इस पद्य में पूर्वार्ध में वर्णित अर्थ को ही उत्तरार्ध में अन्वय के माध्यम से कहा गया है जैसे—

विमृष्यकारित्वम्=विवेकः तत् सत्वे सम्पदः सत्ता इत्यन्वयः। विमृष्य कारित्वम् का अर्थ विवेक है अर्थात् विवेक (आगा पीछा खूब सोच समझकर कार्य करने की प्रवृत्ति) की सत्ता (अस्तित्व) होने पर सम्पत्ति की सत्ता होती है।' यही अन्वय है।

तर्कशास्त्र में अन्वयव्याप्ति का उदाहरण—

"यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः अस्ति।" व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण—

'यत्र यत्र धूमः नास्ति तत्र तत्र अग्निः अपि नास्ति।'

इसके अनुसार कह सकते हैं कि—'यत्र यत्र विमृष्यकारिता अस्ति तत्र तत्र सम्पत्तिः अस्ति।' इत्यन्वयः।

'यत्र यत्र च सम्पत्तिः नास्ति तत्र तत्र विवेकः (विमृष्यकारिता) अपि नास्ति।' इति व्यतिरेकः।

इस पद्य के कारण भारवि को सवालाख सुवर्ण मुद्रा की प्राप्ति हुई थी ऐसी जनश्रुति है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'प्रयुक्तं हि प्रणायिषु सतामीप्सितार्थं क्रियैव।'—मेघ० ११४

'प्राणयिक्रिया'—विक्रमाङ्क० ४।१५ 'अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह—कर्हिचित्।—मनु० २।४ 'क्रियाहि वस्तूपहिता प्रसीदति।'—रघु० ३।२६

'शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था०।'—मालवि० १।१६

'कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।'—मालवि० १

'क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात् कृता ।'—किराता० १।४४
'मातङ्ग नक्रैः सहसोत्पतद्भि ।'—रघु० १३।११
'वर्णाः पदं प्रयोगार्हान् अन्वितैकार्थबोधकाः ।'—सा० द० ६
'अक्षमालामदत्वापदात पदमपि न गन्तव्यम् ।'—काद०
'शिखरिषु पदं न्यस्य'—मेघ० १३ 'अपथे पदमर्पयन्तिह ।'—रघु०
'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ।'—रघु० ३।६२
'जनपदे न गदः पदमादधौ ।'—रघु० ६।४
'यदवधि न पदं दधाति चित्त ।'—भामि० २।१४
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे ।'—कुमा० २।६४

\+ \+ \+ \+

क्या साहसिक को फल सिद्धि प्राप्त होती हुई दिखायी नहीं देती ? तो विवेक की क्या आवश्यकता है ? इस आशंका का समाधान करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं—

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्य एव । तत् किं विवेकेन इत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन—
विधि-बीजानि विवेक-वारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रिया—
शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥३१॥

:सुबोधिनी

अन्वय—यः विवेक वारिणा विधि बीजानि अनुपालयन अभिवर्षति, सः लोकः सदा फलशालिनीं क्रियां शरदम् इव अधितिष्ठति ॥३१॥

शब्दार्थ—यः=जो। विवेक-वारिणा=विवेकरूप जल से। विधिबीजानि=विधिरूप बीजों को, विधि=कर्तव्य, कार्य को ही बीजतुल्य समझकर। अनुपालयन्=संरक्षण करता हुआ। अभिवर्षति=सींचता है। सः=वह पुरुष। लोकः=जन। सदा=सर्वदा। फलशालिनीं=साफल्य से सुशोभित होने वाली। क्रियां=साधन निष्पाद्य एवं अर्थ सम्पन्न कृति को। शरदम=शरद् काल। इव=सदृश। अधितिष्ठति=लाभान्वित होता है ॥३१॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! जो नीतिमान् पुरुष स्व कर्तव्य रूप कार्य

विषयों को बीजतुल्य संरक्षणीय समझकर उचित देश काल का विचार करने के पश्चात् उचित समय में और उचित स्थान में बोकर विवेक रूप जल से उनको सींचता रहता है वह पुरुष ही शरदकाल संप्राप्त होने पर फल से सुशोभित सस्य संपत्ति को प्राप्त करता है। अन्य जन नहीं ॥३१॥

साहसिक को होने वाली कार्यसिद्धि 'काकतालीयन्याय' से यदा-कदा ही होती है किन्तु विवेकी पुरुष को होने वाली कार्य-सिद्धि सुनिश्चित ही होती है।

घण्टापथ:—अभीति य: पुमान्। विधिमन्त इति विधय: कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमितसमास:। शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमानुसारात्। तानि **विधिबीजानि**। विवेको वारीव तेन **विवेकवारिणा**। पूर्ववत्समास:। **अनुपालयन्**प्रतीक्षमाण: संरक्षन्न**भिवर्षति** सिञ्चति। सपुमान्। फलं साधननिष्पद्योऽर्थ:, सस्यं च। 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्युभयत्राप्यमर:। **तच्छालिनीं** क्रियां कर्म **लोको**जन:। 'लोकस्तु भुवनेजने' इत्यमर:। शरदमिव **सदा** नित्यमधितिष्ठति। सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव। न कदाचिद्व्यभिचरतीत्यर्थ.। साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिर्वैकिनस्तु नियतेति भाव:। अत्र फल शब्देन ससहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृहिता चोपमेत्यनुसंधेहम् ॥३१॥

सरलार्थ:—हे भीमसेन ! यथा कृषक: समयस्य औचित्यं प्रतीक्ष्यैव क्षेत्रे बीजानि वप्तुं प्रवर्तते। ततो प्रचण्डरश्मे: प्रखरतापेन तानि उप्तानि बीजानि रक्षितुं वारिणाभिसिञ्चति तत्रापि वारिदाने विवेकं प्रयुञ्जति। मृद्जल संयोगात् उप्तानि बीजानि काले अङ्कुरन्ति, काले अङ्कुराश्च प्रवर्धन्ते। प्रवर्धमानाश्च सस्याङ्कुरा: काले फलन्ति। सफलानि शस्यानि काले परिपक्वतां यन्ति। तत: शरदि सकृषीवल: शस्य सम्पत्ति सम्प्राप्य मोदते। तथैव योनितिज्ञ: पुरुष: सन्धि विग्रहादि कार्यजातम् उचिते समये संपादयति देशकालपात्र विवेकमनुसृत्यैव यो नीतिमान् पुमान् विधिवद् संधि विग्रहादि कर्म अनुतिष्ठति स एव कृतकर्मण: सुफलं प्राप्य मोदते नान्य:।

अविवेकशीलस्य साहसिकस्य फलसिद्धि प्रति नास्ति विश्वास: इति मनसि सम्यक् विचार्य कर्तव्य कर्म निश्चेतव्यमनुष्ठातव्यमिति मे मति: ॥३१॥

समास:—विधिबीजानि=विधय: (कार्याणि) बीजानिइव (उपमित समास:) तानि। अत्र कर्मणिद्वितीयाविभक्ति:। 'अभिवर्षति' इत्यस्या: क्रियाया: इदं कर्म इत्यवधेयम्।

विवेकवारिणा=विवेक वारि इव इति विवेकवारि। (उपमितसमास)। तेन-विवेकवारिणा। अत्र करणे तृतीया विभक्ति।

फलशालिनीम्=फलै शालते (शोभते) इति फलशालिनी। (इत्यत्र अपि पूर्ववदेव उपमितसमास)। ताम्—फलशालिनीम्। फल—शल+णिनिप्रत्यय =फलशालिन्। स्त्रियां—ङीप्=फलशालिनी। विशेषणमिद 'क्रिया', शरदम् इत्युभयो पदयो।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'य विधिबीजानि अनुपालयन् अभिवर्षति स सदाफल शालिनी क्रिया लोक शरदम् इव अधितिष्ठति।'—कर्तृवा०

'यन विधिबीजानि अनुपालयता अभिवृष्यन्ते तेन सदा फल शालिनी क्रिया लोकेन शरदि व अधिष्ठीयते।'—कर्मवा०

● शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण

अभिवर्षति=अभि—वृष्+लट्—ति। लट्—वर्षति। लिट्—ववर्ष। लुङ्—अवर्षीत।

क्रिया=कृ—श। (भावार्थ) क्रियाम् इति कर्मणि द्वितीया 'अधिशीङ्स्थासा कर्म' इत्यनन द्वितीया विभक्ति।

अधि इत्युपसर्ग। अधिपूर्वक शी, स्था, और आस धातु की क्रिया होने पर इन क्रियाओ का आधार कर्म कहलाता है अर्थात् जिस स्थान पर इन धातुओ स निष्पन्न क्रियाएँ होती हैं वह कर्म होता है।

'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से कर्मस्थानीय शब्द म द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है। जैसे—

(कादम्बरी म) 'चन्द्रापीड मुक्ताशिलापट्टम् अधिशिश्ये।' 'अर्धासन गोत्र-भिदोऽधितस्थौ।'

'भूपति सिंहासनमध्यास्ते।'

यहाँ य क्रियावाचक पदो क शिलापट्ट, आसन, और सिंहासन (बैठने के) आधार हुए हैं अत य कर्म सज्ञक हुए हैं तथा कर्मसज्ञक होने से इनमे द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अधि उपसर्ग का यदि क्रियावाचक शब्दो से पूर्व योग न होता तो आधार वाचक शब्दो मे अधिकरण होने क कारण उनम सप्तमी

विभक्ति प्रयुक्त होती—शिलापट्टे शिश्ये, अर्धासने तस्थौ, तथा सिंहासने आस्ते ऐसा प्रयोग होता। और देखिये—

शय्यायां शेते—शय्यामधिशेते। इसी प्रकार क्रियायां तिष्ठति—क्रियामधितिष्ठति।

अनुपालयत्=अनु—पा+णिच्+शतृप्रत्ययः।

(शरद्=शृ+अदि। विधि=वि—धा—कि ॥३१॥

संक्षिप्त भावार्थ—

अविवेकिनः पुरुषस्य कार्यं सिद्धिः हेत्वन्तरेणैव सम्भवति न तु साहसेन। काकोत्पतनसमकाले तालवृक्षपतनं यथा अनिश्चितं भवति तथैव साहसेन कार्यं सिद्धिरपि अनिश्चिता भवति। सविवेक कार्यं सिद्धिस्तु निश्चिता भवति ॥३१॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—श्लेषमूलक अतिशयोक्ति, और उससे अनुप्राणित उपमा नामक अलंकार यहाँ है।

टिप्पणी—काकतालीय न्याय, किसी ताल वृक्ष पर बैठा हुआ कौआ उड़ा, उसके उड़ते ही वह तालवृक्ष किसी कारणान्तर से गिरने पर लोग कहते हैं कि कौवे ने ताल को गिरा दिया। यही काक तालीय न्याय है। वस्तुतः ताल के गिरने में कारण कौवा न होकर अन्य कोई कारण होता है। उसी प्रकार अविवेकी पुरुष की कार्य सिद्धि भी काक तालीय न्याय जैसी ही होती है। उसे विश्वसनीय नहीं माननी चाहिये किन्तु विवेकी पुरुष की कार्य सिद्धि सुनिश्चित ही होती है ॥३१॥

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।'—भर्तृ० ३।४१

'योगविधिः।'—रघु० ८।२२, लेखाविधि।'—मा० ली० १।३५

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ।' 'श्रद्धावित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्।' शाकु० ७।२९ 'कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः।'—किराता० ७।७

'विधौ वामारम्भे मम समुचितैषा परिणतिः।'—मा० ली० ४।४

'अरण्यबीजाञ्जलिदान लालिताः।'—कुमार० ५।१५

'बीजाञ्जलिः पतति कीट मुखावलीढः।'—मृच्छ० १।९, रघु० १९।५७

'बीजभूत स्मृत पुमान् ।'—मनु० ६।३३

'विवेक भ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख ।'—पच०

+ + + +

निश्चित रूप से विवेकी पुरुष को ही फल सिद्धि होती है ऐसा कहने के पश्चात् अब विवेक की प्रशसा करते हुए कहते हैं—

नियता विवेकिन फलसिद्धिरित्युक्तम् । सप्रति तामेव रुच्यर्थं स्तौति—

शुचि भूपयति श्रुत वपु
प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया ।
प्रशमाभरण पराक्रम
स नयापादितसिद्धिभूपण ॥३२॥

सुबोधिनी

अन्वय —शुचि श्रुत वपु भूपयति, प्रशम तस्य अलङ्क्रिया भवति । पराक्रम प्रशमाभरण, स नयापादितसिद्धिभूपण (भवति) ।

शब्दार्थ —शुचि=सम्प्रदाय शुद्ध । श्रुत=शास्त्रश्रवण । वपु =शरीर को । भूपयति=विभूपित करता है । प्रशम =क्रोध शान्ति । तस्य=पुरुष की । अलङ्क्रिया=अलङ्कार, आभूपण, शोभावर्धक । भवति=होता है । पराक्रम=पराक्रम । प्रशमाभरण=शान्ति की शोभा बढाने वाला, आभूपण । स =वह, पराक्रम । नयापादितसिद्धिभूपण =नीति द्वारा सम्पादित सिद्धि की शोभा वृद्धि करने वाला, आभूपण । (भवति=होता है) ॥३२॥

हिन्दी अनुवाद —हे भीमसेन ! गुरु परम्परा से सम्प्राप्त शास्त्र शुद्ध (शास्त्रानुमोदित) उपदेश के द्वारा शरीर की शोभा होती है । उस शास्त्रोपदेश की शोभा शान्तिप्रियता है । शान्तिप्रियता की शोभा यथा समय स्व विक्रम का प्रदर्शन है तथा नीति द्वारा उपार्जित विवेक से प्राप्त कार्य सिद्धि ही उस विक्रम (पराक्रम) की शोभा होती है ॥ ३२॥

घण्टापथ — शुचीति ॥ शुचि सम्प्रदाय शुद्ध श्रुत शास्त्रश्रवण कर्तृ वपुर्भूपयति । अन्यथाविद्वान्पुरुष शोच्य इति भाव । तस्य श्रुतस्य प्रशम क्रोधोपशान्तिरलङ्क्रिया भूपण भवति । अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भाव । पराक्रम सत्यवसर शौर्यं प्रशमस्याभरण भवति । अन्यथा सर्वै परिभूयत इति भाव । स

पराक्रमः । **नयापादिता** नीतिसम्पादिता । विवेकपूर्विकेतियावत् । सा चासौ **सिद्धिश्च**चसैव **भूषणं** यस्य स तथोक्तः अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्यं स्यादिति भावः । वपुषो भूष्यतैवात्रसिद्धे र्भू षणतैवतु । उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया' ।।' इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धे रनन्य भूपिताया एव भूपणत्वोक्त्या सर्वोत्तरतया स्तुतिर्गम्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावल्यलंकारः । तदुक्तम्--'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव । भजति परं परमेषालंकृतिरेकावली कथिता ।।' इति ।।३२।।

सरलार्थः—गुरु संप्रदाय पूर्वकं शास्त्र श्रवणमेव शरीरस्य वास्तविकी शोभा अस्ति । अलङ्कारादिधारणेन शरीरस्य शोभा कृत्रिता अस्ति । शास्त्र श्रवणं ज्ञानं च कोपेन व्यर्थं जायते । शास्त्रज्ञानस्य फलन्तु शान्तिरेवास्ति । शान्तिविना शास्त्रज्ञानं सर्वथा व्यर्थं भवति । शास्त्रज्ञानस्य क्रोधशान्तिरेवभूपणं भवति । सर्वदा क्रोध रहितोऽपि परैः पराभूयते । अतः यथावसरे पराक्रम प्रदर्शनमपि प्रशमस्य शोभां वर्धयति । अनीतिमाश्रित्याविवेकपूर्वक वा पराक्रम प्रदर्शनं सर्वदा सिद्धि प्रदायकं न भवति । कदाचिद् अनीतिमाश्रित्य अविवेकपूर्वको वा कृतः पराक्रमः वैफल्यमापद्यते । नीत्या विवेकेन च सम्पादिता सिद्धिरेव पराक्रमं विभूषयति । अतः विवेकमाश्रित्यैव सर्वदा पराक्रमितव्यम् । तेन इष्ट सिद्धिः अवश्यं स्यात् ।।३२।।

समासाः—**प्रशमाभरणम्**=प्रशमस्य आभरणम् इति । ष० तत्पु० ।

नयापादितसिद्धिभूषणः=नयेन (नीत्या) आपादिता इति नयापादिता । तृतीया तत्पु० । तादृशी सिद्धिः । कर्मधारयः । सा एव भूपणं यस्यसः । बहुव्रीहिः । 'सः' (पराक्रमः) इत्यस्य विशेषणमिदम् ।।३२।।

वाच्य-परिवर्तनम्—

'शुचि श्रुतं वपुः भूषयति ।'—कर्तृवा०

'शुचिना श्रुतेन वपुः भूष्यते ।'—कर्मवा०

'प्रशमः तस्य अलङ्क्रिया भवति ।'—कर्तृवा०

'प्रशमेन तस्य अलङ्क्रियया भूयते ।'—भाववा०

'पराक्रमः प्रशमाभरणं भवति ।'—कर्तृवा०

'पराक्रमेण प्रशमा भरणेन भूयते ।'—भाववा०

'स नयापादितसिद्धि भूषण भवति ।'—कर्तृवा०

'तेन नयापादितेन सिद्धि भूषणेन भूयते ।'—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

शुचि=शुच+कि ।

श्रुत=श्रु+क्त । श्रूयते यत् तत श्रुतम्=शास्त्रम् । इत्यत्र कर्मणि क्त ।

प्रशम=प्र—शम्+घञ् प्रत्यय ।

अलङ्क्रियया=अलम्—कृ+श । प्रशम इत्यस्य विधेय पदमिदम् ।

आभरण=आङ्—भृ—ल्युट् (करणे) ।

पराक्रम=परा—क्रम+घञ् । नय—नी+अच् ।

आपादित=आङ्—पद्+णिच्+क्त ।

सिद्धि=सिध्+क्तिन् । भूषण—भूष् (चुरादि ग०)+णिच्+ल्युट (करणे) ।

संक्षिप्तार्थ —विवेकपूर्वकमेव विक्रमितव्यम् । 'विवक भ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख ।'

सविवेक पराक्रम त्वया कर्तव्य । नान्य पन्थ । विद्यत । विवेकसङ्गता सिद्धि पराक्रम प्रकाशयति ॥३२॥

छन्द —वियोगिनी ।

अलङ्कार —इस स्थल म एकावली नामक अलकार है ।

टिप्पणी इस श्लोक की टीका प्रारम्भ करते हुए टीकाकार म० म० मल्लिनाथ तामेव रुच्यर्थं स्तोति' कहते हैं। इसका भाव यह है कि—'तामेव' इस पद का अर्थ 'उसी सिद्धि का है । 'रुच्यर्थं स्तोति'—अधुना तस्या सिद्धे स्तुति प्रतिपादयति । इत्यर्थ ॥३२॥

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये—

सक्ल हस गुण शुचिमानसम् ।,—किराता० ५।१३ १८।२६

'प्रभवति शुचिर्बिम्बोदग्राहे मणिर्न मृदा चय ।'—उत्तर० २।४

'अथ तु वेत्सि शुचिव्रतेमात्मन ।'—शा० ५।२७

तय शुचेर्दर्शयतार ईश्वरा ।—रघु० ३।४६, किरा० ५।१३

'श्रुतप्रकाशम् ।'—रघु० ५।२ 'श्रोत्र श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन ।'

—भर्तृ० २।७१ पच० २।१६७, रघु० ३।२१, ५।२२

'वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ।'—कुमा० ४।४२
'नवं वय कान्तमिदं वपुश्च ।'—रघु० २।४७, माघ० १०।५०
'लिखितवपुषौ शखपद्मौ च दृष्ट्वा ।—मेघ० ८०
'वपुः प्रकर्षाद्जयद् गुरुं रघुः ।'– रघु ३।३४, किराता० ३।२
'प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवम् ।' रघु० ८।१५
'प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णं सुरायुधम् ।'—कुमा० २।२०

+ + +

सोच-समझकर ही कार्य करना चाहिये यह सिद्ध करने के पश्चात् अब सोचने-समझने के उपाय क्या हैं ? इसका समाधान करते हुए सोचने समझने के लिये प्रशस्त आधार शास्त्र ही हैं' यह कहते हैं—
विमृश्य कुर्यादिति स्थितम् । तत्र विमर्शोपायः क इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदतमस्तिरोहिते
गहने कृत्यविधौविवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः
कुरुते दीप ईवार्थदर्शनम् ॥३३॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनां सुकृतः परिशुद्ध आगमः दीप इव अर्थदर्शनं कुरुते ।

शब्दार्थ—मतिभेदमस्तिरोहिते=बुद्धि भेदान्धकार से ढके हुए । (बुद्धि-भेद रूप अन्धःकार से समाच्छादित) गहने=निविड़, गहन, घने, दुर्बोध, । कृत्यविधौ=कर्तव्य कार्य रूप अनुष्ठान में । विवेकिनां=सोच-समझकर कार्य करने वालों का । सुकृतः=विशेष रूप से अभ्यस्त । परिशुद्ध आगमः=सुनिश्चित (दीप पक्ष में—सुविहित वातादि (हवा आदि) दोष रहित) शास्त्र, दीप-इव=दीपक की तरह । अर्थदर्शनं=कार्य ज्ञान । दीपपक्ष में—वस्तु मात्र का प्रतिभासन । कुरुते=करता है ।

हिन्दी अनुवाद—युधिष्ठिर कहते हैं—हे भीमसेन ! जैसे—हवा से सुरक्षित दीपक की रोशनी (प्रकाश) अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु को प्रकाशित

करने म समर्थ होती है, उमी प्रकार मोच-समझकर कार्य करने वाले विवेकी पुरुप की वुद्धि भ्रम रूप अन्धकार (अज्ञान) से आच्छन्न (ढके हुए) गहन कार्यों के मार्गों का अच्छा (सम्यक्=भली प्रकार से) बोध कराती है ॥३३॥

पष्टाशय —मतीति ॥ **मतिभेद**· कार्यविप्रतिपत्ति । मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमास । दीप इवेत्युपमानुसारात् । तेन **तिरोहित** आच्छानेऽतएव **गहने** दुरवगाहे **कृत्यविधौ** कार्यानुष्ठाने **विवेकिना सुकृत** सदभ्यस्तोऽतएव **परिशुद्धो** निश्चितोऽन्यत्र सुविहित प्रवातादिदोपरहितश्च आगम शास्त्र, 'आगम शास्त्र आयाते इति विश्व । **दीप इवार्थदर्शन** कार्यज्ञान वस्तुप्रतिमासन च **कुरुते** ॥३३॥

सरलार्थ—हे भीमसेन ! यथा तमसाच्छन्ने वने दुःसचारे मार्गे व निर्वात-दीप स्वकीयेन प्रकाशेन वस्तूना प्रकाशन करोति तथैव कार्यानुष्ठानविपय यदा वुद्धि विरोधेन कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान न जायते तदा विवेकी पुरुप स्व विवेकबलेनैव सर्व कार्याकार्य वेत्ति । विवेकी पुरुप शास्त्रालम्बनेन स्वविवेक पुष्णाति । शास्त्राणामभ्यसनेन तस्य वुद्धि विमला भवति । कार्यानुष्ठानज्ञानञ्च स लभते ।

कार्याकार्य विनिश्चये शास्त्राणामव प्रामाण्य वर्तते । यथान्धकारे दीपस्य प्रामाण्य भवति ॥३३॥

समासा —**मतिभेद तमस्तिरोहितो**—मते भेद इति मति भेद । प० तत्पु० । स तम इव इति । उपपद समास । मतिभेद तमसा तिरोहित इति मतिभेदतमस्तिरोहित । तृतीया तत्पु० । तस्मिन् । पाणिनिव्याकरणमनुसृत्य 'मतिभेदतमसातिरोहित' इति अलुक् समासे तृतीया विभक्ति स्यातुमर्हति । 'ओज सहोऽम्भस्तमस्तृतीयाया' इत्यनेन ।

अत एव अत्र 'मतिभेदतमसि तिरोहित तिरोधान (नपुसके भावे क्त) यस्य स ।' इति बहुव्रीहिरिति केचित् आमनन्ति । अथवा मतिभेदतमसि तिरोहित इति सप्तमी समास । तिरोहित =अन्तर्हित, लुप्त, गुप्त । कर्तरिक्त ।

कृत्यविधौ=कृत्यस्य विधि (अनुष्ठानम्) प० तत्पु० । तस्मिन् । विपयाधिकरणे सप्तमी विभक्ति । कृत्य कर्तव्य विधि इति **कर्मधारयो वा** । तस्मिन् ।

अर्थदर्शनम्=अर्थस्य दर्शनम् (समुद्भासनम्) इति प० तत्पु० । तत् कुरुते इत्यस्य कर्मणि द्वितीया विभक्ति ॥३३॥

वाच्य-परिवर्तनम्—

'सुकृतः परिशुद्ध आगमः दीप इव अर्थदर्शनं कुरुते ।—कर्तृवा०

'सुकृतेन परिशुद्धेन आगमेन दीप इव अर्थदर्शन क्रियते ।' कर्मवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

मति=मन्+क्तिन् । भेद=भिद्+घञ् । लट्—भिनत्ति, भिन्ते । लिट्—बिभेद, बिभिदे । लुङ्—अभिदत्, अभत्सीत्, अभित्त क्तान्तम्—भिन्नः, भिन्ना, भिन्नम् ।

तिरोहित=तिरस्—धा+क्त । 'तिरोन्तर्धौ' इत्यनेन गति संज्ञा कृते ततश्च नित्य समासः ।

कृत्य=कृ+क्यप् । गहन=गह (चुरादि)+ल्युट् ।

विधि=वि—धा+कि । विवेकिन्=विवेक+इनि (अस्त्यर्थे) । विवेक=वि—विच्+घञ् । सुकृत=सु—कृ+क्त । परिशुद्ध=परि—शुध्+क्त । लट्—शुध्यति । लिट्—शुशोध । लुङ्=अशुधत् ।

आगम=आङ—गम्+अप् । आगम इत्यस्य शास्त्र इत्यर्थः । शास्त्र-ज्ञानं च ।

दीप—दीप्+क । दीप्यते इति दीपः । लट्—दीप्यते । लिट्—दिदीपे । लुङ्—अदीपि, अदीपिष्ट । क्तप्रत्ययान्तम्—दीप्तः, दीप्ता, दीप्तम् । अथवा दीप्+णिच्+अच् । (कर्तृवाच्ये) । दीपयति भासयति अर्थात् इति दीपः । दर्शन=दृश्+णिच् प्रत्ययः+ल्युट् । दर्शन इत्यस्य प्रदर्शनम् उद्भासनम् इत्यर्थो स्तः ।

अन्यत्रदृश्+ल्युट् (भावार्थे)=दर्शन । दर्शनमुइत्यस्य अवलोकनमित्यर्थः । दृश्+वरणे ल्युट्=दर्शन । चक्षुरित्यर्थः । अर्थ शब्दार्थः अभिधेय इति ।

'अर्थोभिधेये शब्दानां धन-कारण-वस्तुषु ।
प्रयोजननिवृत्तौ च विषये च प्रवर्तते ॥ इति प्राचीनाः
'अर्थोभिधेये-रै-वस्तु प्रयोजन निवृत्तिषु ।'
द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्यमृक्थं धनं वसु ।
हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थ रै विभवा अपि ॥'

—इत्यमरः ॥२३॥

संक्षिप्त-भावार्थः—कः खलु विमर्षोपायः ? इति जिज्ञासा चेत् शास्त्र मेव

कार्याकार्यविनिश्चये विश्वमनीषोपाय इत्येव वक्तुं शक्यते यथा मति भेदे कार्याकार्यं विप्रतिपत्ति भवति तदा निश्चतार्थज्ञापक सम्यक् मपादितम अभ्यसित च शास्त्रमेव कार्याकार्यं निर्णायक भवति । तमसाच्छन्ने निविडवने पथि वा निर्वात दीपो यथा समुद्भासको भवति तथैव कार्याकार्यं विप्रतिपत्तौ सति शास्त्रज्ञानलब्धो विवेक एव पदप्रदर्शको भवति । तस्मात शास्त्र प्रमाणम् ।

छन्द —वियोगिनी ।

अलकार —यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा नामक अलङ्कार है ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'किवाभविष्यदरुणस्तमसा विभेत्ता० ।'—शाकु० ७।४ विक्रम० १।७, मेघ ३७,

'धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।'—मनु० ४।२४

'मुनिसुताप्रणयस्मृति रोधिना मम च मुक्तमिद तमसा मन ।'

—शाकु० ६।६

'लताया पूर्वलूनाया प्रसुनस्यागम कुत ।'उत्तररा० ५।२०

'अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।'

'राव्यागमे प्रलीयन्ते० ।' गीता० ८।१९, रघु० १४।८० पचत० ३।४८

'एषोऽस्या मुद्राया आगम ।'—मुद्रा० १

+ + +

● इस प्रकार सोच-समझकर कार्य करते रहने पर भी यदि दैववश अनर्थ (विपद् ग्रस्तता) होने पर भी वह अपराध नही होता ऐसा कहते हैं—

● एव विमृश्य कुर्वतो दैवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते—
वर्त्मनि यच्छतां मन ।
विधि-हेतुरहेतुरागसां—
विनिपातोऽपि समः समुन्नते ॥३४॥

:सुबोधिनी.

अन्वय— स्पृहणीयगुणै महात्मभि चरिते वर्त्मनि मन यच्छता (जनानाम्) विधिहेतु आगसाम् अहेतु विनिपात अपि समुन्नते सम ॥

शब्दार्थ—स्पृहणीयगुणैः=प्रशंसनीय गुणोंवाले। महात्मभिः=महापुरुषों के द्वारा। चरिते=आचरित। वर्मनि=मार्ग में। मनः=मनको। यच्छतां=समर्पण करने वालों का। (जनानां=लोगों का) विधिहेतुः=दैवनिमित्त। आगसां=अपराधों, पापों का। अहेतुः=कारण नहीं। विनिपातः=अनर्थ, पतन। अपि=भी। समुन्नते.=उन्नति के। समः—तुल्य, बराबर; सदृश होता है ॥३५॥

हिन्दी अनुवाद—प्रशंसनीय गुण सम्पन्न महापुरुषों के द्वारा आचरित मार्ग में मन लगाने वालों की कदाचित् दैव वश अवनति भी हो जावे तो वह अवनति-पाप अथवा अपराधों का कारण नहीं होती। सत्पथानुयायी जनों की अवनति भी समुन्नति के तुल्य होती है ॥३४॥

घण्टापथ—स्पृहणीयेति ॥ स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते वर्मन्याचारे मनो यच्छतांनिदधताम्। सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः। विधिहेतुर्दैवनिमित्तकः। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। अएवागसामपराधानामहेतुर्विनिपातो दैविकानर्थोऽपि। 'विनिपातोऽवपाते स्याद्दैवादिव्यसनेऽपि च' इति विश्वः। समुन्नतेरतिवृद्धेः समस्तुल्यः। दैविकेषु पुरुषस्यानुपालम्यत्वादिति भावः। यथाह कामन्दकः—'यत्तु समगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः ॥' इति ॥३४॥

सरलार्थ—अस्मिन् जगति सज्जनैः महापुरुषैः श्रेष्ठैश्च यत्पथमनुसृतं तत्पथानुयायिनः यदि दैववशात् विपद्येरन् तर्हि तेषां विपत्तिः (अवनतिः) आगसां हेतुः न भवति। तेषां सत्पथानुयायिनां नकोप्यपराधस्तत्र। ईदृशो विनिपातोऽपि समुन्नतिसदृशः इति मे मतिः। यतः विमृश्य कार्यं कुर्वाणाः कदाचिदपि निन्दनीयाः न भवन्ति। अतः महद्भिराचरिते वर्त्मनि मनः निदधताम् ॥३४॥

समासाः—स्पृहणीय गुणैः=स्पृहणीयाः गुणाः येषां ते-स्पृहणीय-गुणाः। बहुव्रीहिः। तैः।

महात्मभि=महान् आत्मा येषां ते—महात्मनः। बहुव्रीहि। तैः। 'चरिते' इत्यस्य अनुक्ते कर्तरि तृतीया।

विधिहेतु.=विधिः (दैवं) हेतुः यस्य सः—विधिहेतुः। बहुव्रीहि। विनिपातः इत्यस्य विशेषणम्

अहेतु=न हेतुः इति—अहेतुः। नञ् समासः।

विनिपात ' इत्यस्य विशेषणवत् व्यवहृत विशेष्य मपि पदमेतत् ॥३४॥

● वाच्य परिवर्तनम्—

विधिहेतु आगसाम् अहेतु विनिपात अपि समुन्नते सम (जायते) ।

—कर्तृ वा०

'विधि हेतुना आगमाम् अहेतुना विनिपातन अपि समुन्नते समेन (जयन्ते)।'

—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

स्पृहणीय=स्पृह (चुरादि)+णिच्+कर्मणि अनीय । लट्—स्पृहयति । 'स्पृह' धातुना योगे सति ईप्सित वस्तु सम्प्रदान कारक भवति । यथा—स॰ पुष्पेभ्य स्पृहयति । 'कर्मणायमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।' इत्यनेन अभिप्रेतवस्तुन॰ सम्प्रदान सज्ञा भवति । 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इत्यनेन च सम्प्रदाने चतुर्थी विभक्ति जाता ।

वर्मन=वृत्+मनिन । वर्मनि इत्यत्र अधिकरण सप्तमी । लट्—वर्तते । लिट्—ववृते । लुङ्—अवर्तिष्ट, अवृतत् । क्तान्तम्—वृत्त, वृत्ता, वृत्तम् ।

आग =इण्+असुन्=आग । सहमा एतियत तत् आग ।

हेतु=हि+तुन । विनिपात=वि—नि—पत्=घञ् ।

समुन्नति=सम्—उत्—नम+क्तिन् । 'समुन्नते ' इत्यत्र तुल्यार्थक सम शब्देन योगे षष्ठी विभक्ति विकल्पेन तृतीया अपि भवति—यथा—समुन्नत्या सम । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्या तृतीयान्यतरस्याम्' अनेन सूत्रेण ।

यच्छत=दाण्+शतृप्रत्यय । दाण् धातोर्णकार॰ इत्सज्ञक ।

सक्षिप्त भावार्थ—स्पृहणीय गुण शालिना महापुरुषाणा पथानुसर्तृणा पुरुषाणा कदाचिदपि अवनति अपराधहेतुना न एति । तेषामवनति दैवेनैव कदाचिद् भवति दैवमेव केवल तत्र कारणम् । तेषा सा अवनति अपि समुन्नते समानता समधिगच्छति ।

महाजनानुसर्तृणा मनस्वीपुरुषा सा दैव प्राप्तावनतिरपि भूषणावहा भवति । निन्दनीयान ॥३४॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहा 'विधिहेतु ' इति पदार्थस्य आगमाम् अहेतुत्व प्रति कारण-

त्वात् पदार्थं हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'विनिपातोऽपि मम समुन्नतेः' इति विरोधः। 'दैवकेषु पुरुषस्य अनुपालम्यत्वात्' अनेन तदंमञ्जनात् विरोधाभासः। 'विधि हेतुरहेतुः' यत्यत्र हकार तकारयोः सकृदनेकधा साम्याच्छेकानुप्रासः। इस प्रकार यहाँ काव्यलिङ्ग, विरोध, (विरोधाभास,) तथा छेकानुप्रास नामक तीन अलङ्कार हैं ॥३४॥

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अहोवतासि स्पृहणीयवीर्यः।'—कुमा० ३।२०

'वन्द्या त्वमेव जगतः स्पृहणीय सिद्धिः।—मातंग ली० १०।२१

'परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।'—रघु० ७।१४, कुमार० ७।६०, उत्तररा० ६।४०

'इति हेतुस्तदुद्भवे।'—काव्यप्र० १

'सदसद्व्यक्तिहेतवः।'—रघु० १।१०

'द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ।'—रघु० ११।७४ 'कृतागाः'—मुद्रा० ३।११

'सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्वया।'—माघ० २।१०८

'अभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।'—रघु० २।३२

'समलोष्ठाश्मकांचनः।'—रघु० ८-२१, 'सुखदुःखेसमेकृत्वा।' —गीता० २।३८

'अहो निवर्त्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।'—शाकु० १।२७

'यथा सर्वाणिभूतानि धरा धारयते समम्।'—म० ६।३११

\+ \+ \+

अब जो सोचना है उसके विषय में कहते हैं—

सम्प्रति यद्विमृश्यं तदाह—

शिवमौपयिकं गरीयसीं—
फलनिष्पत्ति मदूषितायतीम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं—
विजित-क्रोधरया जिगीषवः ॥३५॥

: सुबोधिनी :

अन्वय—जिगीषवः विजितक्रोधरयाः (सन्तः) गरीयसीम् अदूषितायतिं फलनिष्पत्तिं विगणय्य पौरुषं शिवम् औपयिकं नयन्ति।

शब्दार्थ—जिगीषवः—जय की इच्छा करने की इच्छा करने वाले। विजित क्रोधरया=क्रोध के वेग को जिन्होंने जीत लिया है। (सन्त) (क्रोध के संवेग को काबू में करते हुए)। गरयसीम्=गौरवयुक्त, श्रेष्ठ। अदूषितायतीं=परिणामसुखावह। फलनिष्पत्ति=फलसिद्धि को। विगणय्य=विचारकार। पौरुष=पुरुषार्थ। शिवम्=कल्याण कारक, शिव, शुभ, भद्र। औपयिक=उपाय। नयन्ति=प्राप्त कराते हैं।

हिन्दी अनुवाद—विजय की इच्छा करने वाले पुरुष अशुभ क्रोध के संवेग का दमन कर स्वप्रयोजन की सिद्धि और उसकी भावी स्थिरता का विचार करके वे अपने पुरुषार्थ (पराक्रम) को लोककल्याण के कार्य में प्रयुक्त करते हैं।' ऐसा राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा ॥३५॥

घण्टापथ—शिवमिति ॥ जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोधवेगा सन्तो गरीयसीं प्रभूतामदूषितायतीमक्षतोत्तरकालाम्। स्वान्तमित्यर्थः। फलनिष्पत्तिं फलसिद्धिं विगणय्य। फलवत्त्वं निश्चित्येत्यर्थः। पौरुषं पुरुषकारं शिवमनुकूलमौपयिकमुपायम्। विनयादित्वात्स्वार्थे ठक्। उपायाद्-ध्रस्वत्वं च। नयन्ति प्रापयन्ति। पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः। नानिश्चितफलं कर्म कुर्वन्त इति भावः। यथाह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च। न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च ॥' इति। नयतिः प्रापणार्थे-द्विकर्मकः। अत्र पौरुषस्य कर्तृस्थकर्मत्वेऽप्युपायस्यातथात्वात्क्रोधं विनयत इत्यादिवत् 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति ॥३५॥

सरलार्थ—विजिगीषवो नृपाः क्रोधेन इष्टसिद्धिविनाशो भवति इति मनसि दृढं निश्चित्य अस्थाने अनुपयुक्ते च समये कदापि न कुप्यन्ति। ते च क्रोधादि संवेगं दमयित्वा कार्यं फलं चिन्तयन्ति। कृते कार्यफलं परिश्रमानुरूपं शुभपर्यवसायी प्रभूतञ्च भवेत्तवा इति सम्यक् चिन्तयन्ति। आदौ सुचिन्तितं कार्यं शुभावहमेव भवति। चिन्तनोत्तरं यदि तत् कार्यफलं स्वाभिलाषानुरूपं ते मन्यन्ते तर्ह्येव तत्र स्वपुरुषकारं प्रयुञ्जन्ति।

पुरुषकारस्य साफल्यं सर्वथा देश-काल-पात्राधीनं वर्तते। अतः सुविचार्यैव प्रवृत्तिर्विधेया ॥३५॥

समासाः—फलनिष्पत्तिम्=फलस्य निष्पत्तिः इति फलनिष्पत्तिः। ष० तत्पु०। ताम्। 'विगणय्य' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया।

अदूषितायतीम्=दूषिता आयतिः (उत्तरकालः) यस्याः सा दूषितायतिः। बहुव्रीहिः। न दूषितायतिः इति अदूषितायतिः। नञ् समासः। ताम्। 'फल-निष्पत्तिमित्यस्य विशेषणमेतत्।

विजितक्रोधरयाः=क्रोधस्य रयः (वेगः) इति क्रोधरयः।

ष० तत्पु०। विजितः क्रोधरयः यैः ते। बहुव्रीहिः।

'जिगीषवः' इत्यस्य विशेषण मेतत् ॥३५॥

○ वाच्य-परिवर्तनम्—

'विजितक्रोधरयाः जिगीषवः पौरुषं शिवम् औपयिकं नयन्ति।'—कर्तृ वा०

'विजितक्रोधरयैः जिगीषुभिः पौरुषं शिवम् औपयिकं नीयते।'—कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

गरीयस=गुरु+ईयसुन प्रत्ययः। गरीयस्+ङीप्=गरीयसी। ताम्। 'फल निष्पत्तिम्' इत्यस्य विशेषणमेतत्।

निष्पत्ति=निर्—पद्+क्तिन्। दूषित=दुष्+णिच् (=दूषि)+क्त। लट्—दुष्यति। लिट्—दुदोष। लुङ्—अदूषत्। क्तान्तम्—दुष्टः, दुष्टा, दुष्टम्। आयति=आङ्—यम्+क्तिन्।

'स्यात् प्रभावेऽपि चाऽऽयतिः।'—इत्यमरः ३।३।१२७६

'तत्कालस्तुतदात्वंस्यादुत्तरः काल आयतिः।' इत्यमरः २।८।७६४

जिगीषु=जि=सन् (इच्छार्थे)+उ।

विगणय्य=वि- गणि+ल्यप्।

विजित=वि—जि—क्त। लट्—जयति। लिट्—जिगाय।

लुङ्=अजैषीत्। 'वि' इत्युपसर्ग पूर्वकस्तु आत्मनेपदी यथा लट्—विजयते। लिट्—विजिग्ये।

लुङ्—व्यजेष्ट। 'विपराभ्यां जेः' इत्यनेन आत्मनेपद भवति। जिधातोः लोट् लकारे उत्तम—पुरुषे प्रयोगः न भवति।

क्रोध=क्रुध्+घञ्। लट्—क्रुध्यति। लिट्—चुक्रोध।

लुङ्—अक्रुधत्। क्तान्तम्—क्रुद्धः, क्रुद्धा, क्रुद्धम्।

रय=रय्+अच्।

'रंहस् तरसी तु रयः स्यदः जवः।' इत्यमरः १।१।७२,७३

औपयिक=उप—इण्+घञ्=उपाय। उपाय एव औपयिकः उपाय+ठक्।

नयन्ति=नी+लट्—अन्ति। प्रापणार्थक नी धातु द्विकर्मक. ॥३५॥

संक्षिप्त भावार्थ जयाभिलाषिण पुरुषोत्तमा क्रोधादि सवेग वशीकृत्य कार्यं सिद्धि तस्याश्च अक्षुण्णतामावादक्षमाणा युक्त्या स्व पुरुषकार प्रयुञ्जन्ति ॥३५॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'प्रशमे विजिगीषूणाम्।'—रघु० १।७

'जम्बुकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छे'—मेघ० २०

'मन्त्रिव बलाद् गरीयसी।'—हितो० २।८६

'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गाद् गरीयसी।'—सुभा०

'वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।' हितो० १।११२, माघ० २।२४,३७

'तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरिता पतिः।

कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते॥'—कुमार० २।३७

'धिग्धिग् वृथा पौरुषम्।'—भर्तृ० २।८८

'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या।'—पञ्च० १

'इयं शिवाया नियतेरिवायतिः।'—किरा० ४।२१, १।३८ रघु० ११।३३

'तव वर्त्मनि वर्तता शिवम्।'—नैषध० २।६२ रत्न० १।२ रघु० ११।६०

\+ \+ \+

● जयेच्छु व्यक्ति को क्रोध रूपी तिमिर का प्रथम विनाश करना चाहिये इस तथ्य को उदाहरण के द्वारा कहते हैं।

● यदुक्तं विजित क्रोधरया इति तदावश्यकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता—
तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः—
प्रभया नांशुमताप्युदीयते॥३६॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—उदेतुम् इच्छता (जनेन) पुरः रोषमयं तिमिरं धिया अपनेयम्। अंशुमता अपि निशाकृतं तमः प्रभया अविभिद्य न उदीयते।

शब्दार्थ—उदेतुम्=उदित होने की, उत्कर्ष प्राप्त करने की। इच्छता= इच्छा करने वाले। (जनेन=लोग)। पुरः=प्रथम। रोषमयं=क्रोधमय। तिमिरं=अन्धःकार को। धिया=बुद्धि से। अपनेयम्=दूर करना चाहिये। अंशुमता=सूर्य। अपि=भी। प्रभया=प्रकाश के द्वारा। निशाकृतम्=रात्रि द्वारा किया गया। तमः=अन्धकार। अविभिद्य=बिना नष्ट किये। न= नहीं। उदीयते=उदय को प्राप्त होता है।

हिन्दी अनुवाद—राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं कि अभ्युदयेच्छु पुरुष को चाहिये कि वह सबसे पहले अपनी बुद्धि निर्मल करे, अज्ञान रूप तिमिर को अपनी बुद्धि से अलग करे। सूर्य भगवान् भी निशान्धकार का विनाश करके ही उदय को प्राप्त होते हैं। रात्रि जन्य तम का विनाश किये बिना सूर्य का भी उदय नहीं होता है।

घण्टापथः—अपनेयमिति ॥ उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषादागतम्। 'मयट् च' इति मयट्। तिमिरज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणे-नापनेयमपनोद्यम्। तथाहि। अंशुमतापि कर्त्रा प्रभया तेजसा करणेन निशाकृतं तमाध्वान्तमविभिद्य नोदीयते। किंतु विभिद्यैवेत्यर्थः। सूर्यस्याप्येवं किमुतान्ये-षामित्यपिशब्दार्थः। इणो भावे लट् ॥३६॥

सरलार्थः—हे भीमसेन ! यथा निशितमसि भ्रमन् मनुष्यः किमपि वस्तु अवलोकयितुं न पारयति तथैव क्रोध मोहाभ्याम् अन्धीभूतः अपि कर्तव्याकर्तव्य-विनिश्चये समर्थो न भवति। कर्तव्याकर्तव्यविनिश्चये असमर्थो जनः उन्नति पथं नारोहति। उन्नतये कर्तव्याकर्तव्यविवेकः एव सहायकः भवति। विवेकरहितः पुमान् क्रोधमोहाभ्यां तद्वशः जायते। विवेकशीलस्तु प्रथमं क्रोधं परित्यजति। मोहञ्च परिहरति। परित्यक्त क्रोधमोहः पुरुषः स्वोन्नति पथे अग्रयायी भवति। सूर्यः स्वोदयात् प्रागेव नैशं तिमिरं विनाशयति ततश्च सूर्योदयः भवति। सति-तिमिरे सूर्यस्यापि उदयो न भवति का कथा अन्येषां जनानाम् ?

अतः अभ्युदयाकाङ्क्षिभिः जनैः प्रथमं स्वबुद्धिनिर्मली करणार्थं मेव प्रयति-तव्यम्। उदयाभिगामी सूर्योऽपि प्रथमं तिमिरं विनाशयति ॥३६॥

समास —निशाकृतम्=निशया कृतम् इति । तृ० तत्पु० । तत ।

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'उदेतुम् इच्छना रोषमय तिमिरम् अपनेयम् ।'—कर्मवा०

'उदेतुम् इच्छन् रोषमय तिमिरम् अपनयेत् ।'—कर्तृवा०

'अशुमता न उदीयते ।'—भाववा०

'अशुमान् न उदेति ।'—कर्तृवा०

● शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अपनेय=अप—नी+यत् ।

उदेतुम्=उत्—इण+तुमुन् । इच्छत्=इष्+शतृप्रत्यय ।

रोष=रुष्+घञ् । रोष+मयट्=रोषमय । रोषमयम् इति 'तिमिरम्' इत्यस्य विशेषणमतत् ।

धी=ध्यै+क्विप् । धिया इत्यत्र करणे तृतीया ।

पुरा=पूर्वस्मिन्+असि इति । पूर्वस्मिन् (काले) इति सप्तम्या असि, पूर्वशब्दस्य च पुरादेश । नितरा श्यति तनूकरोति व्यापारान्—शो+क । तारानाथवाचस्पत्यम् । या सा—निशा । तया निशय कृतम् इति—निशाकृतम् । निशाकृतम्=विभिद्य=वि—भिद्+ल्यप्प्रत्यय । न विभिद्य इति अविभिद्य (नञ् समास) । प्रभा=प्र—भ=अङ् । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यनेन अङ् प्रत्यय । अशुमत्=अशु+मतुप् प्रत्यय । नित्ययोगे मतुप् । अशव विद्यन्ते अस्य इति अशुमान् । तेन । अशुमता इत्यत्र भाववाच्ये कर्तरि तृतीया ।

'किरणोस्र मयूखाऽशुगभस्ति घृणि रश्मय ।'—इत्यमर १।३।११८

'सहस्राशुस्तपन सविता रवि ।'—इत्यमर १।३।११४

'अशुमाल्यब्जिनी पति ।' इत्यमर १।३।११६

'अशुमता अपि निशाकृत तम प्रभया अविभिद्य न उदीयते ।

अत्र अपि शब्दार्थ

'सूर्य अपि एव करोति का कथा इतरेषा जनानाम् ? एव रीत्य स्फुट । अपि इत्यव्ययम् । भाषायाम् 'अपि' शब्दार्थ भी ।

सक्षिप्त भावार्थ—उन्नतिकामुक पुरुष स्वबुद्धिस्थ क्रोधरूप तम परिहरेत् । निरस्ते क्रोधे मोहोऽपि न सम्भवेत् । विनाशिते क्रोध-मोहरूपे तमे विवेक पुरुष समुन्नतिपथ समारोहयति ।

यावत् क्रोध मोहाभ्यां बुद्धेः मालिन्यं वरीवर्ति तावत् समुन्नतिपथः अपि आक्रमितुं न शक्यते। सूर्योऽपि नैशं तमः विभिद्यैव उदयम् एति का कथा इतरेषां जनानाम् ?

अतस्त्वया भीमसेन ! बुद्धिस्थौ क्रोध-मोहौ परिहर्तव्यौस्तः। परिहृते क्रोधे मोहोऽपि न स्यात्। क्रोध मोहाभ्यां विमुक्तायां बुद्धौ निर्मलता स्यात्। निर्मलबुद्धौ एव कर्तव्याकर्तव्यज्ञानोदयः भवति ॥३६॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन यहाँ होने से 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलङ्कार है।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिए—

'चन्द्रोदय इवोदधेः।'—रघु० १२।३६, २।७३, 'घनोदयः प्राक्०।'

शाकु० ७।३०

'फलोदय' रघु १।५ 'बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः।'—कुमार० ३।१८

'तेजोद्वयस्य युगपत् व्यसनोदयाभ्याम्।'—शाकु० ४।१, रघु० ८।८४

११।७३,

'रोषोऽपि निर्मलधियां रमणीय एव।'—भामिनी० १।७१, ४४

'सूर्यांशुभिभिन्नमिवारविन्दम्।'—कुमार० १।१२

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।'—गीता० २।६६

'मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।'

—शाकु० ६।६

'धियः समग्रैः स गुणैरुदार धीः।'—रघु० ३।३०

'प्रसीद कथयात्मनं न धियां पथि वर्तसे।'—कुमार० ६।२२

\+ + +

● दुर्बल के लिये ऐसा हो सकता है किन्तु बलवान् को तो क्रोध से ही कार्य सिद्धि होती है, इस आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—

ननु दुर्बल स्टोवमस्तु। बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मन —
तमसो नाभिभवं रुणाद्धियः ।
क्षय पक्ष इवैन्दवीः कला —
सकला हन्ति स शक्ति संपद ॥३७॥

सुबोधिनी

अन्वय—बलवान् अपि य कोपजन्मन तमस अभिभव न रुणद्धि, स क्षय पक्ष ऐन्दवी कला इव सकला शक्तिसम्पद हन्ति ॥

शब्दार्थ — बलवान्, अपि=बल, पराक्रम सपन्न भी । य =जो । कोप-जन्मन =क्रोधोद्भव, क्रोध से उत्पन्न । तमस =अधेरे का । अभिभव=आक्र-मण को । न रुणद्धि=रोकने के लिये समर्थ नही होता है । स =वह (राजा) । क्षयपक्ष =कृष्णपक्ष । ऐन्दवी =चन्द्रमा की । कला =कलाओ । इव=तुल्य, सदृश । सकला =सम्पूर्ण । शक्तिसम्पद =प्रभु-मन्त्र-उत्साह रूप शक्ति सपत्ति को । हन्ति=विनाश कर देना है ।

हिन्दी अनुवाद—राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं कि—बलसम्पन्न पुरुष भी क्रोध से उत्पन्न मोह रूप तम को रोकने मे जब असमर्थ होता है तब कृष्ण पक्षीय चन्द्रमा की तरह वह क्रमश उत्तरोत्तर समस्त कला सपत्ति को खो बैठना है । क्रोधान्ध व्यक्ति क्रोधोद्भव मोह के आक्रमण को रोकने में अस-मर्थ होता है अत सर्वप्रथम क्रोध का ही त्याग करना चाहिये । प्रभु-मन्त्र और उत्साह रूप शक्ति से रहित राजा स्वय अपना अस्तित्व खो देता है ॥३७॥

घण्टापथ —बलवानिति ॥ बलवाञ्छूरोऽपि य कोपाज्जन्म यस्य तस्य कोपजन्मन । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपद' इति वामन । तमसो मोहस्य । कृद्योगात्कर्तरि षष्ठी । अभिभवमाक्रान्ति न रुणद्धि न निवार-यति । स नृप क्षयस्य पक्ष क्षयपक्ष कृष्णपक्ष ऐन्दवीरिन्दुसबन्धिनी कला इव । 'कला तु षोडशो भाग' इत्यमर । सकला समग्रा शक्तिसम्पद प्रभु-मन्त्रोत्साहशक्तिस्तिस्रोऽपि हन्ति नाशयति । अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यंव्यर्थमेवेत्यर्थ । अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात्क्षयपक्षस्य कलाक्षयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेश ॥३७॥

सरलार्थ—क्रोधेन अन्धीभूतस्य सामर्थ्यवत अपि कार्य सिद्धि न भवति । अपरपक्षे । चन्द्रमस सकला कला क्रमश क्षय यान्ति तथैव सत्यपि प्रभूतेबलेय

क्रोध जनितस्य मोहस्य (अज्ञानस्य) आक्रमणं न निवारयति प्रत्युत क्रोधपराभूतः सन् स्वयं कार्याकार्यं विनिश्चेतुं समर्थः न भवति। प्रभावमन्त्रोत्साहशक्तिस्त्रय-समन्वितः प्रभुः अपि यदि क्रोध परवशः स्यात्तर्हि तस्य सर्वसम्पदः यथा समग्र-कलाधरस्यपूर्णचन्द्रस्य कृष्णपक्षे तथा क्रमशः कलाः विलयं यान्ति। ननु दुर्बलस्य सम्पत्क्षयः भवतु बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिः इत्याशङ्क्याह युधिष्ठिरः ॥३७॥

समासाः—कोपजन्मनः=कोपात् जन्म यस्य सः कोपजन्मा इति व्यधि-करण बहुव्रीहिः। तस्य।

क्षयपक्ष=क्षयस्य (कला लोपस्य) पक्षः इति। ष० तत्पु०।

शक्ति सम्पदः =शक्तयः (प्रभाव-मन्त्र-उत्साह रूपाः) एव सम्पदः (उत्कर्षाः)। इति कर्मधारयः। ताः 'हन्ति' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया। अथवा—शक्तीनां सम्पदः इति। ष० तत्पु०।

सकला=कलाभिः अंशैः सह.वर्तमानाः इति। बहुव्रीहिः। ताः ॥३७॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'बलवान् अपि यः तमसः अभिभवं न रुणद्धि।'—कर्तृवा०
'सः सकलाः शक्तिसम्पदः क्षयपक्षः ऐन्दवीः कलाः इव हन्ति।'—कर्तृवा०
'बलवता अपि येन तमसः अभिभवः न रुध्यते।'—कर्मवा०
'तेन सकलाः शक्तिसम्पदः क्षयपक्षेण ऐन्दवीः कलाः इव हन्यन्ते।'
—कर्मवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

बलवत्=बल+मतुप् प्रत्ययः। कोप=कुप्+घञ्।
जन्मन्=जन्+मनिन्। अभिभव=अभि—भू+अप्।
रुणद्धि=रुध्+लट्—ति। लट्—रुणद्धि, रुन्धे। लिट्—रुरोध, रुरुधे। लुङ्—अरुधत्, अरौत्सीत्, अरुद्ध। क्तान्तम्—रुद्धः, रुद्धा, रुद्धम्।
क्षय=क्षि+अच्। कला='कलातु षोडशोभागो'—इत्यमरः १।३।१६

---

१. राज्यं नाम शक्तित्रयायत्तम्।'—दशकुमारे।
राज्य शक्ति के तीन तत्व—प्रभाव शक्ति, मन्त्रशक्ति, तथा उत्साह शक्ति।
'त्रिसाधनाशक्तिरिवार्थ सञ्चयम्।'—रघु० ३।१३

ऐन्दवी=इन्दु+अण्, ततश्च स्त्रियां ङीप्। इन्दो इमा इति ऐन्दव्य। इन्दु=उन्द+कु। 'उन्देरिच्चादे०।' अनेन सूत्रेण।

शक्ति=शक्+क्तिन्। लट्—शक्नोति। लिट्—शशाक। लुङ्=अशकत्। क्तान्तम्—शक्त, शक्ता, शक्तम् ॥३७॥

संक्षिप्त भावार्थ—सामर्थ्यसम्पन्नोऽपि पुरुष यदि क्रोधजेन तमसा आवृ-णोति तदा स स्वयं क्षयपक्षीयेण चन्द्रेण इव सर्वा शक्तिसम्पद अचिरादेव विनाशयति।

अत समर्थेनापि क्रोधजन्येन तमसा स्वविवेक विलुप्य किमपि साहसिक कार्यं सहसा नाङ्गीकार्यम् ॥३७॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—यहाँ उपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी—

विशिष्ट समय पर ही सब कार्य होते हैं इसी हेतु से काल सबका कारण है। इसलिये कृष्णपक्ष (काल विशेष) कलाक्षय के कारण है। अन्धकार की वृद्धि कृष्णपक्ष में होती है इस कारण से ही कृष्णपक्ष का व्यपदेश[1] (उल्लेख) किया गया है। अन्धकार जो कृष्णपक्ष में वृद्धिगत होता है उसमें कारण है उसकी वृद्धि को न रोकना। अन्धकार को न रोकने में चन्द्रमा जैसे की भी शक्तिसंपदा का विनाश हो जाता है, जैसे कृष्णपक्षीय चन्द्रतम की अभिवृद्धि को न रोकने के कारण कलक्षय को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो मनुष्य प्रभूत बल संपन्न होने पर भी क्रोधजन्य तम (अज्ञान) की वृद्धि को नहीं रोकता है वह भी अटूट शक्ति संपदा को गमा बैठता है ॥३७॥

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'भवेद भीष्मद्रोण धृतराष्ट्रबलक्षयम्।'—वेणीसं० ३।२४,४३, गीता, १।१०, रघु० १६।३७

'बाहुबलेनजित।' 'वीर्यबलेन।' 'बलान्निद्रा समायाता।'—पंचत० १

हृदयमदये तस्मिन्नेव पुनर्वमते बलात।'—गीतगो० ७

'कोप न गच्छति नितान्त बलोऽपि नाग।'—पंचत० १।१२३

---

१. 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।'

न त्वया कोपः कार्यः।'
'नां जन्मने शैलवधुं प्रपेदे।'—कुमार० १।२१
'आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः।' —हितो० प्र० ४४, कुमार० ५।६०
'सरल स्कन्ध संघट जन्मा दवाग्निः।'—मेघ० ५३
'पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।' —मनु० ६।१००, ५।३८, गीता० ४।५

+ + +

- सोच समझकर कार्य करने की रीति का फल बतलाते हुए राजा युधिष्ठिर भीमसेन को कहते हैं कि—
- विमृश्य कुर्वतः क्रिया प्रकारमाह—

समवृत्ति रुपैति मार्दवम्—
समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोक मोजसा—
स विवस्वानिव मेदिनी पति ॥३८॥

सुबोधिनी :

अन्वय :—यः समवृत्तिः समये मार्दवम् उपैति तिग्मतां च तनोति, स मेदिनीपतिः विवस्वान् इव ओजसा लोकं अधितिष्ठति।

शब्दार्थ :—यः=जो पुरुष। समवृत्तिः=शान्त चित्तवृत्ति वाला, (जिसकी चित्त की वृत्तियाँ शान्त हैं; न अत्यन्त मृदु हैं न अत्यन्त उग्र हैं।) समये=अवसर प्राप्त होने पर। मार्दवम्=मृदुता, कोमलता को। उपैति=प्राप्त होती है। च=और। तिग्मतां=तीक्ष्णता को। तनोति=विस्तृत करती है। सः=वह। मेदिनीपतिः=राजा। विवस्वान्=सूर्य। इव=सदृश, जैसे। सर्वान्लोकान्=सभी लोकों को, अखिल विश्व को। अधितिष्ठति=प्रभावित करता है। ॥३८॥

हिन्दी अनुवाद—जो समचित्तवृति को धारण करने वाला राजा है, आवश्यकतानुसार समय-समय पर कोमल और कठोर वृत्ति को प्रकट करता रहता है वह राजा सूर्य के समान् अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को अभिभूत करता है। सूर्य कभी कोमल और कभी प्रचण्ड अपने तेज से संपूर्ण जगत् को प्रभावित करने से आदणीय होता है अतः हे भीमसेन! केवल क्रोध को ही न अपनाओ।

क्रोध भी उपादेय है किन्तु सदा सर्वत्र नहीं।

घण्टापथ —समवृत्ति ॥ य । समा नातिमृदुर्नातितिग्मा वृत्तिर्यस्य स सम वृत्ति सन्समये सत्यवसर मार्दव मृदुवृत्तित्वमुपैति तिग्मता तीक्ष्णवृत्तित्व च तनोति स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति। सूर्योऽपि ऋतुभेदेन समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥३८॥

सरलार्थ —हे भीमसेन ! सूर्य यथा ऋतुभेदेन विभिन्नोजसा लोकमधितिष्ठति। तथैव समवृत्ति नृप सत्यवसरे स्वकीय चित्तवृत्ते मार्दव तीक्ष्णता वा प्रकाशयति सोऽपि मेदिनी पति देशकाल पात्र विवेकेन स्व वर्तन विदधाति स एव सर्वान् लोकानभिव्याप्य तिष्ठति नन्दते च।

समास —समवृत्ति —समावृत्ति (व्यवहार) यस्य स । बहुव्रीहि ।
मेदिनीपति —मेदिन्या (पृथिव्या) पति । ष० तत्पु० ।

वाच्यपरिवर्तनम्

'समवृत्ति य मार्दवम् उपैति तिग्मता च तनोति'—कर्तृ वा०
'स मेदिनीपति विवस्वान् इव लोकम् अधितिष्ठति।'—कर्तृ वा०
'समवृत्तिना येन मार्दवम् उपेयत, तिग्मता च तन्यते।'—कर्मवा०
'तेन मेदिनी पतिना विवस्वता इव लोकअधिष्ठीयते।'—कर्मवा०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—वृति—वृत्+क्तिन्। मार्दव=मृदु+अण।
तिग्मता=तिग्म+तल्। तिग्म=तिज्+मक।
तिग्मताम् इति 'तनोति (विस्तारयति) इति क्रियापदस्य कर्मणि द्वितीया विभक्ति।
अधितिष्ठति=अधि—स्था+लट्—ति।
ओजस्—उज्+असुन्।
उपैति=उप—इण्+लट्—ति।
लोकम्=अधितिष्ठति इत्यस्य कर्मणि द्वितीया।
'अधिशीङ्स्थासाकर्म' इत्यनेन अधिपूर्वकस्था धातो योगे कर्मणि द्वितीया भवति।
विवस्वान्=विवस्+मतुप् तत प्रथमाया एक वचनमिदम्। विवस्=विवस्+क्विप्।
पति=पा+डति। पाति (रक्षति) इति पति।

समय=सम्—अय् (अथवा इण्)+अच्।
सम्यक्—अयते एति वा यः स समयः ॥३८॥

संक्षिप्त भावार्थ :—यः भूपः समवृत्तिः सन् अपि सत्यवसरे समयानुरूपां वृत्ति धारयति सः सूर्य इव स्वतेजसा संसारमधितिष्ठति ॥३८॥

छन्द—वियोगिनी।

अलंकार—उपमा।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज गुरुबलः पाण्डवीनां चमूनाम
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

—वेणी सं० ३।३०

'सत्योऽयं जनप्रवादो यत्संपत् संपदमनुबध्नातीति।' का ट० ७३
'यो दुर्जनं वशयितुं तनुते मनोपाम्।' भामि० १।६५
'तनयः कुलं तनोति (विस्तारयति)'
'ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।'—काव्यादर्श, १।८०
'त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख।' किराता० १७।४८, ५।४८,
रघु० १०।३०, १७।४८

+ + +

● बिना सोचे-समझे कार्य करने से होने वाले अनिष्ट के विषय में बतलाते हुए, राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं कि--

● उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क्व चिराय प्ररिग्रहः श्रियां—
क्व च दुष्टेन्द्रिय-वाजि-वश्यता।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियै—
रसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥३९॥

सुबोधिनी :

अन्वय :—श्रियां चिराय परिग्रहः क्व दुष्टेन्द्रिवाजिवश्यता च क्व। शरदभ्रचलाः बहुच्छला श्रियः चलेन्द्रियैः असुरक्षा हि (भवन्ति)।

शब्दार्थ :—श्रियां=लक्ष्मी का। चिराय=दीर्घकाल तक। परिग्रहः=स्वाधीन रखना क्व=कहाँ? दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता=अस्वाधीन इन्द्रिय रूप

अश्वों की वशवर्तिता। च=और। क्व=कहाँ। शरदभ्रचला=शरद् (ऋतु) काल के मेघो जैसी चन्चल। बहुच्छला=बहुत प्रकार के बहाने (छल कपट) बनाकर जाने वाली। श्रिय=लक्ष्मी, सम्पत्ति। चलेन्द्रियं=च चलेन्द्रिय, अवशेन्द्रिय पुरुषो के द्वारा। असुरक्षा हि=असुरक्षित ही। भवन्ति=होती है ॥३९॥

हिन्दी अनुवाद—धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेन को कहते हैं कि—कहाँ प्रदीर्घकाल तक लक्ष्मी को अपने आधिपत्य मे रखना और कहाँ बेलगाम घोडो की भाँति विषयासक्त निरकुश बेकाबू इन्द्रियो को स्वाधीन रखना ?

लक्ष्मी (सम्पत्ति) शारदीय मेघो जैसी अत्यन्त चन्चल तथा अनेक बहानो से छोड कर जाने वाली होती है।

अत अवशेन्द्रिय पुरुषो के द्वारा लम्बे समय तक लक्ष्मी (सपत्ति) को स्वाधीन रखना सभव नही है। दोनो का एकाधिकरण्य असभव है। दोनों एकत्र (एक स्थान मे) एक साथ नही रह सकते हैं।

घण्टापथ :—क्वेति ॥ श्रियां सम्पदा चिराय बहुकाल परिग्रह स्वायत्तीकरण क्व। इन्द्रियाणि वाजिन इवेति समास। दुष्टानाममार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्ये वशगतस्तस्य भावस्तत्ता क्व। नाभयमेकत्रतिष्ठतीत्यर्थ कुत। हि यस्माच्छरदभ्रवच्चलाश्चन्चला। किंच बहुच्छला बहुव्याजा। बहुरन्ध्रा इति यावत्। 'छल तु स्खलिते व्याजे इति विश्व। श्रिय सम्पद। चलन्द्रियैरजितेन्द्रियैर सुरक्षा रक्षितुमशक्या। कथाचित्प्राप्त अपि श्रियोनाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थ। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलकार ॥३९॥

सरलार्थ—खलीनैरनियन्त्रितैरश्वै यथा नीयमान रथ अपथ नीयते तद्वत् चलेन्द्रियवशगत पुरुष अपि कुमार्गगामी भवति। अवशेन्द्रियपुरुषाणा सम्पत्तिरपि चिरस्थायिनी न भवति। श्रीस्तु स्वभावत एव शरदभ्रवच्चचला छिद्रान्वेषणनिपुणा च वर्तते।

अवशेन्द्रियपुरुषस्याश्रये स्थातु नाभिलषतिसा। स्वाश्रयभूतस्यावशेन्द्रिय पुरुषस्य कमपि छिद्रमन्विष्य कमपि व्याजेन त परित्यज्य निर्गच्छति।

कथञ्चित् लब्धाऽपिश्री अवशेन्द्रिय पुरुष ता रक्षितु समर्थं न स्यात् सापि अजितेन्द्रियपुरुषेषु न स्निह्यति ॥३९॥

समासा—इन्द्रियवाजिवश्यता—इन्द्रियाणि वाजिन इव इति—इन्द्रिय-

वाजिनः। उपमित समासः। दुष्टाः इन्द्रियवाजिनः इति। कर्मधारयः। तेषां वश्यता। ष० तत्पु०।

बहुच्छलाः=बहूनि छलानि यासां ताः। बहुव्रीहिः। 'श्रियः' इत्यस्य विशेषणमेतत्।

चलेन्द्रियैः—चलानि इन्द्रियाणि येषाम् इति बहुव्रीहि; । तैः। 'जनैः' इत्यस्य विशेषणमिदम्। जनैरिति पदमध्याहार्यम्।

शरदभ्रचलाः—शरदः अभ्राणि इति। ष० तत्पु०। तानि इव चलाः। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इत्यनेन सूत्रेण समासः। 'श्रियः' इत्यस्य विशेषणमिदम्। असुरक्षाः—न सुरक्षा इति—असुरक्षा। नञ् समासः। ताः। 'श्रियः' इत्यस्य विशेषणमिदम् ॥३९॥

वाच्य-परिवर्तनम्—'श्रियां परिग्रहः क्व अस्ति।'—कर्तृवा०

'श्रियां परिग्रहेण क्व भूयते।'—भाववा०

'दुष्टेन्द्रिय वाजिवश्यता च क्व।'—दुष्टेन्द्रिय वाजिवश्यतया च क्व (भूयते)।' 'शरदभ्रचलाः बहुच्छलाः श्रियः असुरक्षाः (भवन्ति)।'—कर्तृवा०

शरदभ्रचलाभिः बहुच्छलाभिः श्रीभिः असुरक्षाभिः (भूयते)।'—भाववा०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—परिग्रह=परि—ग्रह्+अप्। परिग्रह-शब्दस्यार्थः स्वीकार इति। "पत्नी-परिजनाऽऽदान-मूल-शापाः परिग्रहाः, ।" इत्यमरः ३।३।१४४६ श्री=श्रि+क्विप्। 'क्विप् वचि' इत्यनेन क्विप्। असंप्रसारण दीर्घत्वञ्च। श्रियाम् इत्यत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कृद्योगे कर्मणि षष्ठी।

चिराय इति अव्ययम्। अत्यन्त संयोगे द्वितीया।

सुबन्तप्रतिरूपकमेतत् चिरात् कालात् परमित्यर्थे प्रयुक्तम्।

'चिरायचिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थकाः।'—इत्यमरः ३।४।१४६६

वश्य=वश+यत्। वशं गतः इति वश्यः।

वश्यता=वश्य+तल् (भावार्थे)।

दुष्ट=दुष्+क्त।

वाजिन्=वज्+णिनि प्रत्ययः। गत्यर्थकः वज् धातुः।

इन्द्रिय=इन्द्र+घ। इन्द्रस्य (आत्मनः) लिङ्गम् इति इन्द्रियम्।

इन्द्र—इन्द्+रक् (उणादि)। इन्ददित परमैश्वर्यं भुङ्क्ते यः सः इन्द्रः।

शरद्=शृ+अदि । चल्+अच्=चल तत लिङ्गयम् आकार । चलन्ति चञ्चला भवन्ति इति चला ।

अभ्र=नञ्—भ्रंश्+ड । न भ्रश्यति यत् तत् अभ्रम् । अथवा—अप—भृ+क । अप जलानि बिभर्ति धारयति यत् तद् अभ्रम् ।

सुरक्षा =सु—रक्ष्+खल् (कर्मणि) असुरक्षा इति 'खल'—प्रत्ययान्तेन सह योगात् चलेन्द्रियं (जनं) इत्यत्र कर्तरि षष्ठी नास्ति । 'न लोकाव्ययखलर्थतृणाम्' अनेन सूत्रेण षष्ठी निषिद्धा ॥३६॥

संक्षिप्त भावार्थ—अशक्य खलु चिराय सम्पत्ति संग्रह । उन्मार्गप्रवृत्ताश्ववदिन्द्रियाणा स्वायत्तीकरणमपि असम्भवम् ।

शरदभ्रवच्चञ्चलार्थैरपि अवशेन्द्रियै पुरुषै रक्षितु न शक्यते । जितेन्द्रियैरेव सम्पत्ति रक्ष्यते । सम्पत्ते स्वाधीनता—कामयमानै पुरुषै इन्द्रियजयार्थं यतितव्यम् ॥३८॥

छन्द —वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग नामक अलकार है ।

टिप्पणी—इस पद्य में दो बार प्रयुक्त 'क्व' शब्द लक्ष्मी का चिरकालिक परिग्रह और दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता मे महदन्तर का सूचन करता है ।

टीकाकार म० म० मल्लिनाथ ने 'हि' का अर्थ यस्मात् करके भी 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार लिखा है किन्तु साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के मत मे—'हेतुवाचक पदसत्वे काव्यलिङ्गस्य वैचित्र्याभावान्नासौ अलङ्कार ।'

वस्तुत 'हि' शब्द का 'तथाहि' अर्थ करने पर वह अलकार हो सकता है । प्रथमार्ध मे चतुर्थ प्रकार का विषमालङ्कार है । 'विरूपयो सङ्घटना या च तद्विषम् मतम्' इस लक्षण के अनुसार । 'इन्द्रियवाजिवश्यता' तथा 'शरदभ्रचला' इन दोनो स्थलो मे समासगता उपमा है और इन दोनो का परस्पर अनपेक्षित अवस्थान होने से 'संसृष्टि' नामक अलकार की सृष्टि होती है ॥३८॥

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

न चिर पर्वते वसेत् ।'—मनु० ४।६०

'न प्रजाना चिरमात्मनाधृतम् ।' रघु० ३।३५, ६२, अमर० ७८

'कियच्चिरेण आर्यपु त्र प्रतिपत्ति दास्यति ।'—शाकु० ६

'प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव ।'—रघु० १४।५९,

'अहो ! स्थिरःकोऽपि तवेप्सितो युवा, चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।'

—कुमार० ५।४७, अमरु० ३

'चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ।'—रघु० ३।२६

'चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ।'—शाकु० ५।१५

चिरे कुर्यात् ।'—शतपथ ब्रा०

'वाग्देवताया भवनं विभूतेः शौर्यस्य चाक्रीडमयं विभातु ।

श्रीमान् 'जिवाजि' नृपपूजिताङ्घ्रि राजन्वती येन धरा चिराय ॥

महामहोपाध्याय मुसलगावकर शास्त्रिकृत—

'सिन्दे विजय-विलास चम्पतः ।' १६-१४३

+ + +

क्रोध की बुराई प्रदर्शित करने के पश्चात् अब उसका त्याग करने के लिये कहते हैं—

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

किमसामयिकं वितन्वता—
मनसः क्षोभ मुपात्त रंहसः ।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां—
भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥४०॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—उपात्तरंहसः मनसः असामयिकं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया अधरीकृतः अपां पतिः किम् उच्चकैः क्रियते ॥

शब्दार्थः—उपात्तरंहसः=द्रुतगति (चाञ्चल्य) प्राप्त । मनसः=मन को । असामयिकं=असमय में, असामयिक । क्षोभं=उद्वेग, क्षोभ; । वितन्वता=बढ़ाते हुए, भवता=आप । धीरतया=स्वधैर्य से । अधरीकृतः=तिरस्कृत किया । अपां पतिः=समुद्र । किम्=क्यों, किस कारण, किसलिये । उच्चकैः=उन्नत । क्रियते=करते हो ।

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! स्वभावतः ही अतिचंचल मन को असमय में ही क्षुभित होने का अवसर देते हुए आप अपने धीरज से पहले ही जिस

समुद्र को तिरस्कृत कर चुके हो उसे ही पुन क्यो श्रेष्ठ बनाते हो। गम्भीरता म समुद्र की महानता पहले स ही सर्व विदित है किन्तु हे भीमान आपने तो अपनी गभीरता से उसे पूर्व म ही तिरस्कृत बना दिया था अर्थात उस समुद्र से अधिक धीरज आप म है यह अनेक बार सिद्ध कर चुकने क पश्चात् अब पुन द्रुत गति प्राप्त मन को असामयिक क्षोभ का अवसर दकर गभीरता म समुद्र ही आपसे अधिक गभीर हान का अवसर क्यो प्रदान करत हो। समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लघन कभी करता नहीं है किन्तु आज आप असामयिक घबडाहट को प्रश्रय दकर समुद्र को ही सर्वाधिक महान् होना क्या सिद्ध करना चाहते हो ॥४०॥

घण्टापथ—किमिति ॥ उपात्तरहस प्राप्तत्वरस्य मनस । समयाज्यस्य प्राप्त सामयिक । समयस्तदस्य प्राप्तम इति ठञ् । स न भवतीत्यसामयिक स्तमप्राप्तकाल क्षोभ वितन्वता भवता धीरतया धैयगुणन । मनसो निर्विकारत्व धैर्यं सत्स्वपि हतुषु इति रसिका । अधरीकृतस्तिरस्कृत प्रागिति शेष । अपा पति समुद्र किं किमयमुच्चकैरधिक क्रियत । न पराजित पुनरुच्चकै कुर्यादिति भाव । अत्र वितन्वतेति भीमविशेषणत्वेन अपापतिपदार्थस्योच्चै करण हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलकार ॥४०॥

सरलार्थ—पुरा स्वकीयन धैर्यं गुणेन हे भीमसेन त्वया समुद्रोऽपि तुच्छता नीत परमिदानीमुत्र दुर्योधनस्योन्नति श्रुत्वा त मन अतिमञ्चता ज्ञातम। तस्मात त्वमपि शत्रुणामह युद्धार्थं त्वराचित मन सान्त्वयितुमशकनुवन् असमय मनस, चाञ्चल्य प्रकटयित्वा प्राक तिरस्कृत समुद्रमपि पुन त्वत त्वमव अधिक किमर्थं करोषि ?

समुद्रस्तु पूर्ववदेव गभीर न तन स्व मर्यादा लङ्घिता। सम्प्रति त्वयि पूर्ववत् धैर्यं न लक्ष्यत। नैतदुचितम् ॥४०॥

समासा—उपात्तरहस=उपात्त प्राप्त रह वेग यन स । बहुव्रीहि । उपात्तरह तस्य उपात्तरहस । मनस' इत्यस्य विशेषणमिदम्।

अधरीकृत=अनधर अधर कृत इति अधरीकृत ।

'ऊर्यादिच्वि' इत्यनेन गति सज्ञा ततश्च गतिसमास ।

'अस्यच्वौ' इत्यनेन अकारस्य ईकार ।

'अधस्ताऽदपिचाधर' इत्यमर ३।३।१८९

वाच्य-परिवर्तनम्—

'वितन्वता भवता अधरीकृतः अपां पतिः उच्चकैः क्रियते ।'—कर्मवा०

'वितन्वन् भवान् अधरीकृतम् अपां पतिम् उच्चकैः करोति ।'—कर्तृवा०

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

सामयिक=समय+ठञ् । न सामयिकः इति असामयिक; नङ् समासः । तम्—असामयिकम् । असाम्प्रतम् इत्यर्थः ।

क्षोभ=क्षुभ्+घञ् । लट—क्षुभ्यति-क्षोभते । लिट्—चुक्षोभ-चुक्षुभे । लुङ्—अक्षुभत्-अक्षोभीत्, अक्षोभीष्ट । क्तान्तम्—क्षुभितः, क्षुभिता, क्षुभितम् । क्षुब्धः, क्षुब्धा, क्षुब्धम् ।

उपात्त=उप—आङ्—दा+क्त ।

रंहस्=रंह+असुन् ।

वितन्वत्=वि—तन्+शतृप्रत्ययः । वितन्वता इति तृतीयायाः एकवचनम् । 'भवता' इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

अप्=आप्—क्विप् । क्विपि आप्नोतेः ह्रस्वत्वम् ।

धीरता=धीर+तल् । धीरस्य भावः इति धीरता । तया । करणे अथवा हेतौ तृतीया ।

उच्चकैः=उच्चैस्+अकच् । इत्यव्ययम् ॥४०॥

संक्षिप्तार्थः—हे भीमसेन ! सम्प्रति ते पूर्ववद् धैर्याभावात् सागरस्यतु तत् सत्वात् । न एतत् समुचितम् ।

पूर्वं त्वयैव स्वकीयेन धैर्य वाहुल्येन सः तिरस्कृतः अधुना त्वमेव पुनः स्वधैर्य विमुञ्चन् तं समुद्रं किमर्थम् उच्चकैः करोषि ॥४०॥

छन्दः—वियोगिनी ।

अलङ्कारः—यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है ।

शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्छतिमारुतस्य ।'—रघु० २।३४

'स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।'—रघु० ७।३

'पिबसि रति सर्वस्वमधरम् ।'—शाकु० १।२४

'श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैः ।'—माघ० १।१६, १६।४६

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि तएव धीरा ।'

—कुमार० १।५२

क्रोध की त्याज्यता का हेतु कथन करते हैं—

+ + + +

क्रोधस्य त्यागमुपदिशति—

"श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून्
विनयन्ते न शरीरजन्मन ।
जनयन्त्यचिराय सम्पदाम्
अयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥४१॥

सुबोधिनी :

अन्वय—ये श्रुतम् अधिगम्य अपि शरीरजन्म रिपून् न विनयन्ते, ते खलु अचिराय समदा चापलाश्रयम् अयश जनयन्ति ।

शब्दार्थ—ये=जो लोग । श्रुतम्=नीति आदि शास्त्रों को । अधिगम्य=पढकर । अपि=भी । शरीरजन्मन =शारीरिक कामक्रोधादिक । रिपून्=शत्रुओं को । न विनयन्ते=अधीन नहीं करते, वश में नहीं करते । ते=वे लोग । खलु=सचमुच । अचिराय=शीघ्र ही । सम्पदाम्=लक्ष्मी का । चापलाश्रयम् =चपलता के आश्रय से उत्पन्न । अयश =अपयश । जनयन्ति=उत्पन्न करते हैं ।

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! नीति आदि शास्त्रों का ज्ञान उपार्जित कर लेने पर यदि जो लोग शरीरज काम क्रोधादि षड्रिपुओं को अपने अधीन नहीं करते हैं तो सचमुच वे शीघ्र ही अपनी मूर्खता के कारण सम्पत्ति विनाशजन्य अपयश के पात्र बन जाते हैं ।

काम-क्रोधादि शत्रुओं से त्रस्त पुरुषों को वे नीति आदि शास्त्र पढे हुए होने पर भी लक्ष्मी उनका परित्याग कर देती है । लक्ष्मी द्वारा परित्यक्त होने पर वे निन्दा के पात्र बन जाते हैं ।

नीति आदि शास्त्रों का ज्ञान उपार्जित करने का फल शरीरजषड्रिपुओं को जीतकर स्वाधीन कर लेना है, यदि कोई पुरुष नीति आदि शास्त्रों में पारंगत होकर भी यदि अपने शरीरज षड्रिपुओं को स्वाधीन नहीं करता है तो उसका शास्त्रीय ज्ञान व्यर्थ है । वह शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी मूर्ख ही है ।

यही मूर्खता व्यवहार में चपलता (प्रमाद) उत्पन्न करती है। व्यवहार में प्रमाद उत्पन्न होने पर लक्ष्मी उस पुरुष को त्याग देती है। लक्ष्मी व्यावहारिक दक्षता में अनुरक्त होती है, कोरे शास्त्र ज्ञान में नहीं। लक्ष्मी द्वारा परित्यक्त होने पर वह पुरुष शास्त्रीय ज्ञान होने भी निन्दनीय बन जाता है ॥४१॥

घण्टापथ:—श्रुतमिति ॥ किंच। ये श्रुतं शास्त्रमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीर प्रभवान्रिपून्कामक्रोधादीन्न विनयन्ते न नियच्छन्ति। कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। ते खल्वचिराय सम्पदां चापलाश्रयमस्थैर्यनिबन्धनमयशो दुष्कीर्ति जनयन्ति। आश्रयदोषादस्थैर्यं सम्पदां न स्वदोषादित्यर्थः। अजितारि-षड्वर्गस्य कुतः संपद इति भावः ॥४१॥

सरलार्थ:—इन्द्रियाणामधीनीकरणं कर्तव्याकर्तव्यबोधनञ्च शास्त्राध्ययनस्य मुख्यं प्रयोजनमस्ति। ये पुरुषाः शास्त्राण्यधीत्यापि षड्रिपुन न वशीकुर्वन्ति तेषां शास्त्राध्ययनं सर्वथा विफलमेव। शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः। ते कथ-ञ्चित् लक्ष्मी प्राप्य अपि रक्षितुं न शक्नुवन्ति। अजितेन्द्रियः पुरुषः मानसिक संवेगाधीनतामेति। षड्रिपुभिः पराजितः पुरुषः कर्तव्याकर्तव्यबोधने असमर्थः सन् अपव्ययादिना सम्पत्ति विनाशयति। अतः चञ्चलाहिश्रीः इति यदुच्यते जनः आश्रयस्य दोष एव सम्पदां तदकीर्तेः कारणं न तु तासां स्वदोषः ॥४१॥

समासा:—शरीरजन्मनः=शरीरात् जन्म येषां ते—शरीरजन्मानः। व्यधिकरण बहुव्रीहिः। तान्। 'अवर्ज्यो व्यधिकरण बहुव्रीहिः' इत्यनेन समासः। 'रिपून्' इत्यस्य विशेषणमिदम्।

अयशः=न यशः इति। नञ् समासः। तत्। 'जनयन्ति' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया।

चापलाश्रयम्=चापलम् एव आश्रयः (कारणम्) यस्य इति। बहुव्रीहिः। तत्। 'अयशः' यत्यस्य विशेषणमिदम्।

वाच्य-परिवर्तनम्—

'ये शरीरजन्मनः रिपून् न विनयन्ते।'—कर्तृवा०

'ते चापलाश्रयम् अयशः—जनयन्ति।'—कर्तृवा०

'यैः शरीरजन्मानः रिपवः न विनीयन्ते।'—कर्मवा०

'तैः चापलाश्रयम् अयशः जन्यते।'—कर्मवा०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

श्रुत=श्रु+क्त प्रत्यय । श्रूयते गुरुमुखात् यत् तत् श्रुतम् । शास्त्रम् इत्यर्थ । कर्मणि क्त प्रत्यय ।

अधिगम्य=अधि—गम+ल्यप् प्रत्यय । विकल्पअधीत्य इति ।

रिपु=रप्+कु । शरीर=शृ+ईरन् ।

जनयन्ति=जन्+णिच्+लट्—अन्ति ।

यश=यस्+असुन् ।

आश्रय=आङ्—श्रि+अच् ।

चापलम्=चपलस्य भाव इति चापलम् । चपलता इत्यर्थ । चपल+अण् ष्यञ् वा ।

विनयन्ते=वि—नी+लट्—अन्ते । कर्तृस्थे चाशरीरेकर्मणि' इत्यनेन सूत्रेण आत्मनेपदम् ॥४१॥

सक्षिप्त भावार्थ—आश्रयदोषात् सम्पदाम् अस्थैर्यं, न स्वदोषात् । शास्त्राण्यधीत्य अपि षड्रिपून् य स्ववश न आनयन्ति ते अचिरेणैव नष्ट सम्पत्तय भवन्ति ततश्च तेषामपकीर्ति भवति । सम्पत्तयस्तु चला एव । सम्पत्तिस्थैर्यन्तु षड्रिपुजयेनैव सम्भवति । षड्रिपुजयाभावे शास्त्राध्येता अपकीर्तिभाग्भवति । बाह्यशत्रुजयात् प्राक् अन्त शत्रूणा जयनमावश्यकम् ॥४१॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार यहाँ है ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽरजोनिमिलिता ।'—रघु० ९।७४

'श्रुतप्रकाशम् ।'—रघु० ५।२ 'श्रोत्र श्रुतेनैव न कुण्डलेन (विभाति) ।'
—भर्तृ० २।७१ रघु० ३।२१, ५।२२, पच० २।१४७, ४।६१

'सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।—उत्तररा० १।४५, ५।१

तमाश्रय दुष्प्रसहस्य तेजस ।'—रघु० ३।५८

'भर्ता वैह्याश्रय स्त्रीणाम् ।'—वेताल०

'तदहमाश्रयोन्मूलनेनैवत्वाकमाभा करोमि ।'—मुद्रा० २

'विनाश्रय न निष्ठन्ति पाण्डिता वनिता लना ।'—उद्भट०

बाणमाश्रयमुखात् समुद्धरन् ।'—रघु० ११।२६

'दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविशुद्धये ।
किं नाम खल संसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥' —उद्‌भट०

\+ \+ \+

● क्रोध से कार्य हानि की आशङ्का व्यक्त करते हुए—उससे बचते रहने के लिये राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं—

● तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना
स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।
जनवन्न भवन्तमक्षमा
नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥४२॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रिय वर्गतापनी अक्षमा भवन्तं जनवत् नयसिद्धेः अपनेतुं न अर्हति ॥४२॥

शब्दार्थ—अतिपातितकालसाधना=समय और सहायता का अतिक्रमण करने वाली । स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी=अपने ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का कष्ट देने वाली । अक्षमा=असहिष्णुता (क्रोध की चरमसीमा) । भवन्तं=आपको । जनवत्=सामान्य (प्राकृत) मनुष्य की तरह । नयसिद्धेः=नीति द्वारा प्राप्य फल सिद्धि से । अपनेतुं=दूर लेजाने के लिये । न अर्हति=समर्थ नहीं है ॥४२॥

हिन्दी अनुवादः—हे भीमसेन ! काल (समय) और सहायता की अतिक्रमण कारिणी और अपनी ही इन्द्रियों को कष्ट प्रदायिनी असहिष्णुता (असहनशीलता) सामान्य मनुष्य की तरह आपको नीतिसाध्य फल की प्राप्ति (सिद्धि) से वंचित करने में समर्थ नहीं होगी ॥४२॥

घण्टापथः—अतिपातितेति ॥ अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साधनानि सहायादीनि यया सा । तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्तरिल्युट् । टित्वान्ङीप् । स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रिय वर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्तं जनवत्पृथग्जनमिव । 'तेनतुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः । तेनैवार्यो लक्ष्यते ।

'तद्धितश्च चासर्वविभक्ति' इत्यव्ययम् । नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतु पृथक्कर्तुं नार्हति । असमयक्रोधस्यात्मसंतापातिरिक्त फल नास्तित्यर्थ ॥४२॥

सरलार्थं—क्रोधाधीन पुमान् कार्यसिद्धे उपयुक्त काल न परिचिनोतिकृते असामयिके क्रोधे सहाय्यकर्तारोप्य सन्तुष्टा भवन्ति । क्रुद्धस्य स्वशरीर सर्वाणीन्द्रियाणि च क्रोधजेनोष्मणा सन्तापमनु भवन्ति । क्रोधस्तु महदनिष्टकारी अस्ति । क्रोधेन परहानि भवेन्नवा इनि शङ्कास्पद भवति किन्तु क्रोधाधीनस्य हानि सुनिश्चिता अस्ति । क्रोधज सन्ताप स्वय क्रुद्ध एव अनुभवति ।

प्राकृतजन एव भवनियंमूलमीदृश क्रोधमाश्रित्य कार्य सिद्धे फलात् विश्लिष्ट भवति । भवान् तु विवेकी । विवेकी जनस्तु प्राकृतजनवत् प्रमाद न करोति । क्रोधाधीनाना नीति साध्यात् कार्यात् परिस्खलन समुचितमेव ।

अन्यथा कोभेद त्वत्त प्राकृत जनस्य ? ॥४२॥

समासा —अतिपातितकालसाधना=कालश्च साधनानि च द्वन्द्व । अतिपातितानि कालसाधनानि यया सा इति । बहुव्रीहि ।

स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी=इन्द्रियाणा वर्ग इति इन्द्रिय वर्ग । ष० तत्पु० । शरीरञ्च इन्द्रियवर्गश्च इति शरीरेन्द्रियवर्गौ । द्वन्द्व । तयो तापनी । ष० तत्पु० । 'अक्षमा' इत्यस्य विशेषणमिदम ।

अक्षमा=न क्षमा इनि । नञ् समास ।

नयसिद्धे=नयसाधनीया सिद्धि इति शाकपार्थिवादिवत् मध्यमपदलोपि कर्मधारय । तस्या । अपादाने पञ्चमीविभक्ति ।

● वाच्य परिवर्तनम

'अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी अक्षमा न अर्हति ।'

—कर्तृ वा०

'अतिपातितकालसाधनया स्वशरीरेन्द्रियवर्ग तापिन्या अक्षमया न अर्ह्यते ।'

—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अतिपातित=अति=पत्+णिच्+क्त ।

साधन=साध+ल्युट् (करणे) ।

वर्ग=वृज्+घञ् ।

तापनी=तप्+णिच्+ल्युट । ततश्च स्त्रियां ङीप ।

तापयन्ति या सा—तापनी । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यनेन कर्तरि ल्युट् ।

जनवत्=जन+वति (सादृश्यार्थे) जनेनतुल्यम् इत्यर्थः । 'तेन तुल्यं (सदृशम्) क्रिया चेद्वतिः ।'

क्षमा—क्षम्+अङ् । 'षिदादित्वात् अङ् प्रत्ययः ।

सिद्धि=सिध्+क्तिन् ।

अप्रनेतुम्=अप्—नी+तुमुन् ।

अर्हति=अर्ह+लट्—ति । लिट्—आनर्ह ।

लुङ्—आर्हीत् ।

सक्षिप्त भावार्थः—क्रोधाविष्टाः जनाः कार्यार्थम् उपयुक्तं समयासमयं न विदन्ति । सर्वानर्थमूलं क्रोध समालम्ब्य कृतकार्यफलात् ते निश्चयेन विश्लिष्टाः भवन्ति । तेषां क्रोधाविष्टानां जनानां नयसाध्यकार्यफलात् परिस्खलनं सुनिश्चितं स्वाभाविकञ्चास्ति । त्वन्तु धीरः विचारशीलश्च तथापि यदि क्रोधेन परिस्खलनं यदि स्यात् तर्हिकिमन्तरं त्वत्तः प्राकृतजनस्य ? अतः असामयिकं क्रोधं परिहर । विवेकञ्च समाश्रय ॥४२॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—'जनवत्' यहाँ पर उपमालङ्कार है ।

● **शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये**—

'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।'—हितो० १।१

'कालः काल्या भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ।'—भर्तृ० ३।३६

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।'—कुमा० ५।३३

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।'—मनु० २।२१५

'निर्ववार मधुनीन्द्रिय वर्गः ।'—माघ० १०।३

'चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ।'—किराता० १०।२६, २।३, ६।३८, १६।४२

+ + + +

क्रोध के दोष कहने के पश्चात् क्षमा के गुणों को बतलाते हैं—

दुष्टः क्रोध इत्युक्तम् । अथ क्षमाया गुणानाह—



उपकारकमायतेभृशं
प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां
न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥४३॥

सुबोधिनी

अन्वय—आयते भृशम् उपकारकम्, भूरिण कर्मफलस्य प्रसवः, द्विषाम् अनपायि निबर्हण तितिक्षासमम साधन न अस्ति।

शब्दार्थ—आयते = आने वाले समय का। भृशम् = अत्यर्थ। उपकारकम् = हितकारक। भूरिण = बड़े, श्रेष्ठ। कर्मफलस्य = कर्म के फल का, कार्य के परिणाम का। प्रसव = उत्पादक, कारण। द्विषाम = शत्रुओं का। अनपायि = हानिरहित, स्वय की हानि न करते हुए भी। निबर्हणम् = विनाशक। तितिक्षासम = क्षान्तितुल्य, तितिक्षा = द्वन्द्व सहिष्णुता, धैर्य, सहनशीलता, क्षमा। सम = तुल्य, सदृश, बराबर। साधन = उपाय, निष्पादक, कार्यान्वित करने वाला, सरकीब, उपकरण, निमित्त कारण,। न = नही। अस्ति = है।

हिन्दी अनुवाद—आने वाले समय मे अत्यन्त उपकारक (हितकारी) तथा कर्म के फलो को बहुत बडी मात्रा में देने वाला, और स्वय अपनी किसी भी प्रकार की हानि न करते हुए शत्रुओ का विनाशक, तितिक्षा (क्षमा) के बराबर अन्य कोई भी साधन नही है। क्षमा भी शत्रु का विनाश करने का अमोघ साधन है। शत्रु के विनाश के अन्यान्य साधन हैं किन्तु उनके प्रयोग मे प्रयोक्ता को भी न्यूनाधिक हानि अवश्य होती ही है। किन्तु क्षमा एक ऐसा साधन है जिसके प्रयोग से प्रयोक्ता को किसी भी प्रकार की हानि नही होती। क्षमा के कारण कर्मफलो की पर्याप्त मात्रा मे प्राप्ति होती है। क्षमावान् का यश बढ़ता है और जिसे क्षमा की जाती है उसकी हानि अनिवार्य रूप से होती है। शक्ति-सम्पन्न वीरो के लिये क्षमाकारिता निश्चित रूप से भूषण है। क्षमा से ही शत्रु की एकान्तिक और आत्यन्तिक हानि सम्भव है। अन्य किसी भी उपाय से नही, युद्ध मे तो कदापि नही ॥४३॥

घण्टापथ—उपकारकमिति ॥ आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकम्। स्थिरफलहेतुरित्यर्थः। भूरिण प्रभूतस्य कर्मफलस्य। प्रसूयत अनेनेति प्रसव कारणम् अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्यदेव द्विषां निबर्हण विनाशकमेव-

गुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः। 'तिजनिशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्कम्द्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समास आर्थी लुप्तोपमा, मृशायत्यनपायिशब्दैः साधनान्तर वैलक्षण्याद्व्यतिरेकश्च् च व्यज्यते । भेद प्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥४३॥

सरलार्थ—इष्टार्थपरिपन्थित्वात् कोपं त्यक्त्वा क्षमामेव समाश्रयेत । भविष्य काले क्षमया क्षमाकर्तुः महान् उपकारः भवति यदर्थञ्च क्षमा प्रयुज्यते तस्य हानिः तया भवति । क्षमा नाम मोहनास्त्रम् । क्षमया जनाः अनुरक्ताः भवन्ति, विरुद्धभावं परित्यजन्ति, क्षमावतः नानाविधानि सर्वाणि कार्याणि ते स्वयमेव सम्पादयन्ति । तत्फलं क्षमावानेव उपभुङ्क्ते । युद्धादिना शत्रुविनाशेन सहाय्यभूतस्यस्व सैन्यस्य न्यूनाधिकाक्षतिस्तु अनिवार्यतया भवत्येव । वस्तुतः क्षमा अनपायिनी अस्ति । क्षमावतः कापि हानिः न भवति । अद्भुतं खलु क्षमाशस्त्रम् । येन शत्रु हानिःतु भवति किन्तु स्वस्य क्षमावतः स्वल्पापि कापि हानिः न भवति प्रत्युत उत्तर काले प्रभूतफलदायिनी सा भवति ।

क्षमायां बहवो गुणाः । क्षमायाम् अद्भुता अपरिमिताच सम्मोहन शक्तिरस्ति । क्षमया शत्रोश्च् च शत्रुभावः विनश्यति विनष्टे शत्रुभावे सःस्वयमेव क्षमाकर्तुः हित साधनार्थयतते । क्षमागुणाकृष्टाः शत्रवः स्वयमेव वश्यतां यान्ति । ॥४३॥

समासा—कर्मफलस्य=कर्मणः फलम् इति कर्मफलम् । प० तत्पु० । तस्य । 'प्रसवः' इत्येतत्पदस्य 'कर्तृकर्मणोःकृति' इत्यनेन षष्ठी विभक्ति कर्मणि संजाता अस्ति ।

अनपायि=न अपायि इति । नञ्समासः । 'निवर्हणम्' इत्येतत्पदस्य विशेषणमिदम् ।

तितिक्षासमम्=तितिक्षया समम् इति । तृतीया तत्पु० । तितिक्षायाः समम् इति षष्ठीसमासोऽपि भवति । 'साधनम्' इत्येतत्पदस्य विशेषणमिदम् ॥४३॥

वाच्यपरिवर्तनम्

'उपकारकं प्रसवः अनपायि द्विषां निवर्हणं—तितिक्षा सम साधनं न अस्ति ।'

—कर्तृ वा०

'उपकारकेण प्रभवेन अनपायिना द्विषा निबर्हणेन—तितिक्षासमेन साधनेन न भूयते ।'—भावार्थ०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

उपकारक=उप—कृ+ण्वुल् प्रत्यय ।

प्रसव=प्र—सू+अप (करणे) । अपाय=अप—इण्+घञ् । अपाय+इनिप्रत्यय =अनपायिन् ।

निबर्हण=नि—बर्ह+ल्युट्प्रत्यय ।

द्विष्=द्विष्+क्विप् प्रत्यय । द्विषाम् इत्यत्र कृद्योगे कर्मणि षष्ठी विभक्ति ।

तितिक्षा=तिज्+सन्=तितिक्ष । तितिक्ष+अ (भावे)=तितिक्षा ।

भूरि=भू+क्रिन् । 'कर्मफलस्य' इत्येन पदस्य विशेषणमिदम् । भूरिन् इनि इन्नन्त शब्द ।

भूरि इनि प्रथमैकवचनम् । भूरिक इनि च षष्ठ्येकवचनम् ।

साधन=सि ध्+णिच्+ल्युट् । साध्यते अनेन इत्यर्थ ।

संक्षिप्त भावार्थ—

बहुगुणी क्षमा, कोपश्च सर्वानर्थमूल अस्ति । क्षमा भज कोप च परित्यज । क्षमया मम स्वापकार रहित शत्रुहानि करण्यान्यत् साधनान्तर नास्ति ॥४३॥

छन्द —वियोगिनी ।

अलंकार —यहाँ पर उपमान से उपमेय का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाने के कारण व्यतिरेक नामक अलङ्कार है ।

म० म० मल्लिनाथ के मत में व्यतिरेक के अतिरिक्त भी अन्यान्य अलङ्कार यहाँ हैं । घण्टापथ देखिये ।

टिप्पणी—क्षमा में अनेक गुण हैं किन्तु क्षमा सबलों के लिये भूषण है निर्बलों के लिये कदापि नहीं । निर्बल व्यक्ति के द्वारा यदि क्षमा करने की बात भी की जाय तो उपहासास्पद होता है । परिग्रहवान ही जैसे त्याग कर सकता है उसी प्रकार सबल व्यक्ति ही क्षमा करने का पात्र होता है । अभावग्रस्त जैसे त्याग करने का अधिकारी नहीं होता उसी प्रकार निर्बल व्यक्ति भी क्षमा करने का अधिकारी नहीं है ।

पाण्डव शक्ति सम्पन्न हैं अतः उनके द्वारा क्षमा करना भूषणास्पद है। सबके लिये नहीं और सर्वदा नहीं।

कोप बलवान् के लिये भी हानिकारक है निर्बलों का कोप ही उनका संपूर्ण विनाश कर देता है। सबलों का कोप भी (स्वयं के लिये भी) हातिकारक ही है। कोप अन्तः शत्रु है।

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'तमवेक्ष्य रुरोद साभृशम्।'—कुमार० ४।२५ 'रघुर्भृशं वक्षसि—तेन ताडितः।' रघु० ३।६१ 'चुकोप तस्मै स भृशम्०। ३।५६, मनु० ७।१७० ऋतु सं० १।११

'केवलं वीरप्रसवा भूयाः।'—उत्तर० १, कुमार० ७।८७,

'प्रसवविभूतिषु भूरुहां विरक्तः।'—माघ० ७।४२

'नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।'—मेघ०

'कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितम्।' ११३, रघु० ६।२८, कुमार० १।५५ ४।४, ४।१४, ८।५, मातंगली० ६।२७,—३१, उत्तर० २।२०

'प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ।'—रघु० ४।१६

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।'—कुमार० ५।३३,—५२ रघु, १।६, ३।१२, ४।३६,—६२,

'कुठारः छिदिक्रिया साधनम्।'

'साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत सपक्षेस्थितिं, व्यावृत्त च विपक्षतो भवति यत्तत् साधनं सिद्धये॥'—मुद्रा० ५।१०

\+ \+ \+ \+

७ क्या तितिक्षापूर्वक समय बिताने से दुर्योधन सभी अन्य राजाओं को अपने वश में कर लेगा।' इस आशंका का समाधान करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि—

○ ननु तितिक्षया कालक्षेपे सुयोधनः सर्वान्राज्ञो वशीकुर्या दित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः
सहजस्नेहनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं
प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः॥४४॥

सुबोधिनी

अन्वय — मानभृता प्रथमे वृष्णय प्रणतिप्रवणान् सहजस्नेहनिबद्धचेतस न विहाय सुयोधन सदा न प्रणमन्ति ॥४४॥

शब्दार्थ — मानभृता=मनस्विजनो म । प्रथमे=प्रमुख । वृष्णय = वृष्णिकुल भूषण यादव । प्रणति प्रवणान्=प्रणाम तत्पर । सहजस्नेहनिबद्ध चेतस =स्वाभाविक अकृत्रिम प्रेम स आबद्ध चित्त । न =हम पाण्डवा को विहाय=छोडकर । सुयोधन =दुर्योधन प्रमुख कौरवो को । सदा=हमेशा । न=नही । प्रणमन्ति=प्रणाम करत हैं ॥४४॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! मनस्वी जनो म अग्रगण्य वृष्णिकुल भूषण यादव लोग उनके प्रति विनम्र भाव स उन्ह सदा प्रणाम करने म तत्पर हम पाण्डवो को छोडकर वे कौरवा का पक्ष कभी नही लेंगे क्योकि उनका चित्त हम पाण्डवो म सदा ही स्वाभाविक प्रेम स आबद्ध है ।

यादव लोग अपन वास्तविक बल मे घमण्डी हैं और कौरव लोग मिथ्या अहकारी हैं । यादवा के प्रति सहज स्नेहवश हम पाण्डव विनम्र भाव रखते हैं, और वे भी हमारे विनय के वशीभूत होकर हम से प्रेम करते हैं वे हमार पक्ष को छोडकर अहकारी कौरवा का पक्ष कभी भी नही स्वीकार करेंगे । क्योकि वे यादव भी हमीं से अकृत्रिम स्नेह रखते हैं ।

दुर्योधन मिथ्या अहकारी होन से वह यादवों के समक्ष नत-मस्तक नही हो सकता और वे यादव लोग स्वभावत ही मनस्वी होन के कारण कौरवो का औद्धित्य सह नहीं सकत । अत निरन्तर यादव कौरवो के वश म रहना असम्भव है । सम्प्रति भले ही किसी कारण यादव कौरवा के पक्षधर हो किन्तु अन्तत-गत्वा यादव हम पाण्डवो का ही पक्ष लेंगे क्योकि उनका भी स्वाभाविक प्रेम हमारे विनय भाव के कारण हम पाण्डवो म ही है ॥४४॥

घण्टापथ—प्रणतीति ॥ सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढ लग्नचित्ता सुयोधन तु न तथेति भाव । किं च मानभृतामहकारिणा प्रथमेऽग्रहरा । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भाव । वृष्णयो यादवा प्रणतिप्रवणान्प्रणामपरान् सुयोधनस्तु न तथेति भाव । नोऽस्मान्विहाय सुयोधन सदा न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति । किन्तु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्यकत्यर्थं । सतियादव विग्रहे न किंचिदस्माकमसाध्य भवेदिति भाव अनेकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलकार ॥४४॥

सरलार्थः—तितिक्षया यापिते काले दुर्योधनः सर्वान् वृष्णिवंशीयान् यादवान् अन्यानपि नृपालान् वशीकुर्यात् इत्यपि त्वया भीमसेन ! नाशङ्कनीयम् । यतः यादवाः स्व-बलदर्पिणः सन्ति ते दुर्योधनस्य औद्धत्य न सहिष्यन्ते । बलदर्पिणान्तु स्वभाव एव ते प्रणातिनम्रेषु स्निह्यन्ति । वयं पाण्डवाऽपि गुणैक पक्षपातिनः यादवेषु स्निह्यामः । दुर्योधनस्तु उद्धतः स यादवान् प्रति विनतः न स्यात् अतः ते यादवाः कौरवपक्षं न स्वीकरिष्यन्ति ॥४४॥

समासाः—प्रणतिप्रवणान्=प्रणतौ प्रवणाः इति प्रणातिप्रवणाः । **सप्तमी तत्पु०** । तान् । 'न': इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

सहजस्नेहनिबद्धचेतसः=सह जायते यः सः सहजः ; **उपपद समासः** । सहजः स्नेहः इति कर्मधारयः । तेन सहजस्नेहेन निबद्धं चेतः येषाम् इति बहुव्रीतिः तान् । 'नः' अथवा 'वृष्णयः' इत्यस्य विशेषणमिदम् । अतः अत्र प्रथमा द्वितीया वा ।

मानभृताम्=मानं बिभ्रति ये ते मानभृतः । **उपपद समासः** । तेषाम् । इत्यत्र निर्धारणार्थे षष्ठी विभक्तिः ॥४४॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

प्रथमे वृष्णयः सुयोधनं न प्रणमन्ति ।'—कर्तृवा०

'प्रथमैः वृष्णिभिः सुयोधनः न प्रणम्यते ।'—कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

प्रणति=प्र—नम्+क्तिन् । 'उपसर्गादसमासेऽपिणोपदेशस्य' इत्यनेन-णत्वम् ।

प्रणमन्ति=प्र—नम्+लट्—अन्ति । पूर्ववदेवणत्वम् । सदा=सर्वस्मिन्-काले—सर्व+दाच् सादेशः ।

विहाय=वि—हा+ल्यप् प्रत्ययः । लट्—जहाति । लिट्—जहौ । लुङ्—अहासीत् । क्तप्रत्ययान्तम्—हीनः, हीना, हीनम् ।

सहज्=सह—जन्+ड । 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते' इति जन्धातोर्डः ।' लट्—जायते । लिट्—जज्ञे । लुङ्—अजनिष्ट । क्तप्रत्ययान्तम्—जातः, जाता, जातम् ।

स्नेह=स्निह +घञ् । लट्—स्निह्यति। लिट्—सिस्नेह । लुङ्—अस्निह्न । क्तप्रत्ययान्तम्—स्निग्ध, स्निग्धा, स्निग्धम् ।

निबद्ध=नि—बन्ध्+क्त ।

चेतस=चित+असुन ।

सुयोधन—सु—युध्+कर्मणि युच् प्रत्यय (खलर्थ)

प्रथम=प्रथ+अमच् । प्रथम इति प्रथमा विभक्तौ बहुवचनम् । प्रथमा इत्यपि वैकल्पिक रूप भवति ।

वृष्णि=वृष्णि+अण (अणालुक्) वृष्ण गोत्रापत्यानि पुमांस इति वृष्णय ।

संक्षिप्त भावार्थ—मनस्विनाम् अग्रगण्या वृष्णि कुलजा-यादवा अस्मासु स्निह्यन्ति वयमपि विनीता यादवान् प्रति । अत न कथमपि कौरवपक्षपातिन न भविष्यन्ति । कौरवा स्वभावत एव उद्धता । तेषामौद्धत्यात् ते वृष्णय तान् न प्रणमन्ति, यद्यपि सम्प्रति दुर्योधन राजसिंहासनाधिष्ठित तथापि ते तमपि न नमस्कुर्वन्ति ॥८४॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ अनेक पदार्थ हेतुक 'काव्यलिङ्ग' नामक अलंकार है ।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'स्नेहदाक्षिण्ययोगात कामीव प्रतिभाति म ।'—विक्रम० २।४
'अस्ति मे सोदरस्नेहोप्येतेषु ।'—शाकु० १
'निर्विशिष्टविषय स्नेह स दशान्तमुपेयिवान् ।'—रघु० १२।१, पंच० १।८७
'चेत प्रमादयति ।" भर्तृ० २।२१, 'गच्छति पुर शरीर धावति पश्चाद—मसंस्तुत चेत ।—शाकु० १।३४ 'वननाप्रवण ।'—किराता० ३।१६
'नृभि प्राणत्राणप्रवणमतिभि कैश्चिदधुना ।'—भर्तृ० ३।२६, माघ० ८।३५ मुद्रा० ५।२१,

+ + +

● राजा युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं—

● राजा युधिष्ठिर भीमसेन प्रति वक्ति—

सुहृदः सहजास्तथेतरे
मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।
विनयादिव यापयन्ति ते
धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥४५॥

: सुबोधिनी :

अन्वय—एषां ये सहजाः सुहृदः, तथा ये इतरे एषां मतं न विलङ्घयन्ति, ते आत्मसिद्धये धृतराष्ट्रात्मजं विनयादिव यापयन्ति ।

शब्दार्थ :—एषां—इनके (यादवों के) । ये=जो । सहजाः=स्वाभाविक, सगे । सुहृदः=मित्र, बन्धु-बान्धव । तथा=और । ये=जो । इतरे=अन्य सम्बन्धी । एषां=इनका । मत=अभिप्राय, राय । न=नहीं । विलङ्घयन्ति= उल्लङ्घन करते हैं । ते=वे । आत्मसिद्धये=अपने मतलब के लिये । धृतराष्ट्रात्मजं=धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन को । विनयादिव=विनम्र भाव की तरह (दिखावा) । यापयन्ति=समय काटते हैं ॥४५॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! इन यादवों के जो भाई (मौसेरे और फुफेरे) और मित्र हैं वे भी इनके अभिप्राय का उल्लंघन नहीं करते हैं । वे केवल किसी प्रकार समय काटने के लिये ही ऊपर से दुर्योधन के समक्ष विनय का प्रदर्शन मात्र करते हैं । उनके चित्त में दुर्योधन के विषय में कोई स्वाभाविक आदर नहीं है । अतः वृष्णिवंशज यादव लोग दुर्योधन के पक्ष में कभी भी जाकर नहीं मिलेंगे ॥४५॥

घण्टापथः—सुहृद इति ॥ किं चैषां वृष्णीणां ये सहजा सहजाताः । मातृ-पितृपक्षा इत्यर्थः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मतं वृष्णीपक्षं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति । ते द्वयेऽपि नृपाः । दुर्योधनोपजीविनाऽपीति भावः । आत्मसिद्धये आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं गमयन्ति । कार्यकाले तु वृष्णीपक्ष-प्रवेशिन एवेत्यर्थः । यातेर्ण्यन्ताल्लट् । 'अर्तिह्री—' इत्यादिना पुगागमः ॥४५॥

सरलार्थः—हे भीमसेन ! एषां यादवानां ये सहजाः मातृष्वस्रीय-पितृ-ष्वस्रीयादयः बान्धवाः, अन्येऽपि ये सुहृदः सन्तिः ते सर्वेऽपि तन्मतानुयायिनः एव कोऽपि तन्मतं नातिवर्तते । ते सर्वेऽपि अस्माभिः सह मिलित्वा कौरवैः सह प्राप्ते समये युद्धं करिष्यन्ति । सम्प्रति ते स्वार्थसाधनार्थमेव दुर्योधन-पक्षं समाश्रित्य

त प्रति अनुरागाभावेऽपि अनुरक्तानिव प्रदर्शयन्त मन्त समय यापयन्ति (सति प्रसङ्गे दुर्योधन नमन्ति किन्तु तेषा नमन हृदिक नास्ति) यत सर्वान्यव दुर्योधन आत्मश्लाघी उद्धतश्च ते च मनस्विनामग्रगण्या ते तस्य मद कदापि न सहिष्यन्ते इति सुनिश्चितमस्ति। मनस्विनस्तु विनम्रान्प्रति सहजभावेन स्निह्यन्ति।

तान् प्रति विनयावनतेषु अस्मासु स्निह्यन्त्येव ते, प्रारब्धे युद्धे च, ते अस्मत्पक्ष समाश्रित्य तै सह युद्धमाचरिष्यन्ति नात्र सदेह कार्य ॥४५॥

समासा — धृतराष्ट्रात्मजम्=आत्मन जायत इति आत्मज। उपपद-समास। धृतराष्ट्रस्य आत्मज इति। ष० तत्पु०। तम्। यापयन्ति' एतस्या क्रियाया कर्मपदमिदम।[1]

आत्मसिद्धये=आत्मना सिद्धि इति। ष० तत्पु०। तस्यै। अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी।

सुहृद =सु (शोभन) हृदय यषा ते इति। बहुव्रीहि। सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयो' इति निपात।

- वाच्यपरिवर्तनम्—

  'सहजा सुहृद तथा ये इतरे एषा मत न विलङ्घयन्ति।'
  'ते धृतराष्ट्रात्मज यापयन्ति।'—उभौ कर्तृ० वाच्यौ स्त।'
  'सहजै सुहृद्भि तथा यै इतरै एषा मत न विलङ्घ्यते।'—कर्मवा०
  'तै धृतराष्ट्रात्मज याप्यते।'—कर्मवा०

- शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

  सहज=सह—जन+ड। मत=मन्+क्तप्रत्यय।
  विनय=वि—नी+अच्। 'विनयात्' इत्यत्र ल्यब्लोपे पचमी।
  विलङ्घयन्ति=वि—लङ्घ्+णिच्—लट्—अन्ति।
  यापयन्ति=या+पुक्+णिच्+लट् (अन्ति)। अर्तिह्रि—' इत्यनेन पुगागम। या धातु गमनार्थक तस्तान अणि कर्तु कर्मत्वम् यथाह—

'गमनाहारबोधाय शब्दार्थाकर्मधातुषु।
अणिजन्तेषु य कर्ता स्याणिजन्तेषु कर्म तत्॥'

---

[1] सिद्धान्त कौमुदी की तत्व बोधिनी टीका देखो।

आत्मन्=जन्+ड। राष्ट्र=राज्+ष्ट्रन्। धृतं राष्ट्रं येन सः धृतराष्ट्रः। बहुव्रीहिः।

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—'विनयादिव' यहाँ पर 'इव' शब्द का उत्प्रेक्षाद्योतकत्व होने से वाच्योत्प्रेक्षा नामक अलंकार है।

संक्षिप्त भावार्थः - यादवानां मित्राणि बांधवाश्च दुर्योधने हृदयेन न स्निह्यन्ति। स्वार्थवशादेव ते तं विनयं प्रदर्श्य कालं यापयन्ति ॥४५॥

● टिप्पणी:—

१. कवि ने यहाँ पर 'धृतराष्ट्रात्मज' शब्द का प्रयोग कर दुर्योधन अपने पिता के समान ही शठ हैं यह ध्वनित किया है।

२. शठ के साथ शठता यदि कोई करता है तो उसे शठता का आचरण करने से कोई पाप नहीं लगता है।

'शठे शाठ्यं समाचरेदिति' नियम है।

३. 'विनयादिव' इस उत्प्रेक्षा के माध्यम से शठता की झलक मिलती है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'शुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र ! एतेन विनय-माहात्म्येन।'—उत्तररा० १

'विद्या ददाति विनयम्।'—'तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत।'—रघु० १०।७१

रघुवंश की टीका में म० म० मल्लिनाथ ने विनय शब्द का अर्थ 'इन्द्रिय जय' बतलाया है जो अनावश्यक है। वे ही म० म० मल्लिनाथ किराता० २।४५ की घण्टापट टीका में 'विनयात्' का अर्थ 'आनुकूल्यादिव' लिखते हैं जो समीचीन है।

'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।'—सुभा०

'निश्चितं मतमुत्तमम्।'—१८।६, ३।३१,

'वभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षात् विधिनोपपन्ना।'

—रघु० २।१६

\+ \+ \+

● किन्तु पूर्व-शपथ-भंग करने का यह समय नहीं है, अन्यथा समय भंग करने से उसके परिणाम प्रतिकूल होंगे, इस आशय से धर्मराज युधिष्ठिर भीमसेन से कहते हैं कि—

किंच नायमभियोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमान्महीभुजो
भवता तस्य तथा कृतावधे ।
प्रविघाटयिता समुत्पतन्
हरिदश्व कमलाकरानिव ॥४६॥

सुबोधिनी

अन्वय—कृतावधे तस्य भवता कृत अभियोग इमान् महीभुजो हरिदश्व कमलाकरान् इव समुत्पतन् प्रविघाटयिता ।

शब्दार्थ—कृतावधे=पूर्वकृत अवधि का । तस्य=उसका, दुर्योधन का । भवता=आपके द्वारा । कृत=किया हुआ । अभियोग=विरोध । इमान्=इन । महीभुज=राजाओं, क्षत्रियों का । हरिदश्व=सूर्य । कमलाकरान्=कमलों का । इव=सदृश । समुत्पतन=उदय को प्राप्त होते ही । उदित होते हुए । प्रविघाटयिता=उद्भिन्न कर देगा ।

हिन्दी अनुवाद—दुर्योधन ने, बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास में रहने के पश्चात् हम हमारा राज्य लौटाने की जो (समय) शपथ की है उसके साथ आपके द्वारा किया जाने वाला विरोध (अभियोग) इन राजाओं को हमारे पक्ष से तितर बितर करने में वैसे ही समर्थ होगा जैसे हरे घोड़ों के रथ में आरूढ होकर उदित होने वाला सूर्य सुमङ्कुठित कमलपत्रों को विनष्ट कर देता है ।'

अतः हे भीमसेन ! यह समय विरोध उत्पन्न कर असंगठन को बढ़ावा देने का नहीं है ॥४६॥

घण्टापथ—अभियोग इति ॥ कृतावधेः परिमापितकालस्य । अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्निकाले बिलेऽपि च इति विश्वः । तस्य सुयोधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृत । अर्वाक् प्राग् इति शेषः । अभियोग आक्रमिभव इति यावत् । अभियोगस्तु शपथेऽभ्याद्रे च परामन्त्र इति विश्व । इमान्पूर्वोक्तान्महीभुजो राजा हरिदश्व उष्णरश्मि कमलाकरानि समुत्पतन्नुद्यन्नेव प्रविघाटयिता भेत्स्यति । घाटयतर्मोवादिकाल्लुट् । चौरादिकस्य तु मितां ह्रस्व' इति ह्रस्वत्व स्यात् ॥४६॥

सरलार्थः—पुरा दुर्योधनेन सभायां समुपस्थित-जनानां समक्षं 'त्रयोदशवर्षानन्तरं राज्यं युधिष्ठिराय प्रत्यर्पयिष्यामि इति समयः कृतः आसीत्, तमनुलङ्घ्य त्वया कृते आक्रमणे हरिदश्वः सूर्यः उदिते सति यथा सुसङ्कुठितानि पद्मपत्राणि विलग्नानि भवन्ति । तथैव इमे यादवाः दुर्योधनात् विभिद्य अस्मत् पक्षं समाश्रयिष्यन्ति । पूर्वकृतसमयमुलङ्घ्य कृते आक्रमणे परिणामः शुभावहः न स्यात् । नायमभियोगकालः । कालं प्रतीक्षस्व ।

असमये सूर्योदयः न भवति । कृतावधेः पूर्वं त्वयाऽपि अभियोगो न विधेयः ॥४६॥

समासाः—महीभुजः=महीं भुञ्जते ये ते महीभुजः । उपपदसमासः । तान् । मही-भुज्+क्विप् 'प्रविघाटयिता' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ।

कृतावधेः=कृतः अवधिः येन इति । बहुव्रीहिः । तस्य । 'तस्य' इति पदस्य विशेषणमिदम् ।

कमलाकरान्=कमलानाम् आकराः (समूहाः) इति । ष० तत्पु० । तान् । महीभुजः इत्यस्य उपमानमिदम् । अतोऽत्र द्वितीया ।

हरिदश्वः=हरितः अश्वाः यस्य इति । बहुव्रीहिः । 'अभियोगः' इत्यस्य उपमानमिदम् ॥४६॥

- वाच्यपरिवर्तनम्—

  'भवता कृतः अभियोगः इमान् महीभुजः समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरान् इव प्रविघाटयिता ।'—कर्तृ वा०

  'भवता कृतेन अभियोगेन इमे महीभुजः समुत्पतता हरिदश्वेन कमलाकराः इव प्रविघाटयितारः ।'—कर्म वा०

- शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

  अभियोग=अभि—युज+घञ् । भवत्=भा+डवतु ।

अवधि=अव—धा+कि । समुत्पतत्=सम—उत्—पत्+शतृप्रत्ययः । ततश्च प्रथमा । 'अभियोगः' इत्यस्य हरिदश्वः इत्यस्य च विशेषण मेतत् ।

हरित्=हृ+इति । 'हरिद्दिशि स्त्रियां पुंसि हयवर्णविशेषयोः । इति मेदिनीकोषः ।

प्रविघाटयिता=प्र—वि—घट् (भ्वादि)+णिच्+लुट्—ता । चौरादिकस्यतु 'घटयिता' इति रूपम् । 'मितां ह्रस्वः' इत्यनने णिचि ह्रस्वत्वम् ।

अब्ज =‘अश्नुते व्याप्नोति अब्जालम् इति अब्ज । अश्+क्वन् ॥४६॥

संक्षिप्तभावार्थ :—पुरा योऽवधि दुर्योधनेन सह स्थिरीकृत तमनुलङ्घ्य तेन सह कृते विग्रहे यादवैं संहतत् सङ्गठन छिन्नभिन्न स्यात् यथा उदिते दिवाकरे पद्मपत्राणि विघटितानि भवन्ति ॥४६॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलंकार—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

राजाओ का ‘कमलाकर’ के साथ तथा ‘अभियोग’ का हरिदश्व के साथ सादृश्य है ॥४६॥

- शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

‘स्मर शापावधिदा सरस्वतीम् ।’—कुमार० ४।४३

‘एष ते जीवितावधि प्रवाद ।’—उत्तररा० १

‘सम्बध्नता कामिजनेषु दोषा सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टा ।’

—रघु० १६।५०

‘सन्त स्वय परहितेषु कृताभियोगा ।’—भर्तृ० २।७३

‘तस्या कलायामभियोगो भवत्यो ।’—मालवि० १,

‘अभियोगश्च शब्दादेरशिष्टानाम् अभियोगश्चेतरेषाम् ।’—शबरस्वामी

‘वन गोचराभियोगान् ।’—किराता० १३।१०

‘अभियोगमनिस्तीर्य नैन प्रत्यभियोजयेत् ।’—याज्ञ० २।५

\+ \+ \+

- जो नृपगण यादवपक्षीय नही हैं उनका क्या होगा ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं—
- अथ न ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—

उपजापसहान् विलङ्घयन्
स विधाता नृपतीन्मदोद्धत ।
सहते न जनोऽप्यध क्रियां
किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥४७॥

· सुबोधिनी ·

अन्वय —मदोद्धत स नृपतीन् विलङ्घयन् उपजापसहान् विधाता । जन अपि अध क्रिया न सहते, लोकाधिक-धाम राजक किमु ।

शब्दार्थाः—मदोद्धतः=गर्वोन्मत्त। सः=वह, दुर्योधन। नृपतीन्=राजाओं को। विलङ्घयन्=अपमान करता हुआ। उपजापसहान्=फूट पड़ने योग्य। विधाता=करेगा। जनः=साधारण लोग। अपि=भी। अधःक्रियां=अपमान को। न=नहीं। सहेत=सहते हैं। लोकाधिकधामराजकम्=लोकोत्तर तेजस्वी राजा लोग। किमु=कैसे सह पावेंगे? अर्थात् जब साधारण लोग भी अपमान सहने में असमर्थ होते हैं तब लोकोत्तर तेजस्वी राजा लोग भला कैसे अपमान सहन कर सकते हैं? इनके बारे में पूछना ही क्या है?

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन! वह घमण्डी दुर्योधन राजा लोगों का पग-पग पर अपमान करते हुए उनमें फूट डालेगा। साधारण लोग भी अपमान सहन नही कर पाते ऐसी स्थिति में लोकत्तर तेजस्वी ये नृपगण दुर्योधन कृत अपमान को कैसे सह सकते हैं? अर्थात् नहीं सह सकते हैं ।।४७।।

घण्टापथः—उपजापेति ।। मदोद्धतः स दुर्योधनः नृपतीनन्यान्नृपान्विलङ्घय-न्मदादवमानयन्। सहन्त इति सहाः। पचाद्यच्। उपजापस्य सहान्भेदयोग्यान्। 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः। विधाता विधास्यति। दधातेर्लुट्। अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः। न च ते सहिष्णव इत्याह—जन प्राकृतोऽप्यधक्रियाम-पमानं न सहते। लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राजसमूहः। 'गोत्रो-क्षोष्ट्र'—'इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः। किमु न सहत इति किंवक्तव्यमित्यर्थः। तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ।।४७।।

सरलार्थः—हे भीमसेन! ये वृष्णिवंशीयाः नास्ति न वा वृष्णिपक्षीयाः तानपि स गर्वी दुर्योधनः तिरस्करिष्यत्येव। निरस्कृतास्ते तस्मात् विलग्ना भवेयुः। अनायासेनैव तेषु भेदः भवेत्। भेदंगतास्ते अस्मान् एव आश्रयिष्यन्ति। क्षुद्रोऽपिजीव तिरस्कारं न सहते। किमुवक्तव्यं तेषाम्प्रति ये लोकत्तरैस्तेजोभिः विराजन्ते। राजानः साधारणजनवत् तिरस्करणीया न सन्ति राजमदेनोन्मत्तः सः दुर्योधनः आत्मनः समक्षं कमपि न गणयति। सम्प्रति कृतसमयमविगणय्य कृते आक्रमणे तु न तत् फलसिद्धिः। अचिरादेव स तान् अवमानयेत्। एवं सति सर्वेषामेव राज्ञां सहाय्य वयं प्राप्स्यामः ।।४७।।

समासः—उपजापसहान्=उपजापस्य सहाः इति। ष० तत्पु०। तान्। नृपतीन् इत्यस्य विशेषणमिदम्।

मदोद्धतः=मदेन उद्धतः इति। तृ० तत्पु०।

नृपतीन्=नृणां पतय इति । ष० तत्पु० । तान् । 'विधाता' इत्यस्य कर्मणि द्वितीया ।

अध. क्रियाम्=अध क्रिया, सुप्सुपेति समास । ताम् ।

लोकाधिकधाम=लोकेभ्य अधिकम् इति लोकाधिकम् । पञ्चमी तत्पु० । लाकाधिक धाम यस्य तत् । बहुव्री० ।

'राजकम्' इत्यस्य विशेषणमिदम् ॥४७॥

● वाच्य-परिवर्तनम्—

१ 'स मदोद्धत नृपतीन् उपजापसहान् विधाता ।'—कर्तृवा०
२ 'जन अपि अध क्रिया न महत ।' कर्तृवा०
३ लोकाधिकधामराजक किमु (अस्ति) ।—कर्तृवा०
१ तेन मदोद्धतेन नृपतय उपजापसहा विधातार ।'—कर्मवा०
२ 'जनेन अपि अध क्रिया न सह्यते ।'—कर्मवा०
३ 'लोकाधिकधाम्ना राजकेन किमु (भूयते) ।'—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

उपजाप=उप—जप्+घञ् प्रत्यय ।
सहा=सहन्ते इति सहा सह्+अच् (कर्तृवाच्य)=सह ।
विलङ्घयत्=वि—लघि (चुरादि)+णिच्+शतृप्रत्यय. ।

विधाता=वि—धा+लुट्—ता । 'विधाता' इत्यस्य करिष्यतीत्यर्थ । भविष्यत्काल लुट् ।

मद=मद्+अप् । उद्धत=उत्—हन्+क्त प्रत्यय ।
अधस्=अवर+असि । क्रिया=कृ+श (भावे) ।

राजन्=राज्+कनिन् । राज्ञा समूह. इति राजकम् । राजन्+वुञ् (समूहार्थे) मतान्तरे समूहार्थे कन्—प्रत्यय । 'अकन्' वा ।

किमु इत्यव्ययम् ॥४७॥

संक्षिप्तभावार्थ —दुर्योधनस्तु मदोन्मत्त तस्मात् तिरस्कृता राजान अस्मानेव समाश्रयिष्यन्ति । यावत् राजके तिरस्कारजन्योभेद नोत्पत्स्यति तावत् आक्रमण समीचीन नास्ति । समयपरिरक्षणभावे राज्ञा रोषपात्रता स्यात् । सति भेदे आक्रमण समुचितम् । इदानी नैव युक्तम् ॥४७॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ कारण के द्वारा कार्य-समर्थन रूप 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलंकार है।

'मदोद्धत' इस पदार्थ का विलङ्घन हेतु के कारण पदार्थ हेतुक 'काव्यलिङ्ग' नामक अलंकार है। और दोनों की 'संसृष्टि' है ॥४७॥

❸ शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'मदेनास्पृश्ये० ।– दशकु० 'मदविकाराणां दर्शकः ।'—काद० ४५
'मद-मदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागान् ।'– माघ० १०।६१
'मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ।'—चन्द्रा० ५।४५
उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतरत्वयि ।'—माघ २।६६
'नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ।' किराता० १६।४२
'तुरामाह पुरोधाय धाम स्वायं भुव ययुः ।'—कुमार० २।१
'पुण्यं ययास्त्रिभुवन गुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।—मेघ० ३३

\+ \+ \+

❸ वनेचर ने प्रथम सर्ग में दुर्योधन की प्रशसा मे कहा था कि वह दुर्योधन अनुजीवियो के साथ प्रिय मित्रो जैसा व्यवहार करता है ऐसे दुर्योधन मे भी मदोन्मत्तता सभव किस प्रकार है इस आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि—

○ ननु सखीनिवेत्यादि वनेचरोक्त्या तस्य मदसंभावनापि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसम्पदां
हतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां
मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥४८॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—असमापितकृत्यसम्पदाम् अभिमानशालिनां विभूतयः तावता विनयेन हतवेगं मदम् उत्तम्भयितुं प्रभवन्ति ॥४८॥

शब्दार्थ—असमापितकृत्यसम्पदाम्=फलनिष्पत्ति के पूर्व ही प्रारम्भ किया हुआ कार्य अधूरा त्यागने वाले। अभिमानशालिनां=घमण्डी व्यक्तियों को।

विभूतय =ऐश्वर्य । तावता=थोड से । विनयेन=विनम्रता से । हृतवेग= जिसका वेग समाप्त हो चुका है । (ऐसे) मदम्=मदको, घमण्ड को । उत्तम्भ यितुम्=बढाने के लिये । प्रभवन्ति—समर्थ होते हैं ॥४८॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! घमण्डी दुर्योधन दिखावटी नम्रता का प्रदर्शन कर प्रजा को भुलावा दे रहा है । प्रजा को वश मे करने की चेष्टा कर रहा है । जब प्रजा पूर्ण रूपेण उसकी वशवर्तिनी हो जावेगी तब उसका वास्त विक अहकारी रूप फिर स प्रकट हो जावेगा । कार्य को अधूरा छोडने वाले घमण्डी मनुष्य की सम्पत्तियाँ काम चलाऊ नम्रता के द्वारा अल्पवेग वाले अहकार को पुनश्च जाग्रत करन म समर्थ हो जाती हैं ।

घण्टापथ —असमापितेति । असमापितकृत्यसपदामकृतकृत्यानामतोऽभिमान शालिनामहकारिणा विभूतय सम्पद एव तावता स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशा· दारोपितेनति शेप । हृतवेग प्रतिबद्धवेग नतु स्वरूपतो हृत मदमुत्तम्भयितु वर्धयितु प्रभवन्ति । सर्वथा दुर्जनसपदो विकारयन्तीति भाव ॥४८॥

सरलार्थ —यद्यपि मदोद्धताना गर्व कार्यानुरोधेन विनयस्य अत्यल्पत्वात् कुण्ठित भवति । तथापि दुर्जनाना सम्पद एव तेपा मदमत्तना सवर्धयितु शक्नुवन्ति । अत कपटार्जित राज्य स्वायत्तीकर्तु कापट्येन मित्रवद व्यवहार कुर्वनस्तस्य दुर्योधनस्य छद्मता निवारणाय चिरकालस्य अपेक्षा नास्ति । अचिरा देव स स्वयमेव मदोद्धत भविष्यति ।

कार्यसाधनार्थं विनम्रीभूतस्य मद तत सम्पद एव उद्दीपयन्ति । दुर्जन सम्पत्तिलाभेन विनम्रो न भवति । कार्यानुरोधवशात स विनम्रता नाटयति । तस्य विनम्रतानाटय स्वल्प कालिकमेवास्ति । शठानामैश्वर्य जन्यो गर्व कार्यवशात कुण्ठितोऽपि पुन प्रवर्धते, यतस्तेपा विनम्रता स्वाभाविकी नास्ति । हठात् स हितकामान् सुहृदानपि तिरस्कर्तु प्रारभते । कृते च सुहृद्तिरस्कारे भेद प्रादुर्भ- वति । वैरिपु प्रादुर्भूते भेदे आक्रमण हितावह भवति ॥४८॥

समीसा —असमापितकृत्यसम्पदाम्=कृत्याना (कार्याणाम्) सम्पद (उत्कर्ष) इति कृत्यसम्पद । प० तत्पु० । अथवा—कृत्यानि एव सम्पद (समृद्धय) इति कृत्यसम्पद । कर्मधारय । समापिता (निःशेषेण कृता) कृत्य- सम्पद यै इति समापितकृत्यसम्पद । बहुव्रीहि ।

न समापित कृत्यसम्पद इति । नञ समास । तेपाम् । असमापितकृत्य- सम्पदाम् । जनानाम इति अध्याहार्यं पदम् । जनानामित्यस्य विशेषणमिदम् ।

हतवेगम्=हतः वेगः यस्य इति। बहुव्रीहिः। तम्। मदम् इत्यस्य विशेषणमिदम्।

अभिमानशालिनाम्=अभिमानेन शालन्ते (शोभन्ते) ये ते अभिमानशालिनः। उपपद समासः। तेषाम् ॥४८॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'विभूतयः मदम् उत्तम्भयितुं प्रभवन्ति।'—कर्तृवा०

'विभूतिभिः मदम् उत्तम्भयितुं प्रभूयते।'—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अभिमान=अभि—मन्+घञ् प्रत्ययः।

अभिमानशालिन्=अभिमान—शाल+णिन्। ततः शेषे षष्ठी।

समापित=सम्+आप्+णिच्+क्त।

कृत्य=कृ+क्यप् (कर्मणि)।

सम्पद्=सम्—पद्+क्विप् (भाववाच्ये)।

हत=हन्+क्त। वेग=विज्+घञ्।

विनय=वि—नी+अच्।

तावत्=तद्+वतुप् (परिमाणार्थे)।

विभूति=वि—भू+क्तिन्।

उत्तम्भयितुम्=उत्—स्तम्भ्+णिच्+तुमुन्। उत्पूर्वकस्तम्भधातोः सलोपः 'उदस्थास्तम्भोः' इत्यनेन। उत्पूर्वक-स्थाधातोरपि एवं सलोपः यथा—उत्+स्थितः=उत्थितः, उत्+स्थानम्=उत्थानम् ॥४८॥

संक्षिप्तभावार्थः—अहङ्कारिणां सम्पत्तयः क्षणिकेन कृत्रिम-विनयेन निरुद्धप्रसरमहङ्कारं पुनः प्रवर्तयितुं समर्थाः भवन्ति। सर्वथा दुर्जनं सम्पदो विकारयन्तीति भावः ॥४८॥

छन्दः—वियोगिनी।

अलङ्कारः—वृत्त्यनुप्रास तथा पदार्थहेतुककाव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिए—

'सदाभिमानैकधनाहि मानिनः।'—माघ १।६७

'वेणीवीर्यं विभूतिभिः।'—कुमार० २।६२

'भुवनोत्तम्भनस्तम्भान्।'—काद० २६०

'कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।'—रघु० २।१२

— मनु० ७।२३७ व ६७, शाकुन्त० ७।३४

'अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।'—कुमार ४।१५

+ +

• अब मद से उत्पन्न होने वाले अनर्थों के कारणों को युग्म के द्वारा वर्णन करते हैं—

• अथ मदस्यानर्थहेतुता युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं
न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयात्
नयहीनादपरज्यते जनः ॥४६॥

सुबोधिनी

अन्वय —मदमान-समुद्धतं नृपं मूढता नियमेन न वियुङ्क्ते । अतिमूढनयात् उदस्यते, जनः नयहीनात् अपरज्यते ॥४६॥

शब्दार्थ— मदमान-समुद्धतं=मद और अभिमान से उद्धत बने हुए । नृपं= राजा को । मूढता=व्यावहारिक-अज्ञानता । नियमेन=अनिवार्य रूप से । न= नहीं । वियुङ्क्ते=त्यागती है । अतिमूढनयात्=विवेक ज्ञानरहित को नीति के मार्ग से । उदस्यते=पतन होता है । नयहीनात्=नीति विमुख से । जनः= लोग । अपरज्यते=अनुराग त्याग देते हैं ॥४६॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! जो राजा मद और घमण्ड से उद्धत बन जाते हैं उनका कार्याकार्य विवेक ज्ञान लुप्त हो जाता है । व्यावहारिक विवेक ज्ञान नष्ट होने पर उनका नीति मार्ग से पतन होता है । नीतिभ्रष्ट होने पर प्रजाजनों का अनुराग उनमें नहीं रहता है ॥४६॥

घण्टापथ :—मदेति ॥ अपरागेति च ॥ मदमानाभ्यां दर्पाहंकाराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्याकार्यज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न विमुञ्चति । अतिमूढोनयान्नीतिमार्गादुदस्यत उत्क्षिप्यते । कर्मकर्तरि लट् । नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽरक्तो भवति । 'स्वरितजितः'—इत्यादिनात्मनेपदम् ॥४६॥

सरलार्थ —हे भीमसेन ! यस्य राज्ञः दर्पाहङ्काराभ्यां चित्तमवलिप्तं भवति स कार्याकार्यविवेकरहितः भवति, विनष्टे विवेके स नीतिमार्गात् भ्रश्यते ।

जाते नीति-भ्रंशे प्रजाजनाः तस्मिन् अनुरागं न कुर्वन्ति। प्रजानुराग-विहीनस्य नृपस्य राज्यसिंहासनात् परिभ्रंशः अचिरादेव भवति ॥४६॥

समासः— मदमानसमुद्धतम्=मदश्च मानश्च इति। द्वन्द्वः। ताभ्यां मद-मानाभ्यां समुद्धतः इति मदमानसमुद्धतः। तृ० तत्पु०। तम्। 'नृपम्' इत्यस्य विशेषणमिदम्।

अतिमूढः=अतिशयेन मूढः इति। प्रादि समासः।

नयहीनात्=नयेन हीनः इति। तृ० तत्पु०। तस्मात्। अत्र आपदानत्वात् (नयविश्लेषात्) अपादाने पञ्चमी ॥४६॥

वाच्यपरिवर्तनम्—

'मूढता मद-मानसमुद्धत नृप नियमेन न वियुङ्क्ते।'— कर्तृवा०

'मूढतया मद-मानसमुद्धतः नृपः नियमेन न वियुज्यते।'—कर्मवा०

'जनः नयहीनात् अपरज्यते।'—कर्तृवा०

'जनेन नयहीनात् अपरज्यते।'—भाववा०

शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

मद=मद्+अप्। नृप=नृ—पा+क।

वियुङ्क्ते=वि—युज्+लट्—ते। युनक्ति-युङ्क्ते। स्वरादेः स्वरान्तात् च उपसर्गात् परो रुधादिगणीयः युज्-धातुः आत्मने पदी भवति। यथा—वियुङ्क्ते, प्रयुङ्क्ते, उद्युङ्क्ते। वि और प्र स्वरान्त हैं और उत् स्वरादि है। स्वरादि और स्वरान्त सोपसर्ग युज् धातु केवल आत्मनेपदी होता है। 'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्।' इत्यात्मनेपदम्। 'युजिर् (युज्) योगे, ७ रुधादिः, सकर्मकः, अनिट्, उ० प० युग्यं च पत्रे। युग्यो गौः। प्रयोक्तुं शक्यः—प्रयोज्यः, नियोक्तुं शक्यः—नियोज्यः, अन्यत्र च योग्यः। युग्मम्, युगम्, युगलम्, अनुयुङ्क्ते=पृच्छति, नियुङ्क्ते=आज्ञापयति। प्रयुङ्क्ते=निदर्शयति। उपयुङ्क्ते =उपकरोति, उद्युङ्क्ते=प्रारभते।

नियम=नि—यम्+अप्। 'नियमेन' इत्यत्र प्रकृत्यादित्वात् तृतीया विभक्तिः। नियमेन इत्यस्य अवश्यम् इत्यार्थः। यमधातुः उपरमे। अकर्मकः, अनिट्, प० प०। लट्—यच्छति, 'इषुगमियमां छः' इत्यनेन च्छः। लिटि—ययाम्। लुङ्—अयंसीत्। क्तान्तम्—यतः, यता, यतम्। विवाहार्थे तु 'उप' पूर्वको यम धातुः आत्मनेपदी भवति। 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यनेन आत्मनेपदं

स्यात। स्वक्करणम् इ पस्य विवाह इ यर्थ, भार्या वेन स्वीकार स्वरणम्। उपयम =विवाह। यथा—उपयच्छत मीना राम, उपयच्छने कन्या वर।

मूढ =मुह+क्त। अयवा मुग्ध। मूढ+तल्। स्त्रिया टाप्, मूढता, मूग्धता।

—उदस्यते=उत—अस+लट—त। (कर्मकर्तरिवाच्ये) नय—नी+अच्। अत्र बाहुलकात् अच्प्रत्यय। अत्र घञ् प्रत्ययो भवितु युक्त। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यनन श्रि नी भू धातुभ्यश्च 'घञ्' प्र यय। यदा एतेभ्य प्राग् उपसर्गो न तिष्ठनि तदा स्यात। नय इत्यत्र उपसर्गाभावे घञ् प्रत्ययो जात। सस्कृत अग्रेजी कोशकार श्री० वामन शिवराम आपटे महो० ने नय शब्द की व्युत्पत्ति लिखते हुए नी धातु मे अच प्रत्यय जोड कर की है जो चिन्त्य है।

नयात् नयहीनात् इति उभयत्र अपादाने पचमी।

हीन=हा+क्त। लट्—जहाति।

अपरज्यते=अप्—रन्ज्+लट्—ते (कर्तृवाच्ये) ॥४६॥

सक्षिप्तभावार्य —

मदाभिमानाभ्यामवलिप्त चित्त यस्य स पुरुष विवेकात् परिभ्रश्यति, विवेक भ्रष्टश्च नीति नानुसरति, त्यक्तनय पुमान राजा वा जनैरनाद्रीयते। जनैरनादृत पुरुष अचिरादेव राज्यादपि परिभ्रष्टो भवनि। उक्तञ्च—'विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख।' मदाभिमानो च विवेकभ्र शकरौस्त। दुर्योधनश्च मदाभिमानग्रस्त। मदाभिमानाधीन पुरुष सर्वान् निरस्करोति। मदाभिमानिना पुरुषेण कार्यवशात् धारितोऽपि विनय स्थायी नास्ति। मदाभिमानयो विनयस्यच एकाधिकरण्य नास्ति। मदाभिमानिन पुरुषस्य विनयशालिता क्षणिका भवति। विनया भावे औद्धत्यम्, औद्धत्यात् जन-तिरस्कार' जनतिरस्काराच्च सङ्घटनान्तकारीभेद (फूट) प्रादुर्भवनि, प्रादुर्भूतेच भेदे सर्वविनाश ॥४६॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—कारणमाला नामक यहाँ अलकार है।

- शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता।'—विक्रमा० ४।१२

'मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफा।' रघु० ६।७

'मदोद्धता प्रत्यनिलाः विचेरुः ।' कुमार० ३।३२

'जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्यच समागतिः ।'—पंच० १।१०६

—रघु० १६।८१

'मुञ्च मयि मानमनिदानम् ।—गीतगो० १०

'माधवे मा कुरु मानिनी मानमये ।'—गीतगो० ९, माघ० ६।८४, ममिनि० २।५६

\+ \+ \+

- सहनशीलता के लाभ का वर्णन करते हुए—
- सहनशीलतागुणंवर्णयति—

अपरागसमीरणेरितः
क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत् सहिष्णुना
रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥५०॥

:सुबोधिनी:

अन्वयः—अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः महान् अपि रिपुः तरुवत् सहिष्णुना उन्मूलयितुं सुकरः शक्यते ।

शब्दार्थ—अपरागसमीरणेरितः=वायुतुल्य स्वजन-द्वेषादि से चालित । (अतएव) क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः=(वृक्ष पक्ष में) क्रमशः (अल्पीभूत) जिसके मूल (जड़ें आदि बन्धन) शिथिल हो गये हैं। और (राजपक्ष में) प्रकृत्यादिस्व-जनवर्गों का स्नेहादि बन्धन जिसका शिथिल हो गया है। महान्=प्रबल। (वृक्ष पक्ष में) प्रकाण्ड। अपि रिपु=बलवान शत्रु भी। तरुवत्=वृक्ष की तरह। सहिष्णुना=क्षमाशील के द्वारा। उन्मूलयितुम्=उखाड़ने के लिये। सुकरः=सुसाध्य होता है।

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! आपस के द्वेष रूपी झंझावात (आंधी) से झकझोरे हुए क्रमशः जिसके मूल बन्धन (जड़ें) ढीले हो चुके हों (अर्थात् राज पक्ष में—प्रजावर्ग का स्नेहादि बन्धन जिसका विचलित हो चुका हो) उसे महान् वृक्ष की भांति सहनशील राजा के द्वारा सहज उखाड़ फेंकना सम्भव होता है।

राजत्व की स्थिरता प्रजाजन और राज्याङ्गभूत मन्त्री आदि सहायक वर्गों में परस्पर स्नेहभाव, विश्वास आदि पर निर्भर होती है, जैसे—वृक्ष की स्थिरता उसकी मजबूत जड़ों पर निर्भर होती है। झंझावात से जिस वृक्ष की जड़ें विचलित हो चुकी हों उस वृक्ष की स्थिरता नष्ट हो जाती है और उसे आसानी से उखाड़ा जा सकता है। उसी तरह मद और अभिमान से उद्दण्ड व्यक्ति जब अपने हितैषियों का तिरस्कार और अपमान करने लगता है तब आपस में फूट उत्पन्न होती है, द्वेष बढ़ता है। इस बढ़े हुए द्वेष रूपी वायु से जिसके स्नेहरूपी बन्धन शिथिल हो गये हैं, ऐसे राजा को भी आसानी से पदच्युत किया जा सकता है ॥५०॥

घण्टापथ —अपरागोऽप्रीतिः । द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेनेरित-श्चोदितः । अतएव क्रमेण शीर्णा शीर्णीभूताकुला चला च मूलसंततिः प्रकृत्यादि स्वजनवर्गः शिफासंघातश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफानाशा-न्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद्वृक्ष इव सहिष्णुना क्षमावतो न्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः । सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्यो-त्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाला, तस्यादिरुपमा चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥५०॥

सरलार्थ —हे भीमसेन ! वायुचालितवृक्षस्य मूलानि क्रमशः शिथिलानि विच्छिन्नानि च भवन्ति । विच्छिन्नमूलः वृक्षः यथा अनायासेन उन्मूलयितुं शक्यते तथैव मन्त्र्यादि स्वजनानामसम्मानात् राज्यस्य मूलीभूताः प्रकृत्यादयोऽपि औद्धत्य-जन्यद्वेषरूपिणा वायुना विचालिताः सन्तः राजानं परित्यजन्ति, तथा सति अति प्रबलोऽपि स राजा अवसरं प्रतीक्षमाणेन शत्रुणा अनायासेनैव उत्पादयितुं शक्यते ॥५०॥

समासः —अपरागसमीरणेरितः =अपरागः समीरण इव इति । अपराग-समीरणः । उपमितकर्मधारयः ।

'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्यनेन सूत्रेण । तेन ईरितः (प्रेरितः) इति । तृ० तत्पु० ।

क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः =मूलानां सन्ततिः इति मूलसन्ततिः । ष० तत्पु० । क्रमेण शीर्णा इति क्रमशीर्णा । तृ० तत्पु० । क्रमशीर्णा च सा आकुला च इति परपदविशेषणस्यापि विशेष्यत्वकल्पनया कर्मधारय समासः । क्रमशीर्णाकुला मूलसन्ततिः यस्य सः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः इति बहुव्रीहिः । एतत् पदं पूर्वं पद्यस्थ 'रिपु' इत्यस्य विशेषणम् ।

'मूल' इत्यस्य प्रजावर्गसहितः स्वजनवर्गः (शासनाधिकारी वर्गः) इत्यर्थः। वृक्षपक्षे च 'मूलमाद्ये शिफा-मयोः' इत्यमरः। शिफा इत्यर्थः ॥५०॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः महान् रिपुः उन्मूयितुं सुकरः (अस्ति)।'—भाववाच्यम्।

'अपरागसमीरणेरितेन क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिना महता रिपुणा सुकरेण (भूयते)।'—कर्तृवाच्यम।

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अपराग=अप—रञ्ज्+घञ्। अपरज्यते अनेन इति अपरागः द्वेष इत्यर्थः। करण वाच्ये घञ् प्रत्ययः।

'घञि च भावकरणयोः।' इत्यनेन। रञ्ज्=रागे। अकर्मकः। अनिट्। उ० प०। 'रञ्जेश्च'। इनि शपि नकार लोपः। लटि—रजिति-रजते। कर्तृ-वाच्ये शप् भवति। भाववाच्ये करणवाच्ये च घञ् प्रत्ययः भवति। घञि नकार लोपो न स्यात्।

समीरण=सम्—ईर+णिच्+ल्युट् प्रत्ययः। ईरधातुस्तु चौरादिकः। लट्—ईरयति। लिट्—ईरयामास, ईरयाम्बभूव, ईरयाञ्चकार। लुङ्—ऐरिरत्।

क्रम=क्रम्+घञ्। शीर्ण=शृ+क्त।

सन्तति=सम्—तन्+क्तिन्।

सुकर=सु—कृ+खल् (कर्मणि)

तरुवत्=तरु+वति। अत्र उन्मूलनक्रियासाम्यात् 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्-वतिः।' अनेन कथञ्चित् वति प्रत्ययः। तरु इव इत्यर्थे पाणिनीयमतेन वति प्रत्ययो भवितुं नार्हति। षष्ठ्यन्तात् सप्तम्यन्ताच्च इवार्थे 'वति' प्रत्यय सम्मतात्। अतएव अत्र '(रिपुः) तरुणा तुल्यः उन्मूलितो भवति। इति तुल्यार्थ-सत्त्वात् तुल्यार्थे एव वतिः।

यस्तु मल्लिनाथसूरिणा 'तरुवत्' इत्यस्य 'वृक्षइव' इत्यर्थे लिखितः स बालानां सुखबोधाय एव इति मन्ये।

सहिष्णुना=सह+इष्णुच इति सहिष्णुः।' ततश्च 'अनुक्ते कर्तरि तृतीया' जाता।

'सुकर' इति खल् प्रत्ययान्तेन योगे अत्र तृतीया जाता। 'लोकाव्यय' इत्यादिना कर्तरि षष्ठी निषेधात।

उन्मूलयितुम्=उत्—मूल (चुरादि)+णिच्+तुमुन्।

● संक्षिप्तभावार्थ —

विच्छिन्नमूलो वृक्ष यथा अनायासेनैव उन्मूलयितु शक्यते तथैव मदोद्धत्य-जन्यतिरस्कारात प्रादुर्भूते भेदे स्वजनद्वेषादिना चालित प्रकृत्यादिस्वजनवर्ग नृप शत्रु (विच्छिन्नमूलतरुवत्) सहिष्णुना उन्मूलयितुम् अनायासेनैव शक्यते ॥५०॥

छन्द —वियोगिनी।

अलंकार —यहा पर पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है। 'मूल-मन्तनि।' इसम अर्थ द्वय के कारण श्लेष मूलक उपमा है। म० म० मल्लि-नाथ के अनुसार 'कारण माला' भी है और उपमा तथा कारण माला निरपे क्षताजन्य संसृष्टि है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये—

'समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य।'

—कुमार ३।२१, १।१

'ऐरिरच्च महाद्रुमम।'—भट्टि० १५।५८

'इतीरयन्तीव तथा निरैक्षि०।' नैषध० १४।२१, माघ, ६।६६, किराता० १।२६ रघु० ६।८, मातंगली, १।२५

'वातेरितपल्लवांगुलिभि।'—शाकु० १

'उदीरितोर्थ पशुनाऽपि गृह्यते।'—पंच० १।४३, रघु० २।६

'न पादपोन्मूलनशक्तिरंह।'—रघु० २।३४

'नवसरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकर समुद्धर्तुम्।'—मालवि० १।८

+ + +

● केवल आन्तरिक फूट होने से ही शत्रु कैसे सुसाध्य होता है यह बतलाते हैं—

● मन्त्रन्तर्भेदमाश्रित्य कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः
प्रभुमन्तः प्रकृति प्रकोपजः।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं
तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥५१॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—अणुः अपि अन्तः प्रकृतिप्रकोपजः विग्रहः प्रभुम् उपहन्ति। तरुशाखान्तनिघर्षजः अनलः अखिलं भूधरं हिनस्ति हि।

शब्दार्थ—अणुः=स्वल्प, थोड़ा-सा। अपि=भी। अन्तः प्रकतिप्रकोपजः=अन्तरङ्गजनों (आत्मीय जन) के कुपित होने से उद्भुत। विग्रह=वैर। प्रभुम्=स्वामी को, राजा को। उपहन्ति=नष्ट कर देता है। इसमें दृष्टान्त तरुशाखान्तनिघर्षजः=वृक्ष की शाखाओं की आपस की रगड़ से उत्पन्न। अनलः=अग्नि। आखिलं=सम्पूर्ण। भूधरं=पार्वत्य (पहाड़ी) प्रदेश को। हिनास्ति=विनष्ट कर डालता है ॥५१॥

हिन्दी अनुवादः—हे भीमसेन ! मन्त्री आदि अन्तः प्रकृति अपमान आदि से प्रताड़ित होने पर क्षुब्ध और क्रुद्ध होती है। अन्तः प्रकृति के कोप से प्रादुर्भूत आपसी विग्रह अत्यल्प होने पर भी प्रभुको (राजा को) नष्ट कर डालता है। जैसे—वृक्ष की शाखाओं की आपस में होने वाली रगड़ के कारण उत्पन्न आग की अत्यन्त छोटी सी चिनगारी भी सम्पूर्ण पार्वत्य प्रदेश के घास-फूस को जलाकर नष्ट कर देती है।

घण्टापथः—अणुरिति ॥ अणुरल्पोऽप्यन्तः प्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गामात्याद्यपरागसमुत्थः। 'प्रकृति : पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे। छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिकेष्वपि ॥' इति वैजयन्ती। विग्रहोवैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति। अत्र दृष्टान्तमाह=तरुशाखान्तानां निघर्षो घर्षण तज्जोऽनलोऽग्निः भूधरं गिरिमखिलं साकल्येन हिनस्ति हि। दहतीत्यर्थः। अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां प्रतिबिम्बतया निर्देशनदृष्टान्तालंकारः ॥५१॥

सरलार्थः—हे भीमसेन ! यदा शास्य-शासकयोर्मध्ये, (राजामात्ययो.मध्ये) भेदवशाच्च वैर ग्रन्थिः स्वल्पतमापि समुद् भवति तदा तस्य प्रभोः विनाशः अचिरेणैव भविता इति सुनिश्चितमस्ति। यथा तरुशाखानिघर्षणजन्योऽग्निः समग्र

पार्वत्यप्रदेश दहति विनाशयति च। तथैव मद-मानाभ्यामुद्दण्डता नीत प्रभुरन्तरङ्गजनान् तिरस्करोति। अपमान-प्रताडितास्ते अमात्यादय तस्मिन् प्रभौ नानुरज्यन्त। परस्परानुरागशून्य चतमि भेदबुद्धि प्रादुर्भवति। उदिते भेदे अमात्यादय अन्त छिद्राणामवगमात् अनायासेनैव प्रभो अनिष्टमाचरितु शक्नुवन्ति। यथा तरुशाखान्तघर्षणजेनाग्नि स्फुलिङ्गेन क्षुद्रेणापि समग्र वन यथा भस्मनाचयता प्राप्नोति तथैव स्वल्पनापि अन्तर्भेदेन प्रभो विनाश भवत्येव, एतावत्प्रकारण अन्तर्मदमात्रण शत्रु सुसाध्यो भवति ॥५१॥

समासा —अन्त प्रकृतिप्रकोपज =अन्तर्भूता (अन्तरङ्गा वा) प्रकृतय इति शाकपार्थिवादिवत् मध्यमपदलोपी कर्मधारय। तासा प्रकोप इति। ष० तत्पु०। तस्मात् जायत य स इति उपपदसमास।

अन्त प्रकृतिप्रकोप—जन्+ड।

भूधरम्=भुव धर इति। ष० तत्पु०। तम्।

धर—धृ+अच्।

तरुशाखान्तनिघर्षज =तरणा शाखा इति तरुशाखा। ष० तत्पु०। तासाम् अन्ता इति। ष० तत्पु०। तया निघर्ष इति। ष० तत्पु०। तस्मात् जायते य. स इति उपपद समास। अनल इत्यस्य विशेषणमिदम्।

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'अणु अन्त प्रकृति-प्रकोपज विग्रह प्रभुम् उपहन्ति।'

'अणुना अन्त प्रकृति-प्रकोपजेन विग्रहेण प्रभु उपहन्यते।'

—कर्तृवाच्यात् कर्मवाच्यम्।

'तरुशाखान्तनिघर्षज अनल अखिल भूधर हिनस्ति।'

'तरुशाखान्तनिघर्षजेन अनलेन अखिल भूधर हिंस्यते।'

कर्तृवाच्यात् कर्मवाच्यम।

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

विग्रह=वि—ग्रह+अप। विग्रह इत्यस्य वैर इत्यर्थ। (शत्रुत्वम्)। प्रभु=प्र—भू+डु। अत्र 'अणु' शब्दार्थ अल्प, अन्यत्र च अणु शब्दार्थः वस्तूनाम् आदि कारणम्। सूक्ष्मतमम।

उपहन्ति=उप—हन्+लट्—ति।

प्रकृति=प्र—कृ+क्तिन्। प्रकोप=प्र—कुप्+घञ। लट्—कुप्यति।

हिनस्ति=हिनस्+लट्—ति । लिट्—जिहिंस । लुङ्—अहिंसीत । हिनस्ति इत्यस्य दहति इत्यर्थः अन्यत्र च नाशयति इत्यर्थः ।

घण्टापथनिर्मातृणा म० म० **मल्लिकनाथसूरिणा** अत्र हिनस्ति इत्यस्य दहति इत्यर्थं कृत्वा दृष्टान्ताख्यः अलङ्कारः प्रतिपादिदितः । वस्तुतः अत्र नाशयतीत्येवार्थः, दहति इति च भावार्थः ।

निघर्ष=नि—घृष्+घञ् । लट्—घर्षति । लिट्—जघर्ष । लुङ्—अघर्षीत् । क्तान्तम्—घृष्टः, घृष्टा, घृष्टम् ॥५१॥

● संक्षिप्तभावार्थः—

क्षुद्रोऽपि अन्तरङ्गविग्रहः राजानं विनाशयति, यथा दावाग्निः समग्रं वन्यप्रदेश दहति ॥५१॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—यहाँ घण्टापथकार के मतानुसार दृष्टान्तालङ्कार है । किन्तु साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—'उपहन्तं हिंसा च क्रिया एकैव पुनरुक्तिनिरासाय भिन्न वाचकतया निर्दिष्टा इति प्रतिवस्तूपमैव ।

साहित्यदर्पणकार का मत अधिक समीचीन है, अन्यथा प्रतिवस्तूपमा निर्विषय होने की आपत्ति उपस्थित हो सकती है ।

प्रतिवस्तूपमा नामक अलङ्कार का लक्षण देखिये—

'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद वाक्योर्गम्यसाम्ययोः
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥,

साहित्यदर्पणकार के मतानुसार यहां प्रतिवस्तूपमा है ॥५॥

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अणोरणीयान् महतो महीयान् ।' गीता० ८।९
'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं० ।'—भर्तृ० ७८
'सरसिजमनुविद्धं शेवलेनाऽपि रम्यम् ।' शाकु० १।२०
'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी, ।' शाकु०
'एतद्धि मत्तोऽविजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।'—मनु० १।५९

+ + +

● फिर भी वर्धमान शत्रु की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? इस आशङ्का का समाधान

करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि शत्रु दुर्विनीत है। बुद्धिमान्, दुर्विनीत शत्रु की उपेक्षा करे—

तथापि कथं वर्धमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान् विनयप्रमाथिनः
समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे
विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥५२॥

सुबोधिनी :

अन्वय —मतिमान् विनयप्रमाथिनः द्विषः समुन्नतिं समुपेक्षेत तादृक् अन्तरे सुजयः खलु। हि (यतः) अविनीतसम्पदः विपदन्ताः।

शब्दार्थ—मतिमान्=बुद्धिसम्पन्न पुरुष। विनयप्रमाथिनः=अविनयी। द्विषः=शत्रु की। समुन्नतिं=उत्कर्ष को। समुपेक्षेत=उपेक्षा करे। तादृक्=वैसा, अविनयीशत्रु। अन्तरे=क्वचित् प्रमाद होते ही, विपत्ति आते ही। सुजयः खलु=सचमुच सहज अनायास जीता जा सकता है। हि=क्योंकि। अविनीतसम्पदः=अविनयी (उद्दण्ड, मदोद्धत की सम्पत्ति, ऐश्वर्य)। विपदन्ताः=विपत्तियों के द्वारा ही समाप्त होने वाली होती हैं।

हिन्दी अनुवाद—बुद्धिमान् व्यक्ति अविनयी, उद्दण्ड, मदोन्मत्त अतएव प्रमादशील शत्रु की उपेक्षा करता रहे उसकी उन्नति की चिन्ता न करे। क्योंकि ऐसे अविनयी शत्रु स्वभावतः ही प्रमादशील होते हैं, वे अपने किये हुए प्रमाद के द्वारा ही विपत्तियों को आमन्त्रित करते हैं। विपद् प्राप्त शत्रु को जीतना सरल होता है। क्योंकि अविनयी व्यक्ति को प्राप्त हुई सम्पत्ति, वह रक्षण करने में अपने ही स्वभावदोष के कारण असमर्थ होता है। अविनयी पुरुष की सम्पत्तियों का अन्त उसी के द्वारा बुलायी गई विपत्तियों में हुआ करता है। अविनयी पुरुष के पास सम्पत्ति टिकती नहीं है। अतः वर्धमान अविनयी शत्रु को बुद्धिमान् पुरुष उपेक्षा करते हैं। जो सहज साध्य है उसके लिये प्रयत्न करने में शक्ति का व्यय क्यों किया जाय? ॥५२॥

घण्टापथ —मतिमानिति॥ मतिमान्प्राज्ञः। विनयं प्रमथ्नातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नतिं वृद्धिं समुपेक्षेत। उपेक्षायाः फलमाह—तादृग्विनीतोऽन्तरे क्वचिद्रन्ध्रे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यः खलु। हि यस्मादविनीतसम्पदो विपदन्ता विपन्मर्यादका, अनर्थोदर्का इत्यर्थः ॥५२॥

सरलार्थः—हे भीमसेन ! अविनयी पुरुषः खलु येन केनाऽपि प्रकारेण सम्पत्तिमलब्ध्वाऽपि तस्याः संरक्षणे सर्वथा असमर्थः भवति । तस्य स्वाभाविकी उच्छृङ्खलता एव तं विपद्ग्रस्तं करोति । *अतः बुद्धि-सम्पन्नः पुरुषः वर्धमानमपि* विनय-शून्यं शत्रुं प्रसङ्गं ज्ञात्वा उपेक्षेत । प्राप्ते रन्ध्रे अनायासेनैव जेतुं तं शक्नुयात् ॥५२॥

समासाः—विनयप्रमाथिनः=विनयं प्रमथ्नाति यः सः विनयप्रमाथी । उपपद समासः । तस्य । 'द्विषः' इत्यस्य विशेषणम् इदम् ।

विपदन्ताः=विपत् अन्ते अवसाने यासां ताः इति । बहुव्रीहिः ।

अविनीतसम्पदः=न विनीताः इति अविनीताः । नञ्समासः ।

तेषां सम्पदः इति अविनीतसम्पदः । ष० तत्पु० ।

'भवन्ति' इति उह्यमानक्रियायाः कर्तरि प्रथमा ।

● **वाच्य-परिवर्तनम्**

'मतिमान् समुन्नतिं समुपेक्षेत ।' कर्तृवा० ।

'तादृक् सुजयः (भवति) । कर्तृवा० ।

'अविनीत-सम्पदः विपदन्ताः (भवन्ति) ।' कर्तृवा० ।

'मतिमता समुन्नतिः समुपेक्ष्येत ।' कर्मवा०

'तादृशा सुजयेन (भूयते) ।' भाववा०

'अविनीतसम्पद्भिः विपदन्ताभिः (भूयते) ।' भाववा०

● **शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण**—

मतिमान्=मन्+क्तिन्=मति । मति+मतुप्=मतिमत्, ततः प्रथमा ।

विनयप्रमाथिन्=विनय—प्र+मन्थ+णिनि ।

समुपेक्षेत=सम—उप—ईक्ष्+विधिलिङ्—ईत ।

समुपेक्षितुं शक्नुयात् इत्यर्थः । शक्यार्थे विधिलिङ् ।

समुन्नति=सम—उत्—नम्+क्तिन् ।

द्विषः=द्विष्+क्विप् ।

सुजय=सु—जि+खल् ।

खलु=इत्यव्ययम् ।

तादृक्=तद्—दृश्+क्विन् । ततः प्रथमा । 'आसर्वनाम्नः' इत्यनेन तद्

इत्यस्य दकारस्थाने आकारो जात ।

अन्तरे—इति भावार्थे सप्तमी विभक्ति ।

अन्तरे इत्यस्य रन्ध्रे सति इत्यर्थं ।

विपद्=वि—पद्+क्विप् ।

विनीत=वि—नी+क्त ।

हि—हेत्वर्थद्योतकमव्ययमिदम् ।

सम्पद्=सम—पद्+क्विप ।

संक्षिप्त भावार्थ—*अविनीतस्य शत्रो उन्नति उपेक्षणीया अस्ति यत तेषा* सम्पद विपदन्ता भवन्ति । अविनय एव तेषा विपत्ति—कारण भवति । विपद्ग्रस्त शत्रु सुखेन जेतु शक्योऽस्ति । दुर्योधन राज्यमदेनोन्मत्त सजात, स स्वभावत एव अविनयी वर्तते । तस्य अविनयादेव अचिरादेव स विपद्ग्रस्त भविष्यति विपद्ग्रस्ते सति स सुजय भवेत् ॥५२॥

छन्द—वियोगिनी ।

अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास अलकार यहाँ है । कारण के द्वारा कार्य समर्थन यहाँ वर्णित है ॥५२॥

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसधान कीजिये—

'मतिरेव बलाद् गरीयसी ।'—हितो० २।८६

'ममतु मतिर्न मनागपैतु धर्मात् ।'—भामि० ४।२६

'अल्प-विषया मति ।'—रघु० १।२

'विधिरहो बलवानिति मे मति ।'—भर्तृ० २।९१

'प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ।'—रघु० ८।९४

'मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत् कृच्छ्रम ।'—मनु० ४।२२३

बहुमतिमधिका ययावशोक परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ।—किराता० १०।९

'क्व रुजा हृदय-प्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।'—मालवि० ३।२, मातगली० २।१, किराता० ३।१४, गीता २।६०, ६।२४, रघु० ११।५८, किराता० १७।३१,

'लीयन्ते मुकुलान्तरेषु ।'—रत्ना० १।२६

'न मृणालसूत्र रचितं स्तनान्तरे ।'—शाकु० ६।१७

'मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ।'—कुमा० १।४०
'पौरुषंश्रय शोकस्य नान्तरं दातुमर्हसि ।' रामा०
'लेभेन्तरं चेतसि नोपदेशः ।'—रघु० ६।६६
'मासान्तरे देयम् ।—अमरु०
'तव मम च समुद्र-पल्वलयोरिवान्तरम् ।'—मालवि० १
'कन्यान्तरम्', 'गृहान्तरम्', 'राजान्तरम्', 'इदमवस्थान्तरमारोपिता ।' —शाकु० ३,
'नान्तरज्ञा श्रियोजातु प्रियैरासां न भूयते ।'—किरा० ११।२४

+ + + +

● दुर्विनीत शत्रु किस प्रकार आसानी से जीता जा सकता है इस आशंका का समाधान करने के लिये कहते हैं कि—

● कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादि त्याह—

लघुवृत्तितया भिदां गतं
वहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः
शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥५३॥

सुवोधिनी :

अन्वयः—लघुवृत्तितया वहिः अन्तश्च भिदां गतं नृपस्य मण्डलं अनन्तरः आपगारयः शिथिलं कूलमिव अभिभूय हरति ।

शब्दार्थ :—लघुवृत्तितया=दुर्वृत्तता के कारण, असद् आचरण के द्वारा । वहिः=वाहर । अन्तश्च=और अन्दर अर्थात् अपने राज्य में और पड़ोस के मित्र राज्यों में भी । भिदां गत=भेद को प्राप्त हुए । नृपस्य मण्डलं=राज समुदाय को । अनन्तरः=समीपस्थ । आपगारयः=नदी का वेग । शिथिलं कूलमिव=कमजोर किनारों की तरह । अभिभूय=आक्रमण कर । हरति=विनाश करते हैं ॥५३॥

हिन्दी अनुवाद—हे भीमसेन ! मदोन्मत्त अभिमानी राजा अपने तुच्छ व्यवहार के कारण पड़ोसी राजाओं को तथा अपने राज्य के मन्त्री वर्ग और प्रजावर्ग को कुपित करता रहता है फलतः अपने और पराये, घर के और

बाहर के सभी लोगों का प्रेम वह खो बैठता है और आपस में फूट (भेद) पैदा होती है। मित्र राजाओं में तथा अपने मन्त्रीवर्ग और प्रजावर्ग में क्रमश भेद बुद्धि पनपने पर जिस तरह नदी के वेग से जर्जरित हुए दोनों किनारों को स्वयं नदी ही गिराकर नष्ट कर डालती है उसी प्रकार आन्तरिक भेद से जर्जरित मित्रराजमण्डल एवं अमात्यादिप्रकृति-मण्डल वाला दुर्वृत्त राजा अपने ही तुच्छ व्यवहार के कारण विनाश को प्राप्त होता है ॥५३॥

घण्टापथ —लघ्विति। लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तिरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तरमात्यादिषु च भिदा भेद गतम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ् प्रत्यय। नृपस्यमण्डल राष्ट्रमनन्तर सन्निहितो जिगीषुरापगारयो नदीवेग शिथिलमन्तर्भेदजर्जरं कूलमिवाभिभूयान्स्य हरति ॥५३॥

सरलार्थ —हे भीमसेन!

असद्वृत्तो हि नृप स्वस्य हेयाचरणेन बहि स्थिताना सुहृद्भूताना भूपतीना कोप जनयति। तेन हेतुना तेषा राज्येषु सर्वजना तस्मात् विमुखा भवन्ति, अन्तरङ्गभूतान् अमात्यादीन् च तिरस्कृत्य स्वस्मात वैर भेद च उत्पादयन्ति। प्रादुर्भूते च भेदे प्रक्षीणबलस्य राज्ञ राज्य परस्परभेदवशाच्च अरक्षित जायते। यथा नदी तट ऊर्मीणाम् आघातै जर्जरता याति जर्जरीभूत तट यथा नदीवेग पातयति तथैव आन्तरिक भेदेन जर्जरीभूत मित्रामात्यादिमण्डल नृप समीपस्थेन विजिगीषुणा राज्ञा आक्रम्य अनायासेनैव विनाश्यते ॥५३॥

समासा —लघुवृत्तितया=लघु वृत्ति यस्य स लघुवृत्ति इति। बहुव्रीहि। तस्य भाव इति लघुवृत्तिता। तया।

लघुवृत्ति+तल्=लघुवृत्तिता (स्त्रि०) ततश्चहेतौ तृतीया।

अनन्तर=नास्ति अन्तर (व्यवधान) यस्य स। इति अनन्तर। बहुव्रीहि। सन्निहित इत्यर्थ।

आपगारय=अपा समूह इति आपम्।

अप्+अण (समूहार्थे)। आपेन गच्छति इति आपगा। उपपदसमास।

नदीत्यर्थ। तस्या (नद्या) रय। आपगारय। ष० तत्पु०। आप—गम+ड। तत स्त्रियां टाप्। अत्र अनन्तर इति उपमेयम्, आपगारय इति च उपमानम। नृपस्य मण्डलम् इति उपमेयम्। शिथिल कूलम् इति च उपमानम् इति उपमेयोपमानयोर्विवेक। ॥५३॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'अनन्तर: आपगारय: शिथिल कूलम् इव नृपस्य मण्डलं हरति ।'—कर्तृ वा०

'अनन्तरेण आपगारयेण शिथिल कूलम् इव नृपस्य मण्डलम् ह्रियते ।' —कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

वृत्ति=वृत्+क्तिन्प्रत्यय: ।

भिदा=भिद्+अङ् (भाववाच्ये) स्त्रियां च टाप् । बहि: अन्तश्च इत्युभौ पदौ अव्ययौ स्त: । शिथिल=श्लथ्+किरच् ॥५३॥

संक्षिप्तभावार्थ:—हे भीमसेन ! यथा नदी प्रवाह-रय-जर्जरितं तटं विनाशयति तद्वत् अन्तर्भेद-जर्जरित: नृप: स्वकीयेन कुत्सित-व्यवहारेण भिद्यते । अविनीत: मदमत्त: नृप: गर्वमूलकतिरस्कारेण प्रजाजनेषु मन्त्रिवर्गेषु च भेदं जनयति, जनिते च भेदे तस्य सामर्थ्यं विनश्यति । विनष्टे च बले, जर्जरित: स: नृप: निकटस्थितेन नृपेण अवसरं प्राप्य आक्रम्य च पराभूयते । नद्या: तटं प्रवाह-रयेण यथा जर्जरित भवति, तथैव राज्ञ: मदजन्यतिरस्कारेण तज्जन्येनभेदेनच मन्त्रिवर्ग: प्रजावर्गश्च जर्जरित: भवति । राज्यस्य स्थैर्यं अमात्यादीनां सङ्गठनेन प्रजा-जनानां स्नेहेन च भवति । भेद-जर्जरितस्य राज्ञ: विनाश: तस्य दुराचरणेनैव सम्भवति ॥५३॥

छन्द:—वियोगिनी ।

अलङ्कार:—यहाँ उपमा अलंकार है ।

शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसंधान कीजिए—

'तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि याचक: ।'—सुभा०

'रिक्त: सर्वो भवति हि लघु: पूर्णता गौरवाय ।'—मेघ० २०, रघु० ८।६२

'लघु सन्देशपदा सरस्वती'—रघु० ८।७७

'कायस्थ इति लव्वी मात्रा ।'—मुद्रा० १, माघ, ६।२६

'कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने ।'—शाकु० ४।१८

'वैतसीं वृत्तिम् ।' 'वार्धके मुनिवृत्तीनाम् ।'—रघु० १।८

'सद् वृत्ति: सन्निवन्धना ।'—माघ० २।११८

+ +

व्यासमुनिराजगाम—

● शत्रु के दुर्व्यवहार से उद्विग्न भीमसेन को धर्मराज युधिष्ठिर समझा

● बुझा रहे थे, इसी समय वहां मनोरथ सिद्धि स्वरूप व्यासजी पधारे—

Topic changed here

अनुशासतमित्य[1]नाकुल
नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छित
तमभीयाय पराशरात्मज ॥५४॥

पराशरात्मज पुत्र व्यास

सुबोधिनी

अन्वय —इति आकुल अर्जुनाग्रज नयवर्त्म अनाकुलम अनुशासत त (युधिष्ठिरम्) पराशरात्मज स्वयम् अभिवाञ्छित इव अभीयाय।

शब्दार्थ —इति=इस प्रकार से। आकुल=शत्रु के दुर्व्यवहार से व्याकुल हुए। अर्जुनाग्रज =अर्जुन के बड़े भाई भीमसेन को। नयवर्त्म=नीति (राजनीति) मार्ग को । अनाकुलम्=विस्तारपूर्वक । अनुशासत=उपदेश करते समय। तम=युधिष्ठिर के प्रति। पराशरात्मज =पराशर ऋषि के पुत्र भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास जी। स्वयम्=अपनी इच्छा से। अभिवाञ्छित = इच्छित। अर्थइव=मनोरथ की तरह (मूर्तिमन्त होकर मानो व्यास के रूप में)। अभियाय—प्राप्त हुए।

हिन्दी अनुवाद—शत्रु के दुर्व्यवहार से अत्यन्त उद्विग्न हुए भीमसेन को जो अर्जुन से बड़े थे, धर्मराज युधिष्ठिर सान्त्वना और धीरज देते हुए राजनीति के अत्यन्त गुह्य रहस्यों को उपदेश के द्वारा अत्यन्त विस्तार के साथ हृदयगम करा रहे थे, उसी समय मानो मनोरथ-सिद्धि मूर्तिमन्त होकर व्यास जी के रूप में साक्षात् उस राजा युधिष्ठिर के पास स्वयं पधारी ॥५४॥

घण्टापथ —अन्विति ॥ इतीत्थमाकुलमरिनिकारस्मरणात्क्षुभितमर्जुनाग्रज भीमसेन नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसकीर्णं यथा तथानुशासतमुपदिशन्तम् । 'जक्षित्यादय षट्' इत्यभ्यस्तात्च्छतुर्नुममाव । त युधिष्ठिर पराशरात्मजो वेदव्यास । स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ इव साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा। अभीयाय प्राप्त. ॥५४॥

सरलार्थ —यदा धर्मराजोयुधिष्ठिर शत्रुकृतसन्तापेनोद्विग्न भीमसेन पूर्वोक्त-

---

१ 'अनाविलम्' इति पाठ महामहोपाध्यायाना प० मुमनगावकरशास्त्रिणा प्राचीने हस्त लिखिते ग्रन्थे विद्यते।

रीत्या सान्त्वयन् राजनीतिरहस्यम् उपादिशत् तदैव पराशरात्मजः महामुनिर्व्यासः तत्र मूर्तिमन्तं मनोरथमिव स्वयमेवाविर्बभूव ।

तत्र व्यासस्यागमनम् अयत्नलब्धासिद्धिरिव संजातम् ॥५४॥

समासः—अनाकुलम्=न आकुलम् इति । नञ्समासः । तत् ।

अर्जुनाग्रजम्=अर्जुनस्य अग्रजः इति । ष० तत्पु० । तम् अग्रे जायते यः सः अग्रजः । उपपदसमासः ।

पराशरात्मज=आत्मनः जायते यः सः आत्मजः । उपपदसमासः । पराशरस्य आत्मजः इति । ष० तत्पु० ।

नयवर्त्म=नयस्य वर्त्म इति । ष० तत्पु० । अत्र अनुशासतम् इति पदस्य कर्मणि द्वितीया विभक्तिः ।

अनाकुलम्=इत्यत्र क्रिया विशेषणत्वात् द्वितीया विभक्तिः ॥५४॥

● वाच्य-परिवर्तनम्—

'इति आकुलम् अर्जुनाग्रजम् नयवर्त्म अनाकुलम् अनुशा[1]सतं तं (युधिष्ठिरं) पराशरात्मजः अभिवाञ्छितः अर्थः इव अभियाय ।'—कर्तृवा०

'इति आकुलम् अर्जुनाग्रजम् नयवर्त्म अनाकुलम् अनुशासत् सः (युधिष्ठिरः) पराशरात्मजेन अभिवाञ्छितेन अर्थेन इव अभीये ।'—कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अग्रज=अग्र—जन्+ड ।

आत्मज=आत्मन्—जन्+ड ।

अनुशासतम्=अनु—शास्+शतृप्रत्ययः । ततो द्वितीया विभक्तिः । तम् इत्यस्य विशेषणम् ।

शास् धातुः द्विकर्मकः, अतः 'अर्जुनाग्रजम्' इति गौणकर्म तथा च 'नयवर्म' इति मुख्यं कर्म । नय—नी+अच् । वर्त्म=वृत्+मनिन् ।

स्वयम् इति अव्ययम् । प्रकृत्यादित्वात् तृतीया विभक्तिः ।

अभिवाञ्छितः=अभि—वाञ्छ्+क्त ।

---

१. शतृ प्रत्ययान्त अनुशासत शब्द का 'अनुशासतम्' यह युधिष्टिर का विशेषण है तथा भीम के सभी विशेषण कर्म कारक में हैं अतएव दोनों वाच्यों में वे अपरिवर्तित ही रहेंगे ।

अर्थ=अर्थ+अच् (कर्मणि)। अर्थ्यते प्रार्थ्यते य स अर्थ.।

अभियाय=अभि—इण्+लिट्—थ। लट्—अभ्येति। लुङ्—अभ्यगात् ॥५४॥

संक्षिप्त भावार्थ—यदा धर्मराजो युधिष्ठिर शत्रुतापखिन्न भीमसेनमुपादिशत्तदा स्वयमेव पराशरात्मजोव्यास तत्र आजगाम व्यासस्यागमन नाम साक्षात् मनोरथ-सिद्धि मूर्तिमती भूत्वा व्यासरूपेण समागता इति मन्ये ॥५४॥

छन्द—वियोगिनी।

अलङ्कार—यहा पर 'अभिवाञ्छितोऽर्थ इव' इति उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'राम रामेति रामेति कूजन्त मधुराक्षरम्।'—रा० र०

'चयस्त्विषामित्यवधारित पुरा' ' ' क्रमादमु नारदइत्यबोधि स।'

—माघ० १।३

'विष-वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वय छेत्तुमसाम्प्रतम्।'—कुमा० २।५५

'यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा०।'—सुना०

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ०।'—रघु० १।१

'पश्यामीव पिनाकिनम।'—शाकु० १।६

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि०।'—मृच्छ० १।३४

'पारसीकास्ततो जेतु प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।'—रघु०

'मम वर्त्मानु गच्छन्ति मनुष्या पार्थ सर्वश।'—गीता० ३।२३

'अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयिणी भवामिते।'—कुमार० ४।८०

'न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयताम्।'—किराता० १४।१४

\+ \+ \+

● धर्मराज युधिष्ठिर के पास आये हुए व्यासमुनी कैसे हैं इसका वर्णन महाकवि भारवि युग्मश्लोकों के द्वारा करते हैं—

● अथ युग्मेनाह[1]—

---

१ जहाँ दो श्लोकों का एकत्र अन्वय कर अर्थ पूर्ण होता है। उसे युग्म कहा जाता है।

मधुरैरवशानि लम्भयन्
अपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां
दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥५५॥

सुबोधिनी :

अन्वयः— । मधुरैः निरीक्षितैः अवशानि तिर्यञ्चि अपि शमं लम्भयन्, परितः पटु एनसां दहनं विलोकनक्षमं धाम बिभ्रत् । (सः मुनिः जगतीभुजा सविस्मयं ददृशे) इतिपरेणान्वयः ।

शब्दार्थः—मधुरैः=शान्त । निरीक्षितैः=दृष्टि से । अवशानि=प्रतिकूल । तिर्यञ्चि=मृगपक्षी आदिक । अपि=भी । शमं=शान्ति को । लम्भयन्=प्राप्त कराते हुए । परितः=चारों ओर । पटु=चतुर । एनसां=पापों को । दहनं=विनाशक । विलोकनक्षमं=दर्शनीय । धाम=तेज को । बिभ्रत=धारण करते हुए । सः मुनि=वह । जगतीभुजा=राजा के द्वारा । सविस्मयः-आश्चर्य के साथ । ददृशे=देखा गया ।

हिन्दी अनुवाद—अपनी शान्त दृष्टि से शत्रु मित्र पशु पक्षी सभी को आश्वस्त करते हुए, पापनाशक, उज्वल तथा देखने योग्य तेज को धारण करने वाले आदरणीय व्यासजी को धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा ॥

घण्टापथः—मधुरैरिति ॥ मधुरैः शान्तै निरीक्षितैरक्षि लोकनैः । नपुंसके भावेक्तः । न विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तान्यन्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च' इति विश्वः । तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं लम्भयन्प्रापयन् । 'लभेश्च' इति नुमागमः । 'गत्यर्थ'—इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । परितः पटूज्ज्वलमेनसाम् । दह्यतेऽनेनेति दहनं निवर्तकं तथापि विलोकनक्षमं दर्शनीयम् । वह्न्यादिविलक्षणमिति भावः । धाम तेजो बिभ्रत् ॥५५॥

सरलार्थः—व्यासमुनिनामागमन-समये तेषां करुण-दृष्ट्या मृगपक्ष्यादयोऽपि शान्तभावमापन्नाः । तेषां शरीरजं तेजः यत् समन्तात् प्रसृतं तस्मिन् तेजसि कलुषदहनक्षमत्वेऽपि सर्वेषां दृष्टि-विलोमनत्वमपि आसीत् । सूर्यस्य अग्नेश्च वा तेजसि दहनक्षमता अस्ति परं तत् दृष्टि सुखदं नास्ति । व्यासमुनेश्च तेजसि

सत्यपि कलुपदाहकत्वेऽपि दृष्टि-सुख-जनकत्वम् इत्येव वैशिष्ट्यम् अग्नि-सूर्याभ्या व्यासस्य ।

महर्षि तेजस. अन्यविलक्षणत्वम् अनिर्वचनीयत्वच कुतेहलोत्पादकमासीत् ॥

समासा — अवशानि=न विद्यते वशम् (आयत्तत्वम्) येपाम् इति । बहुव्रीहि । तानि । 'तिर्यञ्चि' इत्येतत् पदस्य विशेपणामिदम् ।

विलोकनक्षमम्— विलोकनस्य क्षमम् इति । प० तत्पु० । तत् । 'धाम' इत्यस्य विशेपणमिदम् ।

● वाच्य परिवर्तनम्—

'तिर्यञ्चि अपि शम लम्भयन् धाम बिभ्रत् (मुनि जगतीभुजा ददृशे) ।'

—कर्मवा०

'तिर्यञ्चि अपि शम लम्भयन्त धाम बिभ्रत (मुनि जगतीभुक् ददर्श) ।'

—कर्तृवा०

● शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

मधुर=मधु+र (मत्वर्थे) अथवा मधु— रा+क ।

लम्भयन्=लभ्+णिच्+शतृप्रत्यय ततश्च प्रथमा । 'तिर्यञ्चि शम लभन्ते, स (मुनि.) तिर्यञ्चि शम लम्भयति ।

वश=वश्+अल् । तिर्यच्=तिरस्—अञ्च्+क्विन् । तिर वक्रभावेन (वक्ररीत्या) अञ्चति गच्छति यानि तानि तिर्यञ्चि । शम=शम्+घञ् ।

क्षम=क्षम्+अच् । क्षमते इति क्षमम् ।

बिभ्रत=भृ+शतृप्रत्यय । दहन=दह्+ल्युट् (करणे) दह्यते अनेन इति दहनम् । परित =परि—तस् । 'पर्यभिभ्या सर्वोभयाभ्याम् इष्यते' अनेन तस प्रत्यय । 'परित इत्यव्ययम् सर्वत्र इत्यर्थ. 'रक्षासि वेदि परितो निरास्थात् ।' —भट्टिकाव्ये ।

एनस्=इण्+असुन् । 'इण आगसि' इत्यनेन 'एनस्' इत्यत्र नुडागम ॥५५॥

● सक्षिप्त भावार्थ —

सदयदृष्ट्या कृतावलोकनेन स्वपरान् मृगपक्ष्यादीन् अपि 'शान्ति प्रयच्छन् समन्तात् पापदाहक समुज्वलञ्च तेज बिभ्रत् समुनिपुंगव युधिष्ठिरेण अवलोकित ॥५५॥

छन्द —वियोगिनी ।

अलङ्कार:—इस श्लोक में 'विलोकन क्षमम्' इस विशेषण के द्वारा 'सूर्याग्नि-विलक्षणं धाम' ऐसा द्योतित किया जाने के कारण कुछ विद्वान् यहाँ व्यतिरेक नामक अलङ्कार मानते हैं।

अस्मन्मतेतु अत्र व्यतिरेको युज्यते। 'एनसां दाहकत्वेऽपि—विलोकन क्षमत्वम्' इति विरोधोऽपि यङ्ग्यः ॥५५॥

- शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'अहो मधुरमासांदर्शनम्।'—शाकु० १
'यथा प्रसिद्धं मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।—कुमार० ५।९
'मधुरालाप निसर्ग पण्डितानाम्।'—कुमा० ४।१६
'शममुपयातु ममापि चित्त दाहः।'—उत्तररा० ६।८
'शममेष्यति ममशोकः कथं नु वत्से ?।'—शाकु० ४।२०
'किमिदं पटुपटह शङ्खमिश्रो नान्दिनादः।'— मुद्रा० ६
'पटुपटहध्वनिभिर्विनीत निद्रा।'— रघु० ९।७१,७३

+ + +

- धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा देखे गये व्यास मुनि का वर्णन करते हुए कहते हैं, व्यासमुनि कैसे थे—
- युग्मार्थम्।

सहसोपगतः सविस्मयं
तपसां सूतिरसूतिरापदम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः
स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥५६॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—। सहसा उपगतः तपसां सूतिः आपदां असूतिः स मुनिः वपुष्मान् पुण्यसञ्चय इव जगतीभुजा सविस्मयं ददृशे ॥५६॥

शब्दार्थ:—सहसा=अकस्मात्, अतर्कितरूप से, एकाएक। उपगतः=आये हुए। तपसां=तप की, यम-नियम-संयम के निधान रूप। सूतिः=उत्पत्ति स्थान भूत। आपदां=विपत्तियों के। असूतिः=निवर्तक। मुनिः=व्यास मुनि। वपुष्मान्=मूर्तिमन्त, देहधारी। पुण्यसञ्चयः=सत्कर्मरूप पुण्य के समूह रूप।

इव=सदृश। जगतीभुजा=राजा युधिष्ठिर ने। सविस्मय=आश्चर्य के साथ। ददृशे=देखा ॥५६॥

हिन्दी अनुवाद—अकस्मात् अप्रत्याशित रूप में आये हुए तपोमूर्ति विग्रहुना पुण्यकर्म के उत्पादक और विपत्तियों के विनाशक मूर्तिमन्त पुण्यसमूह के सदृश भगवान् कृष्णद्वैपायन पराशरात्मज व्यास मुनि को धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा ॥५६॥

घण्टापथ—सहसेति॥ पुन सहसोपगतोऽस्मादागतस्तपसां सूति. प्रभव आपदाममूतिरप्रभव। निवर्तक इति यावत्। स मुनिर्व्यासो वपुष्मान्देहधारी पुण्यसचय पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा। जगतीभुजा राज्ञा सविस्मय ददृशे दृष्ट ॥

सरलार्थ—सहसा समागत व्यास मुनि राजा युधिष्ठिर दृष्टवान्। कथम्भूत व्यासमुनि सदृष्टवान्? तपसा पुण्यकर्मणा प्रभवस्थानभूतम् आपदाच निवर्तक साक्षात् पुण्यसञ्चय इव विग्रहुना मूर्तिमान् पुण्यराशि इव समागत व्यासमुनि स राजा युधिष्ठिर दृष्टवान्। यदा व्यास मुने आगमन सजात तदा राजा युधिष्ठिरेण किमनुभूतम्? मुनेरागमनजन्यो विस्मय तेन अनुभूत।

पुण्यराशिरेव शरीर धारण कृत्वा समागत अथवा साक्षात् तपोमूर्ति.—व्यास मुनिरूपेण समागता। यश्च तपसा प्रभव आपदाञ्च निवर्तक इति तस्य दर्शनमात्रेण दर्शकस्य मनसि विश्वास प्रादुर्भूत ॥५६॥

समासा—सविस्मयम्=विस्मयेन सह वर्तमान यथा स्यात्तथा इति। बहुव्रीहि सहस्य विकल्पेन समाव।

'सहविस्मयम्' इत्यपि भवितुमर्हति। 'ददृशे' इत्यस्या क्रियाया विशेषण मिदम्।

जगतीभुजा=जगती पृथिवी भुङ्क्ते य स जगतीभुक्। इति उपपदसमास।

पुण्यसञ्चय=पुण्याना सञ्चय इति पुण्यसञ्चय। ष० तत्पु०। मुने उपमानमिदम्।

● वाच्य परिवर्तनम

'जगतीभुजा सहसा उपगत तपसा सूति आपदाम् (च) असूति स मुनि वपुष्मान् पुण्यसञ्चय इव ददृशे।'—कर्मवा०।

'जगतीभुक् सहसा उपगत तपसा सूतिम् आपदा (ञ्च) असूतिम् मुनि वपुष्मन्त पुण्यसञ्चयमिव ददर्श।'—कर्तृवा०।

शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

जगतीभुज् =जगती—भुज्+क्विप् ।

विस्मय=वि—स्मि+अच् । विस्मय इत्यस्य आश्चर्यं इत्यर्थः ।

तपस्=तप+असुन् । सूति=सू+क्तिन् । सूयते अनया इति सूतिः । सूतिः इत्यस्य प्रभवः इत्यर्थः । न सूतिः इति असूतिः । नञ् समासः । असूतिः=अप्रभवः ।

वपुष्मान्=वपुष्+मतुप् । वपुः अस्ति यस्य सः वपुष्मान् । "गात्रं वपुः संहननं शरीरंवर्ष्मविग्रहः ।"—इत्यमरः २।६।६३४

पुण्य=पू+डुण्य अथवा पू+यत् । 'पूञो यत णुक्ह्रस्वश्च इत्यनेन अत्र णुक् ।

सञ्चय=सम्—चि+अच् । सञ्चयः इत्यस्य अत्र समूहः इत्यर्थः ।

सहसा इत्यव्ययम । उपगतः इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

संक्षिप्त भावार्थः—

तपः पूतं लोकपावनं सर्वापन्निवारकं तं व्यासमुनिं दृष्ट्वा एव प्रतीतं यत् पुण्यराशिरेव सशरीरं भूत्वा मुनिरूपेणावतीर्णोऽत्र । युधिष्ठिरस्तस्याप्रत्याशितेनागमनेन विस्मितः सन् तं ददर्श ॥५६॥

छन्दः—वियोगिनी ।[1]

अलङ्कार—यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है ।

'तपसां सूतिः' यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलंकार भी कुछ आलंकारिक विद्वान् मानते हैं ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'मातङ्ग वक्त्रैः सहसोत्पतद्भिः ।'—रघु० १३।११

'तपः किलेदं तदवाप्ति साधनम् ।'—कुमा० ५।६४

'नवं वयं कान्तमिदं वपुश्च ।'—रघु० २-४७, माघ० १०।५०

'वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ।' कुमार० ४।४२

'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु ।'—मेघ० १

---

१. अस्मिन् सर्गे (द्वितीये) प्रथम श्लोकादारभ्य षट्पञ्चाशत (५६) श्लोकपर्यन्तं वियोगिनी वृत्तम् प्रयुक्तमस्ति ॥
परिशिष्ट क्र० १ में छन्दों के लक्षण देखिये ।

पुण्यधाम चण्डीश्वरस्य ।' —मेघ० ३३, रघु० ३।४१, शाकु० २।२४ मनु० २।६८,

'महता पुण्य-पण्येन क्रीतेय कायनौस्त्वया ।'

+ + +

- समागतव्यासमुनेः शोभां वर्णयति व्यास चेष्टा वर्णयति—
- राजा युधिष्ठिर के पास आये हुए व्यास मुनि की शोभा का वर्णन करते हुए—

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यात्
उद्यन् स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः
शृङ्गात् सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥५७॥

सुबोधिनी

अन्वय—अथ उच्चकैः परार्ध्यात् आसनात् उद्यन् धूतारुणवल्कलाग्रः सः सुमेरोः शृङ्गात् उद्यन् कीर्णाकपिशांशुजालः तिग्मरश्मिरिव रराज ।

शब्दार्थ—अथ=आये हुए व्यास मुनि के दर्शन होते ही तुरन्त बाद (उनके स्वागतार्थ) । उच्चकैः=उंचे । परार्ध्यात् आसनात्=श्रेष्ठ आसन से, (राजसिंहासन अथवा तद्वत् बहुमूल्य रत्न जटित आसन से नहीं, क्योंकि वन निवासी और निर्वासित अवस्था में बहुमूल्य आसन उपयोग में आना सर्वथा असम्भव है । सिंहचर्म का आसन सम्भव है, यदि श्रेष्ठ पवित्र और वीरोचित भी है किन्तु रत्न जटित राजसीठाट का सिंहासन कदापि सम्भव नहीं ।)

उद्यन्=(स्वागतार्थ) उठते हुए । धूतारुण वल्कलाग्रः=वायु के संस्पर्श से कम्पित (हिलने वाले) अग्रभागवाला, गेरुवे रंग के वल्कलों को धारण करने वाला ।

सः=वह राजा युधिष्ठिर (उस समय का केवल नामधारी राजा, वर्तमान समय के नामधारी राजा महाराजाओं से भी बदतर स्थिति में, वर्तमान नामधारी राजा महाराजाओं के पास धन और परंपरागत निवास स्थान तो है, विचारे युधिष्ठिर के पास तो धन, अन्न, वस्त्र और निवासार्थ स्थान कुछ भी नहीं रहा था वह निर्वासित था) । सुमेरोः शृङ्गात्=सुमेरु नामक पर्वत के शिखर से । उद्यन्=उदित होने वाले । कीर्णाकपिशांशुजालः=चारों ओर

सुनहरी या अरुण रंग के किरणों के जालों से व्याप्त। **तिग्मरश्मिः इव**=सूर्य की तरह । **रराज**=शोभा को प्राप्त हुआ ।।५७।।

हिन्दी अनुवाद—व्यास मुनि के दर्शन होते ही उनके स्वागतार्थ अपने श्रेष्ठ आसन से उठते हुए राजा युधिष्ठिर के गेरुवे रंग के वल्कल (धारण किये किए) हवा से कंपित हो रहे थे, उस समय उनकी (युधिष्ठिर का) कान्ति सुनहरी या अरुण रंग के अपने किरणों को चारों ओर बिखरने वाले, मेरुपर्वतश्रृंग से उदित होने वाले सूर्य जैसी हुई ।।५७।।

(यहां सुमेरुपर्वतश्रृङ्ग का और युधिष्ठिर के परार्घ्यासन के साथ तथा उदीयमान अरुण किरण प्रसारी सूर्य का युधिष्ठिर के साथ साम्य वर्णन किया गया है । सुमेरुश्रृंग से उदीयमान सूर्य की होने वाली शोभा जैसी व्यासजी के स्वागतार्थ परार्घ्यासन से अभ्युत्थान करने वाले युधिष्ठिर की शोभा का होना बताया गया है ।)

घण्टापथः—अथेति ।। अथ दर्शनान्तरम् । उच्चकैरुन्नतात्परार्घ्याच्छ्रेष्ठात् । 'अर्धाद्यत्' । 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । आसनतः सिंहासनादुद्यन्नुत्तिष्ठन्नत एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः । स नृपः कीर्णं विस्तृतमाकपिशमंशुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः श्रृङ्गादुद्यंस्तिग्मरश्मिरिव । रराज ।।५७।।

सरलार्थः—अकस्मादागतं व्यासमुनिं दृष्ट्वा दर्शनसमकालमेव तेषां स्वागतार्थं परार्घ्यात् स्वासनात् उत्तिष्ठमानस्य राज्ञः युधिष्ठिरस्य शरीर धृतानि अरुणवर्णीयानिवल्कलानि तेषामग्राणि । वायु संस्पर्शात् कम्पितानि । उत्तिष्ठमानस्ययुधिष्ठिरस्य कान्तिः तत् क्षणे तथा भूता यथा सुमेरुश्रृङ्गात् उदीयमानस सूर्यस्य भवति ।।५७।।

समासाः—धूतारुणवल्कलाग्र=वल्कलानाम् अग्राणि इति वल्कलाग्राणि । ष० तत्पु० । अरुणानि वल्कलाग्राणि इति । कर्मधारयः । धूतानि अरुण वल्कलाग्रा यस्य सः । इति बहुव्रीहिः । 'सः' इत्येतद्पदस्य विशेषणमिदम् ।

कीर्णाकपिशांशुजालः=अंशूनां जालानि इति अंशुजालानि । ष० तत्पु० । आ (सम्यक्) कपिशानि (पिङ्गलर्णानि) इति सुप् सुपेति समासः ।

आ कपिशानि अंशुजालानि इति आकपिशांशुजालानि । इति कर्मधारयः ।

कीर्णानि आकपिशांशुजालानि यस्य येन वा। इति बहुव्रीहि। 'तिग्मरश्मि' इत्यस्य विशेषण मिदम्।

तिग्मरश्मि =तिग्मा (तीक्ष्णा) रश्मय यस्य स इति बहुव्रीहि। 'स' (युधिष्ठिर) इत्यस्य उपमानमिदम्। तिग्मरश्मि इत्यस्य सूर्यं इत्यर्थं ॥५७॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'आसनत उद्यन् धूतारुणवल्कलाग्रः स (नृप) कीर्णाकपिशांशुजाल तिग्मरश्मि इव रराज॥'—कर्तृवा०

'आसनात् उद्यता धूतारुणवल्कलाग्रेण तेन (नृपेण) कीर्णाकपिशांशुजालकेन तिग्मरश्मिणा इव रेजे॥'—भाववा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

उच्चकं =उच्चैस्+अकच्।

उच्च्+अक्+ऐस्=उच्चकैस्=उच्चकं॥

आसन=आस्+ल्युट्। आस्यते उपविश्यते अस्मिन्निति आसनम्। अधिकरणे ल्युट्।

आसनत =आसन+तसिल् (पञ्चम्यास्तसिल्। आसनात् इत्यर्थं। अत्र अपादाने पञ्चमी।

परार्ध्यं=परार्ध+यत्। परार्धे भवम् इति परार्ध्यम्। तस्मात्। परार्ध्यात इति असनात् इत्यस्य विशेषणमिदम्।

पर (श्रेष्ठ) अर्ध इति परार्ध। कर्मधारय। ततश्च यत् प्रत्यय। अत्र 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इत्यनेन 'यत्' प्रत्ययो जात।

उद्यत्=उत्—इण्+शतृ प्रत्यय। प्रथमाया विभक्तौ उद्यन् इति रूपम्। (एकवचने)

धूत=धू+क्त। चचलित इत्यर्थं।

वल्कल=वल्क—लच्। कीर्ण=कॄ+क्त।

तिग्म=तिज्+मक्। रश्मि=अश्+मिन्।

अत्र अश् धातो पूर्वस्वर (अ) 'र' कारे परिवर्तत 'अश्नोतेरश्च' इत्यनेन ॥५७॥

संक्षिप्त भावार्थ—यथा सुमेरो शिखरात उदय लभमान सूर्य सर्वत. अरुण किरण जाल प्रसार्य कामपि अनिर्वचनीया शोभा प्राप्नोति तद्वत् अकस्मादागतस्य व्यासस्य दर्शनसमकालमेव तेषामभ्युत्थानार्थं स्वासनात् समुत्थित

युधिष्ठिरोऽपि अरुणवर्णपरिधानवल्कलाग्राम् इतस्ततः सञ्चलनेन सर्वतः तत् किरणप्रसारात् सूर्यवदेव महतीमपूर्वां शोभां प्राप्तवान् ॥५७॥ Edit Changed here

छन्दः—यहाँ उपजाति नाम वृत्ति है।

अलङ्कार—यहां उपमा अलंकार है।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'ॐकारश्चाथश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुराकण्ठंभित्वा विनिर्यातौतेन माङ्गलिकावुभौ ॥

'अर्थान्तरप्रयुक्तः अथशब्द श्रुत्या मङ्गलमारचयति।'—शाङ्करभाष्ये

'अथ निर्वचनम्। 'अथ योगानुशासनम'।

'अथ प्रजानामधिपः प्रभाते।'—रघु० २।१

'अथ कौतुकमावेदयाधि।'—काद० १४४

'अथ मरणमवश्यमेवजन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम्।

—वेणी० ४

'अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?'—शाकु० ७

'अथवाकृत्वाग्द्वारे।'—रघु० १-३, ४

'दीर्यं किन सहस्रधाहमथवा रामेण किं दुष्करम्।'—उत्तर० ६।४०

'अथवा मृदु वस्तु हिंसितुम्।'—रघु० ८।४५

\+ \+ \+

● धर्मराजो युधिष्ठिरः व्यासमुनेः सत्कारं कृत्वा तदाज्ञया स्वासने पुनः समुपविष्टः—

● धर्मराज युधिष्ठिर व्यास मुनि का ऋषिजनोचित सत्कार कर उनकी आज्ञा से पुनः आसनस्थ होता है—

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हाम्
ऋषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम्।
तदनुमतमलंचकार पश्चात्
प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥५८॥

: सुबोधिनी :

अन्वयः—स नरेन्द्रः अवहितहृदयः ऋषिप्रवरे ऋषिवत् गुरूपरिष्टाम् अर्हां विधाय पश्चात् तदनुमतम् आसनं प्रशमः श्रुतमिव अलञ्चकार।

शब्दार्थ—स नरेन्द्र=वह समागत व्यासमुनि के स्वागतार्थ अपने आसन से उत्थित राजा युधिष्ठिर। अवहितहृदय=(सन्) सावधान चित्त होता हुआ। ऋषिप्रवरे=मुनिश्रेष्ठ व्यास जी की। ऋषिवत्=ऋषिजनोचित। गुरूपदिष्टाम्=गुरुपरंपरा से ज्ञात विधि से। अर्हां विधाय=पूजा-सत्कार करके। पश्चात्=अनन्तर। तदनुमतम्=व्यासजी के द्वारा अनुमत। आसन=आसन को। प्रशम=शान्ति। श्रुतमिव=जिस प्रकार शास्त्राध्ययन को अलङ्कृत करती है (तद्वत् राजा युधिष्ठिर ने भी आसन को) अलञ्चकार=विभूषित किया।

हिन्दी अनुवाद—धर्मराज युधिष्ठिर ने स्वस्थ चित्त होकर गुरुजन परंपरा से ज्ञात विधि के अनुसार ऋषि श्रेष्ठ की ऋषिजनोचित पूजा कर चुकने के पश्चात उनके द्वारा अनुमत आसन को अलङ्कृत किया जैसे शम शास्त्राध्ययन को विभूषित करता है ॥५८॥

घण्टापथ—अवहितेति ॥ स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽप्रमत्तचित्त सन्। ऋषिप्रवरे मुनिश्रेष्ठे। ऋषिवदृष्यर्हाम। अर्हार्थे वतिप्रत्यय। गुरूपदिष्टाम्। शास्त्रीयामित्यर्थः। अर्हां पूजाम्। 'गुरोश्च हल' इत्यकार प्रत्यय। विधाय पश्चादनन्तर तदनुमत तेनानुज्ञातमासनम्। प्रशम शान्ति श्रुत शास्त्रश्रवणमिव। अलचकार। उक्तं च—प्रशमस्तस्य भवन्त्यलंक्रिया' इति। मुन्याज्ञयोपविष्टवानित्यर्थ ॥५८॥

सरलार्थ—स राजा युधिष्ठिर प्रथम शास्त्रविधिमनुसृत्य ऋषिजनोचिता तस्य व्यासमुने पूजा कृतवान्। तदनन्तर प्रशम यथा शास्त्रीयज्ञानमलङ्करोति तद्वत् स युधिष्ठिरः व्यासानुज्ञात सन् उपवेशनेन स्वकीयम् आसनमलञ्चकार। व्यासाज्ञया उपविष्टवानित्यर्थ ॥५८॥

समास।—अवहित हृदय=अवहित हृदय यस्य स इति। बहुव्रीहि। नरेन्द्र इत्यस्य विशेषणमिदम्।

—ऋषिप्रवरे=ऋषिषु प्रवर इति। सप्तमी तत्पु०। तस्मिन। अत्र विषमाधिकरणे सप्तमी। 'कर्तृकर्मणो कृति' इत्यनेन अर्हाम् इत्यस्य योगात् षष्ठी प्राप्ता किन्तु 'विवक्षावशात् कारकाणि' इति नियमात् अत्र सप्तमी जाता।

गुरूपदिष्टाम्=गुरुणा उपदिष्टा इति। तृतीया तत्पु०। ताम्। अर्हाम् इत्यस्य विशेषणमिदम।

तदनुमतम्=तेन अनुमतम् । तदनुमतम् इति । तृ० तत्पु० । तत् । 'आसनम्' इत्यस्य विशेषणमिदम् ।

नरेन्द्रः=नराणां नरेषु वा इन्द्रः इति नरेन्द्रः ष० स० वा तत्पु । निर्धारणार्थे षष्ठी सप्तमी वा भवति ।

'अलञ्चकार' इत्यस्याः क्रियायाः नरेन्द्रः इति कर्तृकारकम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—

'अवहितहृदयः सः नरेन्द्रः प्रशमः श्रुतम् इव आसनम् अलञ्चकार ।'

—कर्तृवा०

'अवहितहृदयेन तेन नरेन्द्रेण प्रशमेन श्रुतम् इव आसनम् अलञ्चक्रे '

कर्मवा०

● शब्द-व्युत्पत्ति और व्याकरण—

अवहित=अव—धा+क्त । अत्र क्त प्रत्ययः भाववाच्ये जातः । 'अवहित' इत्यस्य अवधानम् इत्यर्थः । अवहितम् (अवधानम्) अस्ति अस्य इति अवहितम् । अर्श आदित्वात् 'अच्' प्रत्ययः । (अवहित+अच्) ततः च 'अवहितम् (अवधान युक्तं सावधानमित्यर्थः) हृदयं चित्तं यस्य सः, येन साः व अवहितहृदयः इति बहुव्रीहिः । अथवा—अव—धा+क्त (कर्तृवाच्ये)=अवहितः ।

अर्हा=अर्ह+अ (भाववाच्ये 'गुरोश्च हलः' इत्यनेन) ऋषि=ऋषि+कि । ('ऋषि' इत्यस्य सर्वोपकारी 'सन्त' 'महात्मा' इत्यर्थः । ऋषिस्तु क्रान्तदर्शी । भविष्यत्काल द्रष्टा करतलामलकवत् यः सर्वं निःसन्दिग्धतया भाविनमर्थं वेत्ति विदित्व च लोकमङ्गलार्थं यः यतते स ऋषि पदवाच्यः । व्यासस्तु भगवान् स्वयम् । स ऋषि पुत्रः स्वयं च ऋषि पदाधिष्ठितः नास्त्यत्र सन्देह लवलेशः) ऋषिम् अर्हति इति ऋषिवत्, ऋषि+वति प्रत्ययः 'तदर्हम्' इत्यनेन नियमेन । 'ऋषिवत्' शब्दस्तु वति प्रत्यय निर्मितः । वतिप्रत्ययान्तमिदमव्ययम् । ऋषिवत् शब्दार्थस्तु ऋषिजनोचितमित्यर्थः ।

उपदिष्ट=उप—दिश्+क्त ।

अनुमत=अनु—मन्+क्त प्रत्ययः (कर्मणि) । सहमत इति अनुमत शब्दार्थः । 'अनु' (अव्यय) अव्ययी भाव समास बनाने के लिये संज्ञा शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है अथवा क्रिया या कृदन्त शब्दों से पूर्व जोड़ा जाता है, अथवा स्वतन्त्र सम्बन्ध बोधक अव्यय के रूप में कर्म कारक के साथ प्रयुक्त होता है

और कर्म प्रवचनीय माना जाता है। अनु का अर्थ पश्चात् पीछे है। जैसे—'सब गुरुमनु उपविशन्ति छात्रा ।' (अनु=मन्+क्त=अनुमत) अनुमत शब्द कर्मणि भूतकालवाचक विशेषण बन जाता है। विशेषण वाचक समस्त शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं। इसका अर्थ सम्मत, अनुज्ञात, इजाजत दिया हुआ अथवा प्राप्त किया हुआ, स्वीकृत, होता है।

जैसे महाकवि कालिदास के द्वारा अनुपूर्वक ज्ञा' धातु का प्रयोग शाकुन्तल में हुआ है—

'पातु न प्रथम व्यवस्यति जल युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवता स्नेहेन या पल्लवम। आद्ये व कुसुमप्रसूतिसमय यस्या भवत्युत्सव, सेय याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम् ॥' —शाकु० ४।६

'कोकिल रव सूचयित्वा—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरिय वनवासबन्धुभि ।
परभृत विरुत क्ल यया प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम ॥'

—शाकु० ४।१०

'तरुभि इदृश प्रतिवचनीकृतम् ।

इय पतिगृह गन्तुकामा शकुन्तला एभि अनुमतगमना कृता अस्ति ।' इत्यर्थ, जाने के लिये अनुज्ञप्त हुई। इसी प्रकार महाकवि भारवि का राजा युधिष्ठिर व्यास मुनि के द्वारा आसन पर बैठने के लिये अनुमत हुआ है।

तदनुमत शब्दो म 'क्त' प्रत्यय 'मति बुद्धि पूजार्थेभ्यश्च' इससे वर्तमानार्थक नही है। तेन अनुमताम् इति 'तदनुमतम्'। आसनम तस्य अनुमत ऐसा विग्रह उचित नही है। 'तदनुमतम्' यह समस्त पद है।

'क्तेन पूजायाम्' इससे वर्तमानार्थक अनुमतशब्द जन्य नही है।

अलञ्चकार=अलम्—कृ+लिट्—णल्। भूषित चकार इत्यर्थ ।

-अलम्भूषण-पर्याप्ति-शक्ति-वारण वाचकम् ।'

—इत्यमर ३।४।१४६०

छन्द—इस पद्य का वृत्त (छन्द) पुष्पिताग्रा है।

अलकार—यहाँ उपमा अलकार है।

टिप्पणी—कविकुल गुरु कालिदास की प्रसिद्धि उपमालकार के सन्निवेश के लिये विश्व प्रसिद्ध है।

महाकवि भारवि कृत उपमालङ्कार का प्रयोग ध्यानपूर्वक देखिये, तुलना कीजिये और मूल्याङ्कन कीजिए।

● शब्द-प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'आपीन भारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।'

'नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुद दक्षसुता इवाबभुः।'

'ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्र कन्या।'—रघु० (क्रमशः) २।१८, ३।३३, ६।८०, मनु० ६।२५३

'सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः।'—माघ० २।८८

'हृदये दिग्ध शरैरिवाहतः।'—कुमा० ४।२५

'अयोहृदयः'—रघु० ६।६ पाषाणहृदयः आदि।

'स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपि तेचण्डि कठिनम्।

'बाणभिन्नहृदया निपेतुषी।'—रघु० ११।१६

'संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।'—मृच्छ० ३।३, मनु० १०।२७

'कान्ताविरहगुरुणा०।' मेघ० १

'गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि।'—रघु० ३।१७

'न केवल तद् गुरुरेक पार्थिवः।'—रघु० ३।३१, ४८, ४।१, ८।२६

'शुश्रूषस्व गुरून्०।'—शाकु० ४।१४, गीता० २।५, भामि० २।७

'आज्ञागुरूणां ह्यविचारणीया।'—रघु० १४।४६

'स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।'—याज्ञ० १।३४

व्यक्तोदितस्मितमयुखविभासितोष्ठ—
स्तिष्ठन्मुनेराभिमुखं स विकीर्णधाम्नः।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तेः ॥५६॥

इति महाकवि श्री भारवि कृतौकिरातार्जुनीये महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥

सुबोधिनी :

अन्वयः—व्यक्तोदितस्मितमयुखविभासितोष्ठः स विकीर्णधाम्नः मुनेः अभिमुखं तिष्ठन् इद्धम् अंशुजालं तन्वन्तं गुरुम् अभितः सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः लक्ष्मीम् उवाह।

शब्दार्थ—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ =(व्यासमुनि के शुभागमन से सुप्रसन्नचित्त युधिष्ठिर के) स्मित जन्य शुभ्रदन्तपङ्क्तिसमुत्थित किरणों की कान्ति से देदीप्यमान ओष्ट द्वय युक्त। स =वह धर्मराज युधिष्ठिर। विकीर्ण धाम्न मुने =(युधिष्ठिर के समीप विराजमान) महामुनि वेदव्यासजी का तेज सर्वत्र चारों ओर व्याप्त हो रहा था। (उनके) अभिमुख तिष्ठन्=सम्मुख बैठते हुए। इद्धम्=प्रदीप्त। अंशुजाल=किरणों के समुदाय को। तन्वन्त= विस्तृत करते हुए (फैलाते हुए) गुरुम्=देवगुरु बृहस्पति के। अभित = समीप। सकलस्य=सम्पूर्ण कलाओं से परिपूर्ण। शशाङ्कमूर्ते =शशाङ्क (चिह्न) धारी चन्द्रमा की। लक्ष्मीम्=शोभा को। उवाह=धारण किये हुए थे।

—हिन्दी अनुवाद—धर्मराज युधिष्ठिर के सन्निध विराजमान महामुनि का दिव्य तेज सर्वत्र व्याप्त हो रहा था। महामुनि व्यासजी के निकट बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिर जो व्यास जी के शुभागमन से अत्यधिक सुप्रसन्न चित्त हो रहे थे। प्रसन्नताजन्यमन्दस्मित के कारण जिन के ओष्ठद्वय मुखस्थ अत्यन्त शुभ्रदन्तपन्क्ति से उद्भूत होने वाले विस्पष्ट मनोमुग्धकारी धवल किरणों के पुञ्ज से उद्भासित हो रहे थे। (ऐसे राजा-युधिष्ठिर दसों दिशाओं में अपने कान्तिपुञ्ज को बिखेरते हुए देवगुरु बृहस्पति के सान्निध्य में समागत सम्पूर्ण सोलह कलाओं सम्पन्न अतएव परिपूर्ण शशाङ्कयुक्त चन्द्रमा जैसी शोभा (लक्ष्मी) को प्राप्त हुए ॥५९॥

घण्टापथ—व्यक्तेति=व्यक्तोदितैं स्फुटोगीतो स्मितमयुखैर्विभासिता-वोष्ठौ यस्य स तथोक्त। विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुख तिष्ठन्स नृप। इद्ध दीप्तमंशुजालं तन्वन्त गुरु गीष्पतिम्। 'गुरु र्गीष्पतिर्पित्रादो' इत्यमर। अभित परित—'इत्यादिना द्वितीया। अभितोभिमुखम। तिष्ठत इति शेष.। सकलस्य सम्पूर्णस्य शशाङ्का मूर्तियंस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति— स्म। अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दु धर्मेण लक्ष्म्या साक्षात् सम्बन्धा सम्भवा-त्तत्सदृशी लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसमद्वस्तु सम्बन्धात्पदार्थवृत्ति निदर्शनालङ्कार। तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्याकरण सम्भवता यत्र वस्तु योगेन। तत् साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाभिमता इति ॥५९॥

इति श्री महामहोपाध्याय मल्लिनाथ सूरि विरचितायां किरातार्जुनीय-महाकाव्यस्य व्याख्याया घण्टापथ-समाख्याया व्यासागमनोनाम द्वितीय सर्ग समाप्त ॥

सरलार्थः—धर्मराजो युधिष्ठिरः विस्तीर्णतेजसः तस्य व्यासमुनेः सन्मुखे यदा उपविष्टः तदानीं सः प्रसूततेजसः देवगुरोः वृहस्पतेः सन्मुखे समग्रकलाधरश्चन्द्रः यादृशीमनुपमां शोभां धारयति तद्वत् अनिर्वचनीयामेव शोभां धारितवान् ।

यतः मन्दस्मितजन्येन प्रस्फुटित विमलदन्तां शुभिः विभासितोष्ठं तन्मुखं पूर्णेन्दुवत् प्रतीयमानस भवत । तत् सान्निवो महामुनिर्व्यासश्च देवगुरु वृहस्पतिरिव शुशुभे । गुरुचान्द्रमसी युतिः हृदयाल्हादकारिणी यथा भवति तथैव व्यास-युधिष्ठिरयुतिः मोदकारिणी संजाता ॥५६॥

समासा :—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः=स्मितस्य मयूखाः इति स्मितमयूखाः । प० तत्पु० । व्यक्तं स्पष्टम् उदिता इति व्यक्तोदिताः । सुप्सुपेति समासः । व्यक्तोदिताः स्मितमयूखाः इति व्यक्तोदित स्मितमयूखाः । कर्मधारयः । तैः विभासितो इति व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितो । इति तृ० तत्पु० । तादृशी ओष्ठौ यस्य सः—व्यक्तोदितस्मितमयूख विभासितोष्ठः । इति वहुव्रीहिः । 'सः' इत्येतत् पदस्य विशेपणमिदम् । 'व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितौष्ठः' इत्यपि अपरं रूपं भवति । यथा—विम्व+ओष्ठः=विम्वौष्ठः । उमा+ओष्ठः= उमौष्ठः अत्र ओकारस्य औकारत्वं वैकल्पिकमस्ति । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इत्यनेन सूत्रेण । समासे ह्स्वाकारः दीर्घाकारणश्च विकल्पेन ओकारौकारयोः परिवर्तते । किन्तु मम+ओष्ठः=ममोष्ठः भवति ममौष्ठः न भवति ।

अभिमुखम्=अभि (अभिगतं) मुखं यत्र तद यथा स्यात्तथा । वहुव्रीहिः । 'तिष्ठन्' इत्यस्याः क्रियायाः विशेपणमिदम् । अभिमुखम् इत्यपि केचित् ।

विकीर्णधाम्न=विकीर्णं विसारितं धाम तेजः येन सः विकीर्णधामा । इति वहुव्रीहिः । तस्य—विकीर्णधाम्नः मुनेः । इत्यस्य विशेपण मिदम् ।

अंशुजालम्—अंशूनांजालम् इति । प० तत्पु० । तत् । 'तन्वन्तम्' इत्येतद्-पदस्य कर्म ।

सकलस्य=कलाभिः सह वर्तते यः सः सकलः । इति । वहुव्रीहिः । तस्य-सकलस्य । 'शशाङ्कमूर्तेः' इत्यस्य विशेपणमिदम ।

शशाङ्कमूर्तेः=शशः अङ्कं चिह्नं यस्याः सा शशाङ्का । वहुव्रीहिः । शशाङ्का मूर्तिः यस्य सः शशाङ्कमूर्तिः इति । वहुव्रीहिः । तस्य—शशाङ्मूर्तेः इति सम्वन्धे षष्ठी । लक्ष्मीम् इत्यनेन पदेन सम्वन्धः ॥५६॥

● वाच्यपरिवर्तनम्—

'व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ स लक्ष्मीम् उवाह।'

'व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठयेन तेन लक्ष्मी उवहे।' क्रमश कर्तृ-कर्म वाच्यौ इमौस्त ।

● शब्द व्युत्पत्ति और व्याकरण—

व्यक्त=वि—अनृज्+क्त।

उदित=उत—इन+क्त। (कर्तरि)।

स्मित=स्मि+क्त (भावे)। स्मित इत्यस्य ईशत्—हास्यमित्यर्थ । धर्मराजो युधिष्ठिर व्यामागमनस्य स्वकीया प्रसन्नताम् इपद्धास्येन (स्मितेन) प्रकाशितवान। हास्य नाम प्रसन्नताभिव्यक्ति । अट्टहास्य हि सर्वथा सर्वत्र नोचितम्। गुरुजनानासमक्ष सशब्द हास्य शिष्टसम्मत नास्ति। अनेन हेतुना शिष्टा महापुरुषा स्मितेनैव स्वानन्द प्रकाशयन्ति। अनेनैव हेतुनाऽत्र स्मितशब्द प्रयुक्त । न तु हास्यपदम्। स्मित कुर्वतस्यस्य ओष्ठे तस्य हार्दिकी प्रसन्नता अभिव्यजति। यत नेत्रवक्त्रविकारेण गाम्भीर्यं शालिना मनोगत परेङ्गितज्ञा ज्ञातु प्रभवन्ति।

मयूख=माङ्—ऊख (औणादिक)।

विभासित -वि—भास्+णिच्+क्त

विकीर्ण—वि—कृ+क्त (कर्मणि)। लट्—किरति।

लिट्—चकार। अतुस्=चकरतु। उस्=चकर। लुङ्—अकारीत्।

लृट्—करिष्यति—करीष्यति।

कृ धातु विक्षेपे। सकर्म०। सेट। परस्मै प०। ऋकारान्त।

धाम—धा+मनिन।

तन्वत=तन्+शतृप्रत्यय ।

द्वितीयाया विभक्तौ—तन्वन्तम्। गुरुम् इत्यस्य विशेपण मिदम्।

इद्ध=इन्ध+क्त प्रत्यय (कर्तरि)। 'इद्ध' इत्यस्य दीप्तम इत्यर्थं ।

अभित—अभि+तस् 'पर्यभिभ्या तसि' इत्यनेन् तस प्रत्यय । अभित इत्यस्य उभयत्र। उभायो पार्श्वयो इत्यर्थं । किन्त्वत्र सम्मुखमित्यर्थ ।

जाल इत्यस्य च समूहोर्थं ।

"जाल समूह आनाय गवाक्ष क्षारक 'वपि।'—इत्यमर ३।३।१४०९

आनायः पुंसि जालं स्यात् शणसूत्रं पवित्रकम् ।'—इत्यमरः १।१०।२७०

गुरुम्=बृहस्पतिम् । गृ+उ । गुरुम् इत्यत्र 'अभितः' योगे द्वितीया विभक्तिः ।

'अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि' इत्यनेन नियमेनात्र द्वितीया जाता ।

लक्ष्मी=लक्ष+ई+मुट् । 'लक्ष्मेर्मुट् च' इत्यनेन ।

उवाह=वह+लिट् णल् ।

मूर्ति=मूर्च्छं+क्तिन् ॥५६॥

संक्षिप्त भावार्थः—धर्मराजयुधिष्ठिरस्य सन्निहितस्थितस्य व्यास मुनेः तेजः सर्वं प्रसृतमासीत् । यस्य युधिष्ठिरस्य मन्दस्मितजन्य दशनां शुभिः तस्यरदनवाससी सम्यक्तया समुद्भासिते आस्ताम् । समन्तात् कान्ति पुञ्जं प्रसारयन् स महामुनि देवगुरुमभि समागतस्य कलानाथस्य चन्द्रमसः कामपि अद्वितीयां मनोमुग्धकारिणीं शोभाम् उवाह ।

छन्द—इस पद्य में वसन्ततिलका नामक चौदह अक्षरों वाला (प्रतिपाद में) वृत्त है ।

महाकाव्य के काव्य शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार सर्ग में प्रायः एक ही वृत्त हो किन्तु अन्त में छन्द भेद होना चाहिए । इस नियम का निर्वाह करते हुए कवि ने काव्य सर्जन नैपुण्य प्रदर्शन करते हुए इस द्वितीय सर्ग में प्रारंभ से ५६वें श्लोक तक वियोगिनी छन्द का अप्रतिहत प्रयोग किया है ५७ से उपजाति, पुष्पिताग्रा और वसन्त तिलका छन्द का क्रमशः प्रयोग कर भिन्न छन्द में सर्गान्त करने के नियम का निर्वाह किया है । महाकवि भारवि ने सम्पूर्ण काव्य में प्रति सर्ग के अन्तिम श्लोक में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है । श्री शब्द का प्रयोग इस काव्य के आरम्भ में किया हैं माघ ने भी महाकवि भारवि का अनुकरण करते हुए शिशुपाल वध नामक महाकाव्य के प्रारम्भ में 'श्रियः प्रतिः' के रूप में श्री शब्द का प्रयोग किया है ।

छन्द नियमों का निर्वाह सफलता से करना भाषा प्रभुत्व का परिचायक है ।

अलङ्कार—इस पद्य में निदर्शना और उपमा अलंकारद्वय है ।

● शब्द प्रयोग सौष्ठव देखिये और अर्थानुसन्धान कीजिये—

'सप्तर्षिभिस्तान् स्मित पूर्वमाह ।'—कुमार० ७।४७

'विसृजति हिमगर्भैरग्नि मिन्दुर्मयूखैः ।'—शाकु० ३।२ रघु० २।४६, माघ, ४।५६, किरा० ५।५

'सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ।'—किराता० ८।१८

'तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव संरुणद्धि ।'—भर्तृ० २।१७

'मलिन मपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।'—शाकु० १।२०

'इयं गेहे लक्ष्मी ।'—उत्तररा० १।३८

इति महाकवि श्री भारवि कृतौ किरातार्जुनीये महाकाव्ये द्वितीय सर्गस्य 'सुबोधिनी' नाम्नी संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या महामहोपाध्यायमुसलगावकरोपाह्व-पण्डित सदाशिवशास्त्रि तनुजन्मना श्री वेणीमाधवशास्त्रिणाकृता परि समाप्ता । अक्षय तृतीया, वि० सं० २०३४

परिशिष्ट

(१) द्वितीय सर्ग में प्रयुक्त छन्द और लक्षण

छन्द—वियोगिनी श्लोक १ से ५६ तक

लक्षण— 'विषमे स स जा गुरुः समे—
समरा लोऽथ गुरु वियोगिनी ।

समचरणे— । । S, IIS, ISI, S विषय चरणे—IIS, SII, SIS, I, S,

छन्द—उपजाति (इन्द्रवज्रा+उपेन्द्रवज्रा)

इन्द्रवज्रा—

लक्षण—स्यादिन्द्र वज्रा यदि तौ जगौ गः ।

S S I, S S I, I, S S I, S, S,

छन्द— उपेन्द्रवज्रा—

लक्षण—उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा ।

I S I, S S I, I S I, S, S,

छन्द— उपजाति श्लोक ५७ में

लक्षण—अनन्तरोदितलक्ष्मभाजो—
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।।

ज	त	ज	गु०	गु०
ISI,	SSI,	ISI,	S,	S
त	त	ज	गु	गु
SSI,	SSI,	ISI,	S,	S,

उपजाति छन्द में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्र वज्रा का संमिश्रण होता है ।

छन्द— पुष्पिताग्रा श्लोक ५८ में

लक्षण— अयुजि न युग रेफतो यकारो—

न न र य

III, III, SIS, ISS

युजि च न जौ ज र गाश्च पुष्पिताग्रा ॥[1]

न ज ज र गु

III, ISI,ISI SIS, S,

छन्द— वसन्ततिलकम् श्लोक ५९ में

लक्षण—ज्ञेयं वसन्ततिलकं त भ ज जगौ ग

त भ ज ज गु गु

SSI, SII, ISI, ISI, S, S

---

1 छन्दोमंजरी कार का लक्षण हृद्य है वह इस प्रकार है—
'अयुजि न न र या यथानुपूर्व, युजि च न जो जरगा भवन्ति यस्याम् ।
भुजगपति रशेषशास्त्र वेत्ता, कथयति ना कलकण्ठि ? पुष्पिताग्राम् ॥

(२) अलंकार

अलङ्कारेपु वालानामवगाहन सिद्धये।
ललितः क्रियते तेपां लक्ष्य लक्षण संग्रहः ।।

अलंकार लक्षण

'अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः' जिससे अलङ्कृत किया जाए वह अलङ्कार है। इस व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द शोभावर्धक हारादिक की तरह काव्य के शोभाधायक अनुप्रास तथा उपमा आदि अलङ्कारों का वोधक है।

'अलङ्करणमलङ्कारः' जो आभूपण स्वरूप हो वह अलङ्कार है। इस भाव प्रधान व्युत्पत्ति से अलंकार शब्द साहित्य शास्त्र का वाचक होता है। जैसे शरीर में कटक कुण्डलादिक संयोग सम्वन्ध से तथा शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्वन्ध से होते हैं उसी प्रकार काव्य के शब्द-अर्थ रूपी देह में अनुप्रास उपमा आदि अलंकार संयोग सम्वन्ध से तथा काव्यात्मभूत रस में माधुर्यादि गुणों की सत्ता समवाय सम्वन्ध से होती है। यही गुण और अलङ्कार का विभेदक तत्व है।

प्राचीन काल में अलंकारों का ही सर्वाधिक प्राधान्य था। संस्कृत के साहित्यिक इतिहास के अनुसार आचार्य भामह, उदभट, वामन और रुद्रट आदि प्रमुख साहित्यिक मनीपियों ने अपने-अपने साहित्यिक ग्रन्थों का नामकरण काव्यालंकार इस संज्ञा से ही किया था।

इनके ग्रन्थों में रस की चर्चा अत्यल्प (नगण्य) है। प्राचीन आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ का अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप आदि अलकारों में,

ध्वनिका पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति आदि म अन्तर्भाव माना है। बाद के आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे तथा उनके टीकाकार अभिनव गुप्त ने 'लोचन' नामक टीका म ध्वनि तथा रस का बहुत सुस्पष्ट विवेचन किया है।

अलकारो म एकमात्र उपमालङ्कार ही सब म मुख्य है। उपमा ही विभिन्न वाचोयुक्तिया का आश्रय लेकर अनेक रूपा म प्रकट होता है। अप्पय्य दीक्षित ने चित्रमीमासा मे[1] कहा है कि—'नटी नाटक मे अनेक रूप धारण कर जैसा प्रेक्षको का मनोरजन करती है उसी प्रकार एकमात्र उपमालकार के अनेक भेद सहृदयो को आनन्द प्रदान करते हैं। उपमेयोपमा, अनन्वय, पतीप, स्मरण, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त निदर्शना व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशसा, आदि अलकार उपमा के ही रूपान्तर मात्र हैं।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र म—उपमा, दीपक रूपक और यमक ये चार ही अलकार स्वीकार किये हैं। आचार्य वामन ने ३३, आचार्य दण्डी ने अलकारो की सख्या ३५ तक पहुँची है। आचार्य भामह ने ३६, आ० उद्भट ने ४०, आ० रुद्रट ने ५२, आ० मम्मट न ६७, अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने ८१ आ० पीयूषवर्ष जयदेव ने १००, कुवलयानन्दकार ने १२४ तक अलकारो की सख्या मे वृद्धि करदी है।

अलकार का सामान्य लक्षण—

शब्दार्थयोरस्थिरा य धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तदङ्गतादिवत् ॥

एते शब्दार्थभेदेन च द्विधा। तत्र शब्दस्य प्रथम बुद्धि विषयत्वात् प्रथम शब्दालकारानाह—

अनुप्रास—अनुप्रास शब्दसाम्य वैशम्येऽपि स्वरस्य यत्। तस्य भेदान् आह—

---

१ उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमि का भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेत ॥

छेकश्च वृत्यनुप्रासः श्रुत्यनुप्रास एव हि ।
अन्त्यनुप्रास एवं च लटानुप्रास इष्यते ।।

महाकवि भारवि द्वारा द्वितीय सर्ग में प्रयुक्त अलंकारों के लक्षण क्रमशः दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये श्लोकांक दिये जा रहे हैं तदनुसार पुस्तक में देखिये ।

(शब्दालंकार)

१. वृत्यनुप्रासः—अनेकस्यैकधा साम्यम् असकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येप वृत्यनुप्रास उच्यते ।।

एक वर्ण का अथवा अनेक वर्णों का भी अनेक वार का आवृत्ति साम्य होने पर वृत्यनुप्रास होता है ।

उदाहरण— श्लोक संख्या (द्वितीय सर्ग) १. ७. और ४८.

२. छेकानुप्रास—छेकोव्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्य मनेकधा। अनेक वर्णों का एक वार आवृत्तिरूप साम्य छेकानुप्रास है ।

उदाहरण—श्लोक० सं० ३४

(अर्थालंकार)

३. अतिशयोक्तिः—(आचार्य रुय्यक ने अलंकारों के वर्गीकरण में अतिशयोक्ति को अध्यवसाय मूलक अभेद प्रधान अलंकार माना है, इसके ४ भेद हैं) ।

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्य विपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिःसा (का० प्र०)

(१) उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण (अन्तर्भाव, पृथक् कथन न करना) करके जो (आहार्य अभेद निश्चय, कल्पित अभेद कथन रूप) अध्यवसान करना है वह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति है। (२) प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन द्वितीय प्रकार की (३) 'यदि' के समानार्थक शब्द लगाकर जो

कल्पना करना वह तीसरे प्रकार की और (४) कार्य-कारण के पौर्वापर्यका जो विपर्यय है वह चौथे प्रकार की अतिशयोक्ति है।

उदाहरण—श्लो० सं० २, ३१

४ उपमा—(आचार्य मम्मट प्रतिपादित ६१ अर्थालंकारों में २६ अलंकार सादृश्य मूलक अलंकार हैं)।

अतिशयिता प्रसिद्धिम् अतिक्रान्ता उक्ति अतिशयोक्ति। यत्र उपमान द्वारा उपमेयस्य निगरण भवति तत्र अतिशयोक्ति। साहित्य दर्पणे विश्वनाथ कृत लक्षण यथा—

'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।'

अध्यवसायोनाम विषयिणा विषय निगरणेन द्वयोरभेदप्रतिपत्तिः। लोक प्रसिद्धि से ऊपर की उक्ति को अतिशयोक्ति कहते हैं। उपमान के द्वारा उपमेय के निगरण (निगलने को) को सामान्य अतिशयोक्ति कहा जाता है।

साधर्म्यम् उपमा भेदे।—का० प्र०

(उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसतिद्वयो—चन्द्रा०)

उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है। उपमान तथा उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य-कारण आदि का नहीं, अत उनका ही समान धर्म से सम्बन्ध उपमा कहलाता है। लक्षण में भेदे पद अनन्वय से उपमा को पृथक् करने हेतु ग्रहण किया गया है।

उदाहरण—श्लो० सं० १२, २४, ३१, ३७, ३८, ४२, ४६, ५०, ५३, ५७, ५८, ५६

श्लेषानुप्राणित उपमा—श्लेष दो प्रकार का है (१) शब्द श्लेष और (२) अर्थश्लेष, श्लेष पर आधारित उपमालंकार निम्न श्लोकों में है—

२, ४, ११, २५, २६, और ३३

श्लेष—नानार्थ संश्रय श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रित। जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा समानधर्म का निरूपण किया जाता है, वहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा अथवा श्लेषोपमा होती है। जैसे—वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेक रूपा। यहाँ नृपनीति उपमेय और वाराङ्गना (गणिका) उपमान है। इन दोनों के समान धर्म आदि श्लिष्ट पदों द्वारा कहे गये हैं अत. यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा नामक अलकार है।

उपमा के योग्य पदार्थ को **उपमेय** कहते हैं। जिससे उपमा दी जावे उसे **उपमान** कहते हैं। इव, यथा, आदि शब्द **साधारण धर्म** के वाचक होते हैं।

साहित्य दर्पणकार ने उपमा के २७ भेद कथन किये हैं। काव्यादर्शकार दण्डी ने उपमा के ३२ भेद किये हैं। मम्मट के उपमा के २५ भेदों का अन्तर्भाव विश्वनाथकृत भेदों में हो जाता है। दण्डी ने काव्यादर्श में उपमा वोधक अनेक शब्दों का संकलन किया है (देखिये-काव्यादर्श २ परि० ५०—६५ श्लोक)।

इव शब्द उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों का वाचक होता है। इव शब्द लोक-प्रसिद्ध साधर्म्य का जब वोध कराता है तब उपमा वाचक माना जाता है और अप्रसिद्ध अथवा कवि की बुद्धि से कल्पित होकर साधर्म्य का वोध करानेवाला इव शब्द उत्प्रेक्षा का द्योतक होता है। (काव्य प्रकाश की चक्रवर्तीकृत टीका देखिये)।

५. अर्थान्तरन्यास

भवेद् अर्थान्तरन्यासोऽनुक्तपर्यान्तराभिधा।—चन्द्राले

उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्य विशेषयोः।—कुवलयानन्द

सामान्यं वा विशेषोवा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्र सोर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेणवा।—का० प्र०

साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा, सामान्य से विशेष अथवा विशेष से सामान्य का समर्थन जहाँ होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।

मुख्य अर्थ के समर्थन के लिए जहाँ दूसरे वाक्यार्थ की सत्ता हो वहाँ अर्थान्तर न्यास नामक अलंकार होता है। यद्यपि एक वाक्य का दूसरे वाक्य के द्वारा समर्थन काव्य लिङ्ग नामक अलंकार में भी होता है फिर भी काव्य लिङ्ग में सामान्य विशेष आदि कोई भी सम्वन्ध नहीं होता है अतः यह अर्थान्तरन्यास काव्य लिङ्ग से भिन्न है। जहाँ समर्थन योग्य पदार्थ का ही समर्थन होता है वहीं अर्थान्तरन्यास होता है, अन्यत्र काव्यलिङ्ग होता है। दर्पणकार विश्वनाथ ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेद माने हैं। (१) सामान्य से विशेष का समर्थन, (२) विशेष से सामान्य का समर्थन, (३) कारण से कार्य का और (४) कार्य से कारण का समर्थन। ये ४ भेद साधर्म्य और वैधर्म्य के आश्रय से ८ प्रकार के होते हैं।

उदाहरण—श्लोक स०—५, १५, १८, २०, २१, ३०, ३६, ४७, और ५२

अर्थान्तर न्यास का अर्थ है—अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का न्यास करना अर्थात् स्थापन करना। इस अलकार मे एक अर्थ (सामान्य अथवा विशेष) के समर्थन करने के लिए अन्य अर्थ (विशेष अथवा सामान्य) प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य वृत्तान्त का विशेष वृत्तान्त के द्वारा अथवा विशेष वृत्तान्त का सामान्य वृत्तान्त के द्वारा समर्थन किया जाता है। सामान्य तथा विशेष मे बहुधा एक प्रकृत और द्वितीय अप्रकृत होता है। सर्वजन सम्बन्धी बात सामान्य तथा किसी विशेष एक ही व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली बात को विशेष कहा जाता है।

६ ससृष्टि —

'सेष्टा ससृष्टिरेतेषा भेदेन यदिह स्थिति।'—का० प्र०

शब्दालकार तथा अर्थालकारो की यथासम्भव अर्थात् कही केवल शब्दालङ्कारो की, कही केवल अर्थालङ्कारो की अथवा कही दोनो की, जैसे जहाँ बन जाय एक ही शब्द भाग मे अथवा अर्थ भाग मे अथवा दोनो जगह परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थिति है, वह दो या अधिक अलकारों के एकार्थ मे सम्बन्ध ही जिसका स्वरूप है वह ससृष्टि नामक अलकार होता है।

शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार अथवा दोनों प्रकार के दो या दो से अधिक अलङ्कारो की काव्य या वाक्य मे भेद से परस्पर निरपेक्ष रूप से जो स्थिति है उसी को ससृष्टि नामक अलकार कहते हैं।

तिलतण्डुलन्याय से कई प्रकार के अलङ्कारो की एकत्र स्थिति होने को ससृष्टि अलङ्कार कहते हैं।

ससृष्टि शब्द का अर्थ है सङ्ग। एक स्थानप अर्थात् एक ही छन्द (पद्य) मे न्यूनातिन्यून दो अथवा दो से अधिक भी शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार अथवा दोनों ही तिल और चावल की तरह परस्पर अपेक्षा के बिना पृथक्-पृथक् स्व-स्व रूप से एकदम स्पष्ट प्रतीत होते हो वहाँ ससृष्टि नामक अलकार होता है। इसके ३ भेद हैं (१) शब्दालङ्कार ससृष्टि, (२) अर्थालङ्कार ससृष्टि, और (३) उभयालङ्कार ससृष्टि (सर्वत्र परस्पर निरपेक्षता तथा सहावस्थान (एकत्र स्थिति) होना अनिवार्य है) चन्द्रालोककार ससृष्टि और स कर दोनों को पृथक् अलंकार के रूप में स्वीकार ही नही करते।

'शुद्धिरेक प्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ ।
एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी ॥'

शुद्धि, एक प्रधानत्व, संसृष्टि और संकर ये अलंकार पूर्वोक्त अलङ्कारों के ही विन्यास विशेष (रचना प्रकार) से निष्पन्न होने से इनको भिन्न नहीं मानना चाहिये । मम्मट ने संसृष्टि और संकर को पृथक् अलंकार माना है ।

उदाहरण—श्लो० सं० ५—५०

संकर—नीर क्षीर न्याय से अलकारों की एकत्र स्थिति को संकर कहते हैं—

अविश्रान्तिजुपामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।'

दूध और पानी मिलाने पर वह पुनः पृथक नहीं होता इसी प्रकार जहाँ अलङ्कारों की स्थिति हो तो उसे संकर कहते हैं । दर्पणकार विश्वनाथ ने इसके भी ३ भेद कहे हैं—(१) अङ्गाङ्गिभाव सकर, (२) एकवाचकानुप्रवेश संकर और (३) सदेह संकर । कुवलयानन्दकार ने समप्राधान्य सकर और संकरसंकर दर्पणकार से अधिक होना कहा है । सकर मे अलङ्कारों की सापेक्षता होती है ससृष्टि की तरह परस्पर निरपेक्षता नहीं होती । ससृष्टि में एकत्र अलंकार तिलतण्डुल न्याय से सहावस्थित होते हैं किन्तु संकर मे नीरक्षीरन्याय से सम्मिलित होते हैं ।

७. काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ।'—का० प्र०

हेतोर्वाक्य पदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् ।'—सा० द०

स्यात् काव्यलिङ्गं वागर्थो नूतनार्थ समर्थकः ।'—चन्द्रा०

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्—कुवल०

इस अलंकार में जो बात सिद्ध करना सापेक्ष होता है उसकी सिद्धि के लिए उसका कारण वाक्य के अर्थ में अथवा पद के अर्थ में कहा जाता है ।

काव्यलिङ्ग में सामान्य विशेष भाव नहीं होता है । इसके दो भेद हैं ।

उदाहरण—श्लो० सं० ६, ८, २२, २६, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४४, ४७, ४८

८. व्यतिरेक—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमानयोः ।'

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष (आधिक्य) का वर्णन जहाँ होता है वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है ।

उदाहरण—श्लो० स० ६, ४३, ५५

९ विभावना—'विभावना विनापिस्यात्कारण कार्यजन्म चेत् ।

प्रसिद्ध कारण के अभाव म भी कार्योत्पत्ति होने का वर्णन जहाँ होता है वहाँ विभावना नामक अलकार होता है । विभावना मे कारणान्तर की कल्पना होती है । विभावना के अन्तर्गत रूपकातिशयोक्ति अथवा रूपक अवश्य होता है। इनके भेद छ होते हैं ।

उदाहरण—श्लो० स० ६

१० विशेषोक्ति—कार्याजनिविशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे ।'

जहाँ अखण्ड कारण विद्यमान होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न होने क वर्णन हो वहाँ विशेषोक्ति नामक अलकार होता है । विभावना के ठीक विपरीत स्थिति इसमे होती है । इनके तीन भेद हैं ।

उदाहरण—श्लो० स० ६

११ उत्प्रेक्षा—सम्भावनास्यादुत्प्रेक्षा वस्तु हेतु फलात्मना ।'

प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप मे सम्भावना जहाँ की जाने का वर्णन होता है वहाँ उत्प्रेक्षा नामक अलङ्कार होता है । इसमे—उपमेय मे उपमान की सम्भावना की जाती है । उपमेय और उपमान मे भेद होन का ज्ञान रहता है । भेद ज्ञान होत हुए भी उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है । रूपक म अभेद होता है ।

इव, प्राय शके, इत्यादि उत्प्रेक्षा वाचक शब्दो का प्रयोग होता है । उत्प्रेक्षा के मुख्य २ भेद १ वाच्या २ प्रतीयमाना हैं ।

१२ अर्थापत्ति—अर्थापत्ति स्वय सिद्धेत्पदार्थान्तरवर्णनम् ।'—चन्द्रा०

किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य मे दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वय हो जाती है । यहाँ दण्डापूपिका न्याय है ।

'मूषक दण्ड को खा गया' ऐसा कथन करने पर दण्ड से चिपके हुए मालपूओ को मूषक के द्वारा खाया जाना स्वत (अपने आप) सिद्ध होता है । यही दण्डापूपिका का न्याय है । जैसे—किसी के द्वारा कोई कठिन कार्य सम्पन्न किया जा सकता है तो उसके द्वारा सुगम कार्य सिद्ध होना क्या कठिन है ? क्या असम्भव है, ऐसा वर्णन जहाँ होता है वहाँ अर्थापत्ति नामक अलकार होता है ।

अर्थापत्ति और काव्यार्थापत्ति एक ही है।

उदाहरण—श्लो० सं० १३, १६, १७, २३, २८

१३. कारणमाला—गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्त कारणैः।'

—चन्द्रा०

क्रमशः पूर्व पूर्व के पद आगे के पदों के प्रति कारण हों और उत्तर के आगे के पद पूर्व-पूर्व के पदों के प्रति कारण हों ऐसा वर्णन जहाँ काव्य में होता है वहाँ कारणमाला नामक अलंकार होता है।

पूर्व-पूर्व के पद कारण और उत्तर-उत्तर के पद कार्य होने पर कारणमाला प्रथम प्रकार की तथा पूर्व पूर्व के पद कार्य और उत्तर के पद जहाँ कारण हों वहाँ द्वितीय प्रकार की कारणमाला होती है। इस प्रकार कारणमाला दो प्रकार की है।

उदाहरण—श्लो० सं० १४, १७, ४६, ५०

१४. अप्रस्तुत प्रशंसा—'अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा।'

—चन्द्रा०

जहाँ पर अप्रासङ्गिक वर्णन के माध्यम से प्रासङ्गिक बोध ज्ञापन कराया जावे, वहाँ पर अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

इस अलंकार में अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति अभिधाशक्ति से तथा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनाशक्ति से होती है। यहाँ कार्य कारण सामान्य, विशेष तथा सारूप्य सम्बन्ध से अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ का ज्ञापन होता है। प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति यहाँ व्यञ्जना से होने पर भी वह व्यङ्ग्य नहीं है। व्यंग्य वाच्यार्थ का पोषक होकर अपना प्राधान्य विसर्जित कर लेता है। कुवलयानन्दकार ने प्रस्तुताङ्कुर नामक अलंकार भी माना है उनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ यह अलंकार मानना चाहिये किन्तु रसगंगाधर कार पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे अकारण संख्या वृद्धि को रोकने हेतु अस्वीकार कर इसे अप्रस्तुत प्रशंसा के अन्तर्गत ही कहा है। अप्रस्तुत प्रशंसा के ५ भेद हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा का अर्थ—अप्रस्तुत की प्रशंसा। यहाँ प्रशंसा का अर्थ स्तुति न होकर केवल वर्णन ही है। वक्ता को मुख्य रूप से जिसका वर्णन करना इष्ट होता है उसे प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक (जिसका प्रकरणगत सम्बन्ध होता है) कहा जाता है तथा जिसका वर्णन अप्रधान रूप से, अथवा जिसका

प्रारब्ध प्रकरण गत सम्बन्ध नहीं होना उसे, गौण, अप्रस्तुत अथवा अप्रकारणिक कहा जाता है। इसमें प्रस्तुत के वर्णन निमित्त अप्रस्तुत अर्थ का कथन किया जाता है। अर्थात प्रसगगत बात न कहकर अप्रासगिक बात कहकर प्रसङ्गगत बात का ज्ञापन कराया जाता है। अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराने हेतु परस्पर सम्बन्ध होना अपेक्षित होगा, उसके बिना प्रस्तुत अर्थ का ज्ञापन नहीं हो सकेगा। अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान कराने मे तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं—सामान्य विशेष सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध तथा सारूप्य सम्बन्ध, इन्ही सम्बन्धो के आधार पर इसके ३ भेद होते हैं।

अर्थान्तरन्यास मे—सामान्य और विशेष दोनो का शब्द द्वारा सुस्पष्ट कथन होता है। अप्रस्तुत प्रशसा मे केवल इन दोनो मे से एक का ही कथन होता है।

उदाहरण—श्लो० स० १८

१५. परिवृत्ति—परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ ।'

परिवृत्ति शब्द का अर्थ है विनिमय अर्थात् एक वस्तु दूसरे को देकर उससे अन्य वस्तु बदले मे ले लेना, इसे ही परिवर्तन अथवा अदला-बदली कह सकते हैं।

परिवृत्ति के दो प्रकार हैं (१) सम और (२) विषम। अर्थात् विनिमय जहाँ सम रूप से हो अथवा विषम रूप से होता है। इस आधार पर ४ भेद हो सकते हैं।

उदाहरण—श्लो० स० १९

१६ मालोपमा—मालोपमा यदेकस्योपमान बहुदृश्यते।'

आचार्य रुद्रट ने मम्मटप्रोक्त उपमालकारो के अतिरिक्त दो भेद उपमा के और माने हैं १ मालोपमा २ रशनोपमा। आचार्य मम्मट इन दोनो भेदो को स्वकृत उपमा भेदो के अन्तर्गत ही मानते हैं, पृथक् नही।

जहाँ एक उपमेय की अनेक उपमा दी जाती है वहाँ मालोपमा नामक अलकार होता है। इसके दो भेद होते हैं १. निरवयवा और सावयवा।

उदाहरण—श्लो० स० २३

१७ दीपक—प्रस्तुताप्रस्तुताना च तुल्यत्वे दीपक मतम्।

जहाँ पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों का क्रिया अथवा गुण से साम्य कहा

जाता है वहाँ पर दीपक[1] नामक अलंकार होता है। दीपक गृहस्थ पदार्थों के अतिरिक्त वाह्य पदार्थों को भी समान रूप से ही प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह अलंकार वहाँ जानिये जहाँ अप्रकृत (अप्रस्तुत) अर्थ को भी प्रकाशित करता है। इसी आधार पर इसकी दीपक संज्ञा काव्य शास्त्र में है। 'संज्ञायां कन्' इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ कन् प्रत्यय हुआ। तुल्ययोगिता नामक अलंकार में अनेक प्रस्तुतों का या अनेक अप्रस्तुतों का समान क्रिया से सम्बन्ध रहता है। किन्तु दीपक अलंकार में एक प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत का क्रिया साम्य बताया जाता है। तुल्ययोगिता और दीपक दोनों अलंकार सर्वथा भिन्न हैं।

उदाहरण—श्लोक सं० २७.

१८. एकावली—गृहीतमुक्तरीत्यार्थ श्रेणिरेकावलिर्मता।'

एकावली अलंकार में पूर्व कथित पदार्थ के साथ उत्तर कथित पदार्थ को स्थापित किया जाता है।

पूर्व-पूर्व में कथित वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर कही गई वस्तु विशेषण भाव से स्थापित अथवा निषिद्ध करने का जहाँ वर्णन होता है वहाँ एकावली नामक अलंकार होता है।

कारणमाला और एकावली में अन्तर यह है कि—

कारणमाला में—कार्यकारण का सम्बन्ध होता है और एकावली में—विशेष्य-विशेषण का सम्बन्ध होता है। दोनों में शृंखला विधान का साम्य अवश्य है किन्तु सम्बन्ध में अन्तर होता है।

उदाहरण—श्लो० सं०—३२

१९. विरोध—(विरोधाभास)

आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते.।

प्राचीन ग्रन्थों में विरोध और विरोधाभास अभिन्न है।

---

१. वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
प्रस्तुतानाम् अप्रस्तुतानाम् एक धर्मान्वयो दीपकम्। रथ्याप्रासाद योर्युगपत्प्रकाशदीपसादृश्या दस्य दीपक संज्ञा।

श्लेषादि के कारण जहाँ विरोध की प्रतीति होती हो वहाँ विरोधाभास नामक अलंकार होता है। श्रवण मात्र से जहाँ विरोध की अनुभूति होती हो तथा विचारोत्तर वह विरोध न रहे तो यह अलंकार होता है।

उदाहरण—श्लो० सं० ३४

२० वाच्योत्प्रेक्षा

सम्भावनास्यादुत्प्रेक्षा वस्तु हेतु फलात्मना।
उक्तानुक्तास्पदाद्यत्र सिद्धासिद्धास्पदे परे॥

अन्य धर्म सम्बन्धनिमित्तेन अन्यस्य अन्यतादात्म्यसम्पादनम् उत्प्रेक्षा। सा वस्तु-हेतु-फलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा। उत्प्रेक्षा नामक अलंकार में भेद ज्ञात रहने पर भी उपमेय और उपमान को पृथक समझते हुए उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है (सभावनात्मक आहार्य आरोप)। 'मन्ये मुख चन्द्र' 'मुख मानो चन्द्रमा है' इस वाक्य मे मुख और चन्द्र को भिन्न मानता हुआ भी मुख को चन्द्रमा मानता है। मन्ये, शके, ध्रुव, प्राय नूनम् आदि उत्प्रेक्षा वाचक-शब्दो का प्रयोग जहाँ होता है वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा नामक अलकार होता है। जहाँ उत्प्रेक्षावाचक उपर्युक्त शब्दो का प्रयोग नहीं होता वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। किन्तु जहाँ सादृश्य का अभाव होता है अर्थात् उपमेय उपमान भाव के अभाव मे केवल सम्भावना वाचक शब्द मात्र होते हैं वहां उत्प्रेक्षा अलकार नही होता। उत्प्रेक्षा के मुख्य रूप मे दो भेद होते हैं शेष भेद इन्ही दो भेदो के अवान्तर भेद हैं।

उदाहरण—श्लो० सं० ४५।

२१ प्रतिवस्तूपमा—वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।'

उपमेय और उपमान के अलग-अलग दो वाक्यो मे एक ही समान-धर्म शब्द भेद द्वारा जहाँ किया जाने का वर्णन होता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा नामक अलकार होता है। संक्षेपत प्रत्येक वाक्यार्थ के प्रति उपमा होती है अर्थात् समान धर्म का कथन होता है। उपमेय तथा उपमान के दो वाक्यो मे एक ही समान-धर्म भिन्न भिन्न शब्द द्वारा जहाँ कथन किये जाने का वर्णन होता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा नामक अलकार होता है।

उपमा अलकार मे—साधारण धर्म का कथन एक बार ही होता है। शब्द भेद से दो बार नहीं होता। उपमावाचक शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु प्रतिवस्तूपमा मे—उपमा वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

दृष्टान्त—में भी यद्यपि उपमा वाचक शब्द का प्रयोग नही होता है किंतु उपमेय, उपमान और समान धर्म तीनों का विम्ब प्रतिविम्ब भाव होता है।

प्रतिवस्तूपमा नामक अलकार में एक ही समान धर्म शब्द भेद द्वारा प्रतिपादित किया जाता है।

उदाहरण—श्लोक सं० ५१।

२२. निदर्शना—वाक्यार्थयोः सदृशयो रैक्यारोपो निदर्शना।'

निदर्शना नामक इस अलङ्कार में दृष्टान्त रूप से अपने कार्य को उपमा दिखाई जाती है। यह तीन प्रकार की है। इन्हीं के कुछ अवान्तर भेद होते हैं। विभिन्न दो वाक्यों में सादृश्य के आधार पर एकता के आरोप को **निदर्शना** कहा जाता है। सदर्था और असदर्था ये दो भेद भी इसी के हैं।

उदाहरण—श्लोक सं० ५६।

२३. श्रौती उपमा—उपमेय, उपमान, उपमेय और उपमान में रहने वाला साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द, ये चारों विद्यमान होने पर पूर्णोपमा कहलाती है। दर्पणकार विश्वनाथ ने उपमा के २७ भेद परिगणित किये हैं, मम्मट के २५ भेद इन्हीं भेदों में अन्तर्भूत हैं।

श्रौती और **आर्थी** ये पूर्णोपमा के ही भेद हैं।

पूर्णोपमा श्रौत्यार्थी भेदेन द्विधा।' (मता०)।

उपमा वाचक शब्दों में—यथा इव, वा आदि शब्दों और तुल्य, सदृश, आदि शब्दों के अर्थ वोधन में कुछ अन्तर है। यथा इववा आदि शब्द उपमान के विशेषण होते हैं और श्रवण समकाल ही साधारण धर्म के सम्बन्धस्वरूप सादृश्यता का अववोधन करा देते हैं अतः इनके प्रयोग में **श्रौती** नामक उपमा कहाती है। तुल्य, सदृश, आदि अन्य प्रकार के उपमा वाचक शब्द कभी उपमान के साथ, कभी उपमेय के साथ, और कभी-कभी दोनों के साथ जुड़े हुए होते हैं, अतः उनमें विचारोत्तर साधारण धर्म का ज्ञान होता है, अतः उनके प्रयोग में **आर्थी** उपमा कहाती है।

वाक्यगत तथा समासगत श्रौती और आर्थी उपमा का भेद यथा, इव वा आदि और तुल्य, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग के कारण ही होता है।

'शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव पष्ठीवत् सम्वन्ध प्रतिपादयन्ति तत्सद्भावे **श्रौती** उपमा।'—का० प्र०

उदाहरण— श्लोक सं० ६, २५

२४ हेतूत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा का अवान्तर भेद है।

उत्प्रेक्षा और वाच्योत्प्रेक्षा क्रमश ११ और २० क्रमाङ्क मे उल्लिखित है, ध्यानपूर्वक प्रथम उन्हें पढ़िये।

जहाँ पर निषेध के बिना ही कारण (हेतु) फल और वस्तु इन तीनो मे अत्यधिक सन्देह किया जाने का वर्णन होता है वहाँ उत्प्रेक्षालकार होता है।

'उत्प्रेक्ष्यानीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नुतिं विना।'—चन्द्रा०

इव, यथा, वा आदि शब्दो म से किसी एक की भी उपस्थिति म अगूढ (वाच्या) उत्प्रेक्षा तथा इव, यथा आदि शब्दो की अनुपस्थिति मे गूढा (प्रतीयमाना) उत्प्रेक्षा कहलाती है। कारण (हेतु), फल, तथा वस्तु के आश्रय उक्त दोनो प्रकार की उत्प्रेक्षा होती है। इस प्रकार इसके छ. भेद होते हैं। हेतूत्प्रेक्षा म हेतु की सापेक्षता होती है।

इव शब्द उपमा और उत्प्रेक्षा दोनो का वाचक है। लोक मे अप्रसिद्ध और कवि क्लृप्त साधर्म्य का बोधक होने पर यह उत्प्रेक्षा वाचक होता है अन्यथा उपमा वाचक होता है। चन्द्रालोक कार ने इसका बडा ही सरल सुबोध उदाहरण दिया है।

'त्वन्मुखश्रीकृते नून पद्मैर्वैरायते शशी।'

चन्द्र और पद्म का वैर स्वाभाविक होते हुए भी उस वैर को कामिनीमुख की शोभा प्राप्ति रूपी हेतु के लिए कथन करने के कारण हेतूत्प्रेक्षा यहाँ है।

हेतूत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं—सिद्ध विषया और असिद्ध विषया।

उदाहरण—श्लोक सं० १०

दृष्टान्त—

'चेद् बिम्ब प्रतिबिम्बित्व दृष्टान्तस्तदलकृति।'

एक वाक्य के समान दूसरा वाक्य होने पर दृष्टान्त नामक अलकार होता है। इसमे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होना मुख्य है। आपस मे अत्यन्त भिन्न होने पर भी सादृश्यवशात् अभिन्न जैसे प्रतीयमान होने वाले उपमान और उपमेय के साधारण धर्मों के अलग-अलग प्रयोग को ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव कहा जाता है। इसमे साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न पदो मे प्रयोग नही होता। इव आदि शब्दो का अभाव होने से उपमा यहाँ नहीं होगी। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने से प्रति-

वस्तूपमा भी यहाँ नहीं होगी। सामान्य-विशेष भाव का अभाव होने से यहाँ अर्थान्तरन्यास भी नहीं होगा। निदर्शना में साधारण धर्म का अभाव होता है तथा दोनों वाक्यार्थ परस्पर सम्बद्ध रहते हैं अतएव यहाँ निदर्शना की भी संप्राप्ति नहीं होगी। **दर्पणकार विश्वनाथ** के अनुसार 'विम्ववत् प्रतिविम्वो दृश्यते तथैव एक वाक्यवद अपर वाक्यं यत्र तत् तदा दृष्टान्तालङ्कारोभवति।' दृष्टान्तोनिश्चयः यस्मिन् स दृष्टान्तः। 'उपमानोपमयनिष्ठ वाक्य धर्मयोर्विम्व-प्रतिविम्वभावत्वंदृष्टान्तत्वम्।'

उपमेय उपमान तथा साधारण धर्म का जहाँ विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होने का वर्णन होता है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। इसमें दृष्टान्त दिखाकर किसी कथन की हुई बात का निश्चय कराया जाता है।

उदाहरण—श्लोक सं० ५१

३ द्वितीय सर्गस्थ किरातार्जुनीयम् श्लोकाना अकारादि वर्ण क्रमेणानुक्रमणी

परीक्षा में पूछे गये श्लोक

श्लोक क्रमाङ्क—	सन्
१, ३, ११, १५	१९४५, १९४७
४, २६, २३, ३०	१९३३, १९३४
६, २७, २०, २१	१९३१, १९४५
११, ३१, २४, ४८	१९३२, १९४६
१४, ३६, २८, ३१	१९४३, १९४७
१८, ५०, ५७, ५८	१९३४, १९३७

सूक्तियाँ

श्लोक संख्या— ४, १५, २१, ३०, ३१, ३६, ४३, ५२,
२६, १८, ५, ३०, ५२, २१, १६, ३६

आलोचनात्मक प्रश्न

१. भारवि का समय,
२. भीमसेन के भाषण का सारांश,
३. युधिष्ठिर के भाषण का सारांश,
४. किरातार्जुनीयम् किस श्रेणी का काव्य है ?
५. इस के नाम की व्युत्पत्ति क्या है ?
६. इस काव्य का प्रधान नायक कौन है ?
७. नायक के विषय में मल्लिनाथ का क्या मत है ?
८. भारवि की प्रसिद्धि किसके लिये है ?
९. 'किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के लक्षणानुसार खरा उतरा है' इस कथन

की पुष्टि करने के लिये महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर लघु निबन्ध लिखो।

१० संस्कृत कवि परम्परा में भारवि का स्थान, उसकी कृति के आधार पर उसका मूल्यांकन,

११ काव्यगत उत्कृष्टता, (उद्धरण सहित)।

१२ भारवि की काव्यगत शैली की समीक्षा।

१३ युधिष्ठिर और भीमसेन का चरित्र-चित्रण। (भाषण के कुछ अंश उधृत करते हुए)

१४ महाकाव्य किरातार्जुनीयम के नाम की व्युत्पत्ति।